संस्कृत-साहित्य-शास्त्र
में
वक्रोक्ति-सम्प्रदाय का उद्भव और विकास

(THE ORIGIN AND DEVELOPMENT
OF THE VAKROKTI-SCHOOL IN SANSKRIT POETICS)

•

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी॰ फिल्॰ की उपाधि के लिए प्रस्तुत
शोध – प्रबन्ध

•

लेखक
राधेश्याम मिश्र, एम॰ ए॰

•

निर्देशक
डा॰ आद्याप्रसाद मिश्र

•

संस्कृत – विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
१९६६

प्राक्कथन

बी.ए. परीक्षा उत्तीर्ण करने के अनन्तर अपनी अभिरुचि एवं शुभाकांक्षी मित्रों की राय से संस्कृत विषय से एम.ए. करने का निश्चय किया । एम.ए. प्रथम वर्ष में साहित्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' के अध्ययन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उसके प्रथम परिच्छेद का अध्ययन करते समय आचार्य मम्मट, कुन्तक एवं आनन्दवर्धन के अभिमतों की विश्वनाथकृत आलोचनाओं का प्रत्याख्यान करते समय गुरुमुख से यह विदित हुआ कि 'कुन्तक के विषय में विश्वनाथ द्वारा की गई आलोचना नितान्त भ्रमपूर्ण है लगता है कि उन्होंने बिना 'वक्रोक्तिजीवित' को देखे ही आलोचना कर दी है ।' तभी से हृदय में 'काव्यप्रकाश' 'ध्वन्यालोक' और 'वक्रोक्तिजीवित' के अध्ययन की उत्कण्ठा जागरित हुई। सौभाग्य से सम्पूर्ण 'काव्यप्रकाश' और 'लोचन' सहित 'ध्वन्यालोक' प्रथम उद्योत को तो गुरुमुख से पढ़ने का सुअवसर एम.ए. द्वितीय वर्ष में प्राप्त हो गया, किन्तु 'वक्रोक्तिजीवित' के अध्ययन का सौभाग्य एम.ए. तक नहीं प्राप्त हो सका। एम.ए. उत्तीर्ण करने के अनन्तर शोधकार्य की इच्छा हुई। अपने विभिन्न गुरुजनों से इस विषय में परामर्श किया। श्रद्धेय गुरुवर डा० लाल रमायदुपाल सिंह जी ने शोधकार्य के लिए अनेक विषयों का सुझाव दिया किन्तु साहित्य शास्त्र के विषय में मेरी अधिक अभिरुचि को देखकर उन्होंने 'संस्कृत साहित्यशास्त्र में वक्रोक्ति सम्प्रदाय का उद्भव और विकास' विषय पर शोध कार्य करने का निर्देश दिया। सर्वप्रथम उन्होंने मुझे 'वक्रोक्तिजीवित' के ही अध्ययन के लिए प्रेरणा दी। इतना तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों की लेखनशैली में 'वक्रोक्तिजीवित' अपना सानी नहीं रखता। यह संस्कृत साहित्य का दुर्भाग्य है कि यह ग्रन्थ आज तक सम्पूर्ण रूप में समुचित ढंग से मुद्रित नहीं हो सका। मुझे अध्ययन के लिए इसके दो संस्करण प्राप्त हुए— एक तो डा० सुशीलकुमार डे द्वारा सम्पादित 'वक्रोक्तिजीवित' का तृतीय संस्करण, जिसमें उन्होंने प्रथम दो उन्मेषों को तथा तृतीय उन्मेष के कुछ प्रारम्भिक अंश को ही सम्पादित कर आगे की पाण्डुलिपि के अत्यन्त भ्रष्ट होने के कारण अवशिष्ट तृतीय एवं चतुर्थ उन्मेषों का केवल सारांश (Resume) ही सम्पादित किया है । और दूसरा डा० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित आचार्य विश्वेश्वरकृत हिन्दी व्याख्यासहित 'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित'। द्वितीय ग्रन्थ में आचार्य जी की 'सिद्धान्तशिरोमणि [illegible]' के साथ

उसे समझना डा0 डे द्वारा सम्पादित मूलमात्र की अपेक्षा भी कठिन सिद्ध हुआ। उसके विभिन्न स्थलो के सम्पादन एवं हिन्दी व्याख्या को देखकर गुरुजी ने आदेश दिया कि मै डा0 डे द्वारा सम्पादित मूलग्रन्थ ही पढ़ूँ और साथ ही उसका हिन्दी रूपान्तर भी करता जाऊँ। गुरुजी के आदेश का मैने पूर्णतः पालन किया और लगभग छः महीने मे उस ग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तर मैने कर लिया। क्लिष्ट स्थलो का रूपान्तर करने मे गुरुजी से पर्याप्त साहाय्य प्राप्त हुआ। वर्ष भर बाद उसके प्रकाशन का कार्यभार 'चौखम्बा संस्कृत सीरीज़' ने ग्रहण कर मुझे अनुगृहीत किया। आज तक उस ग्रन्थ का लगभग तीन चौथाई भाग मुद्रित हो चुका है। आशा है अत्यन्त अल्पकाल मे ही वह कृति सहृदय-सुधीसमाज के समक्ष आ जायगी।

'वक्रोक्तिजीवित' का अध्ययन करने पर कुन्तक के परवर्ती आचार्यो एवं आधुनिक समालोचको द्वारा कुन्तक, उनके ग्रन्थ एवं उनके सिद्धान्त की उपेक्षा को देखकर अन्तरात्मा अत्यन्त व्याकुल हो उठी। कितना बड़ा अन्याय इन आचार्यो एवं विद्वानो ने कुन्तक के साथ किया है ? क्या इसका एकमात्र कारण कुन्तक को दावादन्धी सम्प्रदाय न मिलने के अतिरिक्त कुछ और था ? किसी ने वक्रोक्ति को साधारण अलंकारमात्र कह कर उनके सिद्धान्त की उपेक्षा की तो किसी ने ध्वनिवादियो से अपना पक्षपाती भाव दिखाने के लिए कुन्तक को ध्वनिविरोधी अभिधावादी या लक्षणावादी कह कर उनका तिरस्कार किया। इन सब का एकमात्र कारण उन सहृदय महानुभावो की भ्रान्ति अथवा पक्षपात के सिवा और कुछ नही प्रतीत होता। इन विद्वानो की भ्रान्तियो को दूर करने के लिए ही मेरा यह स्वल्प एवं कठिन प्रयास है। यह शोधप्रबन्ध इसी आशा से प्रस्तुत किया गया है कि कम से कम आधुनिक सहृदयसमालोचक तो कि लकीर के फकीर बन कर आचार्य कुन्तक उनके ग्रन्थ एवं उनके सिद्धान्त की पिटे पिटाये ढंग पर, बिना तन्मयतापूर्वक विचार किए, उपेक्षा कर बैठते है, वैसा न करे। मुझे यह पूर्ण आशा है यदि सहृदयसमालोचक निष्पक्ष भाव से किसी पूर्वाग्रह से ग्रसित न होकर कुन्तक के ग्रन्थ पर विचार करेगे तो निश्चय ही उन्हे हमारे कथन की सत्यता पर विश्वास हो जायगा।

जहाँ तक मेरे शोधकार्य काल की परिस्थितियो का सम्बन्ध है, उस पर भी संक्षेप मे प्रकाश डालना अनुचित न होगा। मैने उपर्युक्त विषय पर नियमित रूप से शोधकार्य 1, सितम्बर 1962 ई0 को पूज्य गुरुवर डा0 [illegible] सिंह जी के पथप्रदर्शन मे

प्रारम्भ किया। प्रारम्भ के लगभग डेढ़ वर्ष तक मुझे कोई भी छात्र वृत्ति आदि न मिल सकी, फलतः आर्थिक कठिनाइयाँ समुपस्थित रहीं और इसी लिए इलाहाबाद नगर के ही पुस्तकालयो के अतिरिक्त न तो मै कही किसी बाह्य पुस्तकालय का साहाय्य प्राप्त कर सका और न कही बाहर पाण्डुलिपियो का अध्ययन करने ही जा सका अतः मेरा अध्ययन प्रयागस्थ पुस्तकालयो की पुस्तको पर तथा पूज्य डा० सिंह से प्राप्त पुस्तको पर ही आधारित है। अपने शोधप्रबन्ध मे जहाँ कहीं भी पाण्डुलिपि की अत्यन्त भ्रष्टता के कारण कुन्तक के मन्तव्यो का सम्यक् विवेचन नहीं कर पाया उन स्थलो का ध्यान आने पर कलेजे मे एक हूक-सी उठती है– पर क्या करूँ ? लाचारी है। खैर, शोधकार्यकाल के द्वितीय वर्ष की समाप्ति के लगभग मुझे 115 रुपये मासिक की 'राष्ट्रीयऋणछात्रवृत्ति' प्राप्त हुई। उधर चौखम्बा ने भी 'वक्रोक्तिजीवित' के प्रकाशन का भार ग्रहण कर 300) अग्रिम धनराशि के रूप मे प्रदान किया। किन्तु कुछ ऐसी विषम परिस्थितियाँ आईं कि शोधकार्य से विमुख होकर 'चौखम्बा' से अनुबन्ध कर 'भामिनीविलास' का हिन्दी रूपान्तर और उसकी व्याख्या का कार्य प्रारम्भ करना पड़ा। पाँच महीने बाद उसे 'चौखम्बा संस्कृत सीरीज़' को प्रकाशनार्थ देकर प्रकाशक महोदय से 400) अग्रिम धनराशि के रूप मे प्राप्त किया। उसी समय तृतीय वर्ष के लिए 'राष्ट्रीय ऋण-छात्रवृत्ति' की पुनः प्राप्ति की सूचना मिली। आशा का दीपक जो कि बिल्कुल बुझने ही वाला था, उसे कुछ स्नेह प्राप्त होता दिखाई पड़ने लगा। फलतः मैने पुनः नये उत्साह से कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। इसी समय कुछ विशिष्ट परिस्थितियो के कारण विभागाध्यक्ष पूज्य पं० सरस्वतीप्रसाद जी चतुर्वेदी ने मुझे परम श्रद्धेय गुरुवर डा० आद्याप्रसाद जी मिश्र के पथ-प्रदर्शन मे कार्य करने का आदेश दिया। यह सम्पूर्ण प्रबन्ध उन्ही के पथप्रदर्शन मे सम्पन्न हुआ। पूज्य गुरुदेव जी की जो कृपा मुझ पर रही उसे शब्दो द्वारा व्यक्त कर सकना असम्भव है। उन्होंने अपने बहुमूल्य समय स्वास्थ्य और व्यक्तिगत कार्यों की कोई परवाह न कर मेरे शोधप्रबन्ध को सुनने और संदिग्ध विषयो पर वादविवाद करने का प्रायः दो से चार घण्टे तक का इकट्ठा समय प्रदान कर जो अनुग्रह दिखाया है क्या उससे कभी किसी भी जन्म मे [illegible] मै उऋण हो सकता हूँ ? यहाँ तक कि अवकाश के समय मे भी, जब कि वे लगातार ज्वर, [illegible] एवं [illegible] से व्याकुल रहा करते थे निरन्तर मुझे देर तो [illegible]

समय अपना शोधप्रबन्ध सुनाने के लिए देते रहे, साथ ही विषम परिस्थितियों में उनका डटकर मुकाबला करने की शक्ति भी प्रदान करते रहे। उनके इस परमोपकार के हम जन्मजन्मान्तर तक ऋणी रहेंगे। यह मेरा समग्र प्रबन्ध उन्हीं के अनुग्रह का फलस्वरूप है। किन्तु भावी की प्रबलतावश, जो मैंने परीक्षा हेतु प्रबन्ध को मकरसंक्रान्ति के अवसर पर 14 जनवरी 1966 ई0 को प्रस्तुत करने का निश्चय किया था वह न कर सका, क्योंकि जब मेरा समग्र शोध-प्रबन्ध सम्पूर्ण ही हो रहा था, केवल अन्तिम अध्याय लिखना शेष था कि 1, दिसम्बर 1965ई0 को मुझे मध्यप्रदेश सरकार की ओर से कांकेर में संस्कृत प्रवक्ता के पद पर नियुक्ति का पत्र प्राप्त हुआ। आर्थिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए मुझे वहाँ जाना पड़ा जिसके कारण इस प्रबन्ध को प्रस्तुत करने में 5महीने की और भी बाधा आ गयी। भगवत्कृपा एवं गुरुजनों की अनुकम्पा से आज इसे मैं प्रस्तुत कर रहा हूँ।

इस शोधप्रबन्ध को प्रस्तुत करने में जिन विद्वानों के ग्रन्थों से अथवा लेखों से मुझे साहाय्य प्राप्त हुआ है, उन सब के प्रति मैं हृदय से परम आभारी हूँ। साथ ही जिन मान्य विद्वानों की मैंने विभिन्न स्थलों पर समालोचना प्रस्तुत की है, आशा है कि वे सहृदय विद्वान् मेरी इस धृष्टता के लिए यह सोच कर क्षमा कर देंगे कि किसी भी विषय पर यह नये दृष्टिकोण से सोचने का मेरा प्रयास है। हो सकता है कि मेरा दृष्टिकोण कहीं भ्रमपूर्ण हो, उसके विषय में सहृदय समालोचकों से निवेदन है कि उस ओर निर्देश कर मुझे अनुगृहीत करेंगे। इसके अतिरिक्त अपने उन कृपालु मित्रों के प्रति भी बिना आभार प्रकट किए नहीं रह सकता जिन्होंने कि समय समय पर मुझे प्रोत्साहित किया है और यथाशक्ति साहाय्य प्रदान किया है। उनमें प्रमुख हैं श्री आनन्दमाधवशरण जी द्विवेदी, श्री कृपाशिवप्रसाद जी मिश्र और श्री बद्रीप्रसाद पाण्डेय। मैं श्री रामलखन जी द्विवेदी के प्रति भी हृदय से अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने कि मात्र 'टाइपराइटर' पर अपने धन और समय की चिन्ता न कर मेरे इस सम्पूर्ण प्रबन्ध को टाइप करने का कष्ट उठाया है।

अस्तु, इस शोध-प्रबन्ध से यदि संस्कृतसाहित्य एवं संस्कृतसाहित्यप्रेमी विद्वानों को कुछ भी लाभ हो सका तो मैं अपना प्रयास सफल समझूँगा।

*

402, मालवीयनगर,
इलाहाबाद
1966ई0

([illegible] मिश्र)

विषय सूची

प्रथम अध्याय : पृ0सं0

चतुर्थ अध्याय :

पंचम अध्याय :

सप्तम अध्यायः

***

प्रथम अध्याय

कुन्तक के पूर्ववर्ती आचार्य और वक्रोक्ति सिद्धान्त

अवतरणिका

संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में काव्यस्वरूप की व्याख्या प्रस्तुत करने वाले अनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं — रससिद्धान्त, अलंकारसिद्धान्त, रीतिसिद्धान्त, वक्रोक्तिसिद्धान्त तथा औचित्य सिद्धान्त आदि । इन्हीं सिद्धान्तों का पृथक् पृथक् प्राधान्येन विवेचन करने वाले आचार्यों को, एक सिद्धान्त विशेष से सम्बन्धित कर, विशिष्ट सम्प्रदाय का अनुयायी कह दिया गया है । अतः काव्य के ये विभिन्न सिद्धान्त ही विभिन्न सम्प्रदाय कहलाने लगे। ग्रन्थकारों की परिपाटी है कि प्रायः अपने लक्षणग्रन्थों का निर्माण लक्ष्यग्रन्थों को ध्यान में रख कर करते हैं और यही कारण है कि एक ही लक्ष्य ग्रन्थ की विविध लक्षणग्रन्थों में की गई विविध व्याख्यायें प्राप्त होती हैं। साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भी यही सत्य निहित है । अनेकों आचार्यों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से लक्ष्य ग्रन्थों का अवलोकन कर विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। अतः इन सभी सिद्धान्तों के मूल प्रेरणास्रोतों का प्राचीन लक्ष्यग्रन्थों में होना सुनिश्चित है। जैसे जहाँ तक वक्रोक्ति सिद्धान्त का प्रश्न है रामायण आदि में कुन्तक की वक्रताओं का तो बाहुल्य है ही किन्तु उनमें कुन्तक की वक्रताओं को न देखकर पहले वक्रोक्ति के सामान्य स्वरूप को देखना ही समीचीन है । वक्रोक्ति का सामान्य अर्थ है टेढ़ा कथन । अर्थात् किसी बात को सीधे ढंग से न कह कर घुमा फिरा कर कहना ही वक्रोक्ति है परन्तु इसका आशय यह नहीं कि धूर्तों के कथन भी काव्य में वक्रोक्ति कहलाने लगेंगे। काव्य में वे ही कथन वक्र स्वीकार किये जायेंगे जो मनोहारी होंगे। साथ ही कवि के कौशल को व्यक्त करने वाले होंगे। जैसे रामायण आदि में विविध अलंकारों की छटायें प्रस्तुत की गयी हैं तथापि साम्राज्य वहाँ स्वभावोक्ति का ही है । किन्तु कहीं कहीं वक्र कथन भी देखे जा सकते हैं । उदाहरणार्थ बालि की हत्या के अनन्तर राज्य प्राप्त कर सुग्रीव जब राम को दिए गए वचन को भूल जाते हैं तो लक्ष्मण क्रुद्ध होकर उनसे कहते हैं —

> " न स संकुचितः पन्था येन बाली हतो गतः ।
> समये तिष्ठ सुग्रीव मा बालिपथमन्वगाः ।।"[1]

1- रामायण, कि.का. 34/18

यहाँ लक्ष्मण सीधे यह न कह कर कि प्रतिज्ञा भंग होने पर तुम्हें भी मार डालूँगा वक्र ढंग से कहते है कि अभी वह रास्ता संकीर्ण नहीं हो गया । जिससे कि मारा गया बालि गया है । इसी प्रकार वक्रोक्ति की रमणीय छटा लक्ष्मण के शूर्पणखा के साथ उस वार्तालाप मे देखी जा सकती है जिसमे कि वे परिहास-पूर्वक सीता की निन्दा और शूर्पणखा की प्रशंसा करते है । शूर्पणखा को राम के पास भेजते हुए वे सीता के विषय मे कहते है—

'एनां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम् ।
भार्यां वृद्धां परित्यज्य त्वामेवैष भजिष्यति ।।
को हि रूपमिदं श्रेष्ठं सन्त्यज्य वरवर्णिनि ।
मानुषीषु वरारोहे कुर्याद् भावं विचक्षणः[1] ।।'

यह वक्रोक्ति परम्परा कोई नवीन नहीं है । कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे भी इस ओर संकेत प्राप्त होता है ।कौटिल्य ने जिसे 'स्तुतिनिन्दा, या 'प्रतिलोमस्तव' कहा है उसमे स्पष्ट ही वक्रोक्ति का प्रतिपादन है । किसी काने को सुन्दर आँखो वाला कहना अथवा अपना अहित या अनुचित कार्य करने वाले की प्रशंसा करना वक्रोक्ति नहीं तो और क्या है । कौटिल्य का दण्डविधान है —

'शोभनाक्षिमन्तः इति काणखञ्जादीनां स्तुतिनिन्दायां द्वादश पणो[2] दण्डः ।'

इसी तरह राजा किसी के ऊपर अप्रसन्न है इस बात का पता उसे राजा के 'प्रतिलोमस्तव' से लगा लेना चाहिए[3]। यहाँ तक कि अलंकार संग्रह मे तो 'वक्रोक्ति'अलंकारविशेष का यही लक्षण दिया गया है —

'कोपात् प्रियवद्युक्तिर्या वक्रोक्तिः कथ्यते यथा।'[4]

कवि अमरुक और बाणभट्ट आदि ने अपने काव्यो मे वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग भी लगभग इसी अर्थ मे किया है । भास के रूपको मे भी वक्रोक्ति के सुन्दर उदाहरण उपलब्ध होते है ।'अविमारक' मे विदूषक जब चेटी से कहता है—

'अत्थि राआ अण्णो णाम भट्टारओ ।तस्सिं पंच सुत्तो आ अवम्मुण्णो संवच्छरे मए पढिदा'तो चेटी वक्र ढंग से कहती है 'जाणामि जाणामि अय्यस्स कुलोहदो दीसदि वेआलिअणो[5]।' इसी प्रकार अविमारक विदूषक से सीधे यह न पूछ कर कि आप का जन्म किस कुल मे

1- रामायण,अरण्य का० 18/11-12
2- अर्थशास्त्र,3/18/4
3- द्रष्टव्य,वही 5/5/45
4- अलंकारसंग्रह,पृ057
5- अविमारक, पृ० 16

हुआ है, वक्र ढंग से पूछता है-- 'भो: कतर कुलान्वयो भवता अलंक्रियते: ?'[1] इस प्रकार यद्यपि प्राचीन काव्यों और नाटकों में वक्रोक्ति के उदाहरण तो प्राप्त होते हैं किन्तु वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम बाणभट्ट की कादम्बरी में ही प्राप्त होता है । उसका प्रतिपादन म.म.काणे आदि ने कर दिया है[2] । अतः यहाँ पिष्टपेषण करना उचित नहीं ।

नाट्यशास्त्र एवं वक्रोक्ति —

जहाँ तक साहित्य शास्त्रीय ग्रन्थों में वक्रोक्ति के विवेचन का सम्बन्ध है उसका सर्वप्रथम स्पष्ट उल्लेख भामह के 'काव्यालंकार' में ही प्राप्त होता है । उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर भामह से प्राचीन ग्रन्थ भरत का 'नाट्य- शास्त्र' है । 'नाट्यशास्त्र' में भरत ने मुख्यतः नाट्यस्वरूप का विवेचन किया है । वाचिकाभिनय के प्रसंग में उन्होंने काव्य के लक्षणों , गुणों, दोषों एवं अलंकारों की चर्चा की है। किन्तु वक्रोक्ति का कोई स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं किया। आचार्य अभिनव गुप्त ने भरत के लक्षणों का ऐकरूप्य वक्रोक्ति के साथ स्थापित किया है, किन्तु वह सर्वथा उन्हीं की उद्भावना है अतः उसका विवेचन अभिनव का वक्रोक्तिसिद्धान्त से सम्बन्ध बताते हुए किया जायगा। यद्यपि भरत के नाट्यशास्त्र में जो द्विविध धर्मियों की कल्पना की गई है उनमें से नाट्यधर्मी में वक्रोक्ति का स्वरूप अवश्य देखा जा सकता है । क्यों कि नाट्यधर्मी और वक्रोक्ति दोनों में ही लोकोत्तीर्णता निहित है। लोकधर्मी लोक वार्ता क्रियो पेत होता है जब कि नाट्यधर्मी अतिवाक्य क्रियोपेत होता है।[3] यह अतिवाक्य क्रियो पेतता भी वक्रोक्ति है। इसी प्रकार अद्भुत रस के विभाव के रूप में जब वे अतिशयार्थ युक्त वाक्य को प्रस्तुत करते हैं तो उसमें भी वक्रोक्ति का सद्भाव स्वीकार किया जा सकता है। वे कहते हैं —

> "यत्त्वतिशयार्थ युक्तं वाक्यं शिल्पं च कर्मरूपं वा ।
> तत्सर्वमद्भुतरसे विभावरूपं हि विज्ञेयम् ।।"[4]

ऐसे ही प्रयोगों के अतिरिक्त भरत द्वारा कोई भी वक्रोक्ति का स्पष्ट समुल्लेख नहीं किया गया। आचार्य भामह में ही उसका कुछ सुसम्बद्ध विवेचन प्राप्त होताहै अतः अब यहीं से वक्रोक्ति सिद्धान्त का विवेचन प्रस्तुत किया जायगा।

1- अविमारक, पृ० 65
2- द्रष्टव्य, H.S.P., P.384
3- द्रष्टव्य ना.शा. 13/71-73
4- वही, 6/95

(क) <u>भामह तथा वक्रोक्ति-सिद्धान्त</u> :

अधिकतम विद्वानों का अभिमत है कि आचार्य भरत के अनन्तर, उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर, काव्यशास्त्र का विवेचन करने वाले प्राचीनतम आचार्य भामह ही है । इसीलिए भारतरत्न महामहोपाध्याय डा० पाण्डुरंग वामन काणे ने भी, जो कि भामह से प्राचीनतर दण्डी को स्वीकार करते है, अपने ग्रन्थ 'हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स' के द्वितीय संस्करण में ही क्रमानुसार विवेचन करते समय भामह को प्रथम स्थान दिया है[1] । भामह का कीर्ति-स्तम्भ उनका एकमात्र उपलब्ध ग्रन्थ 'काव्यालंकार' है। अधिकतर विद्वानों ने उन्हें 'अलंकार-सम्प्रदाय' के प्रवर्तक आचार्य के रूप में स्मरण किया है परन्तु यदि 'वक्रोक्ति सम्प्रदाय' को 'अलंकार सम्प्रदाय' से भिन्न स्वीकार किया जाता है तो भामह को 'वक्रोक्ति-सम्प्रदाय' का प्रवर्तक आचार्य कहना अनुचित न होगा । वैसे तो वक्रोक्ति के बीज हमें भामह से प्राचीनतर काव्यों एवं शास्त्रों में उपलब्ध होते है लेकिन 'वक्रोक्ति' को काव्य के एक सिद्धान्त-रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय भामह को ही है । उन्होंने ही सबसे पहले साधिकार यह कहने का दावा किया है कि —

> 'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते ।
> यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ।'[2]

जिसका विरोध करने का दुस्साहस आगे आने वाला कोई भी आचार्य न कर सका । यह बात दूसरी है कि आचार्यों ने अपने अपने सिद्धान्तों में इसे खपाने की कोशिश की है । निदर्शनार्थ हम सर्वप्रसिद्ध 'ध्वनि-सिद्धान्त' के कुछ आचार्यों द्वारा किए गए उक्त पंक्तियों के विवेचन को प्रस्तुत करते है । ध्वनिकार आनन्दवर्धन भामह की इस वक्रोक्ति को व्यंग्य रूप से समस्त अलंकारों में स्थिति ... स्वीकार करते है —

यतः प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालंकारेषु शक्यक्रिया कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छविं पुष्णाति । कथं ह्यतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा सती काव्ये नोत्कर्षमावहेत । भामहेनाप्यतिशयोक्तिलक्षणे यदुक्तम् 'सैषा सर्वैव —' इत्यादि । तत्रातिशयोक्तिर्यमलंकारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात्तस्य चारुत्वातिशययोगो

1- "Out of deference to the opinions of a majority of scholars I dealt with Bhamaha's work before that of Dandin." — H.S.P., P.78.

2- भामह काव्या० 2/85

-ऽन्यस्य त्वलंकारमात्रतैवेति सर्वालंकारशरीरस्वीकरणयोग्यत्वेनाभेदोपचारात् सैव सर्वालंकाररूपेत्ययमेवार्थोऽवगन्तव्यः।'[1]

आचार्य अभिनव गुप्त इसी स्थल पर लोचन में भामह की उक्त कारिका की व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत करते है:-

'याऽतिशयोक्तिर्लक्षिता सैव सर्वा वक्रोक्तिरलंकारप्रकारः सर्वः — 'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः' इति वचनात् । शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानमित्ययमेवासावलंकारस्यालंकारभावः, लोकोत्तरतैव चातिशयः, तेनातिशयोक्तिः सर्वालंकारसामान्यम्। तथाहि अनयाऽतिशयोक्त्या, अर्थः सकलजनोपभोगपुराणीकृतोऽपि विचित्रतया भाव्यते तथा प्रमदोद्यानादिर्विभावतां नीयते विशेषेण च भाव्यते रसमयी क्रियते। xxx तत्स्वोपज्ञमतिशयोक्तेर्यद्रूपत्वमिति।'[2]

आचार्य मम्मट भी वक्रोक्ति अथवा अतिशयोक्ति को समस्त अलंकारों की प्राणभूता स्वीकार करते है । 'विशेष' अलंकार के तीन प्रकारों का विवेचन कर चुकने के अनन्तर वे कहते है- 'सर्वत्रैवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते। तां विना प्रायेणालंकारत्वायोगात्। अतएवोक्तम् 'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः 'इत्यादि।[3]

आचार्य भामह द्वारा लगाये गए इस वृक्ष का पूर्ण विकसित रूप हमें आचार्य कुन्तक के ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' में उपलब्ध होता है। आचार्य कुन्तक ने भामह के वक्रोक्ति सिद्धान्त को एक सुचिन्तित, विकसित एवं परिष्कृतस्वरूप प्रदान किया। भामह एवं कुन्तक के वक्रोक्तिसिद्धान्त में हमें जो भेद परिलक्षित होता है वह कुन्तक के सम्यक् चिन्तन का ही फलस्वरूप है।

भामहाभिमत काव्य, अलंकार एवं वक्रोक्ति का स्वरूप :-

आचार्य भामह ने अपने ग्रन्थ में कहीं भी स्पष्टतः शब्दों में अलंकार क्या या वक्रोक्ति का लक्षण प्रस्तुत नहीं किया । किन्तु उनके विवेचन से हमारे सामने जो अलंकार अथवा वक्रोक्ति का स्वरूप उपस्थित होता है उसे समझने से पूर्व हमें भामहाभिमत काव्य-स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है।

1- ध्वन्या0, पृ0465-468
2- लोचन, पृ0467-469
3- काव्यप्रकाश, पृ0 572

काव्यस्वरूप :

'कवि का कर्म काव्य है' इस काव्य के व्युत्पत्तिलभ्य[1] अर्थ के विषय में किसी भी आचार्य को विप्रतिपत्ति नहीं है। भामह को भी नहीं। परन्तु ध्यान देने की बात तो यह है कि भामह के लिए न तो सभी कवि कवि हैं और न सभी काव्य काव्य ही। उनकी दृष्टि में कवियों के दो स्वरूप हैं—एक कुकवि का और दूसरा सत्कवि का। भामह यदि काव्य किसी कवि के कर्म को मानने को तैयार हैं तो वह कर्म इसी सत्कवि का है। वे अकवि होना कुकवि होने से बेहतर समझते हैं —

'नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः ॥[2]'

उनकी दृष्टि में कोरा 'वाग्वैदग्ध्य' बेकार है यदि उसमें 'सत्कवित्व' नहीं है—

'रहिता सत्कवित्वेन कीदृशी वाग्विदग्धता'[3] ॥

1- (क) आचार्य भट्ट तौत का कथन है-

'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।
तदनुप्राणनाजीवद्वर्णनानिपुणः कविः ॥
तस्य कर्म स्मृतं काव्यम् ——— ॥

वामन के काव्यालंकार सूत्रवृत्ति के प्रथमाध्याय के प्रथम सूत्र 'काव्यं ग्राह्य-मलंकारात्' की व्याख्या करते हुए श्री गोपेन्द्र त्रिपुरहर ने इसे भामह के नाम से उद्धृत किया है-'भा(मा)महोक्ति— प्रज्ञानवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता। तदनुप्राणनाज्जीवद्वर्णनानिपुणः कविः। तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्—' इति (कामधेनु पृ०4) पर उनका यह कथन भ्रामक ही प्रतीत होता है।

(ख) कुन्तक का कथन है— 'कवेः कर्म काव्यम्'। (पृ०3)

(ग) महिमभट्ट का कथन है— 'कविव्यापारो हि विभावादिसंयोजनात्मा रसाभिव्यक्त्य-व्यभिचारी काव्यमुच्यते।' (व्यक्ति० पृ० 95)

(घ) महिमभट्ट के उक्त कथन की व्याख्या करते हुए रुय्यक 'हृदयदर्पणकार' के मत को प्रस्तुत करते हैं -'हृदयदर्पणे च—तत्कर्ता च कविः प्रोक्तो भेदेऽपि हि तद्वति यद्' इति काव्यमुक्तकवित्वं प्रतिपादितम्।'

(ङ) आचार्य मम्मट का अभिमत है - लोकोत्तरवर्णनानिपुण कविकर्म काव्यम्।'
(काव्यप्र० पृ०6)

(च) हेमचन्द्र का कथन है- 'लोकोत्तरं कविकर्म काव्यम्'
(काव्यानु० पृ० 3)

[शेष अगले पृष्ठ पर]

वे उन्हीं कवियों की कीर्ति को कभी भी न विनष्ट होने वाली समझते है जिन्होंने सत्काव्य (या सन्निबन्ध)की रचना की है—

'उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम् ।
आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं वपुः[1] ।।'

इसी सन्निबन्ध मे ही पुरुषार्थ चतुष्टय तथा कलाओं मे विचक्षणता तथा यश और आनन्द की प्राप्ति होती है—

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्[2] ।।'

मोक्ष-प्राप्ति के भी उपाय रूप मे काव्य को प्रस्तुत करने का सर्वप्रथम श्रेय भामह को ही है ।अतः भामह के अनुसार काव्य सत्काव्य ही होगा ।

अलंकार का स्वरूप-

अलंकार का स्वरूपविवेचन करते समय भामह काव्य की उपमा कामिनी के कान्त मुख से देते है । वे कहते है—

'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्[3] । '

यहाँ अवधेय यह है कि भामह केवल 'भाति वनितामुखम्' नहीं कहते है,उसके पहले उन्होंने 'वि'उपसर्ग का प्रयोग किया है अर्थात् 'विशेषेण भाति'विशेष प्रकार से शोभित होता है । अभिप्राय यह कि जब तक विशेष प्रकार की शोभा काव्य मे नहीं है तब तक वह सत्काव्य नहीं। इस प्रकार अलंकार काव्य का स्वरूपाधायक तत्त्व है।बिना अलंकार के काव्य की स्थिति असम्भव है।इस बात को कुन्तक ने बड़े साफ सुथरे ढंग से इस प्रकार कहा है—

शेष- 2-भामह काव्या0, 1/12

3- वही, 1/4

1-भामह काव्या0 1/6

2- वही, 1/2 'साहित्यदर्पणकार'ने इस कारिका के पाठ 'साधुकाव्यनिबन्धनम्'के स्थान पर 'साधुकाव्यनिषेवणम्'पाठ उद्धृत किया है। उनके पाठ के अनुसार चतुर्वर्ग आदि मे वैचक्षण्य इत्यादि सहृदय के लिए भी होंगे,जब कि काव्यालंकार के पाठ के अनुसार वे केवल कवि के लिए ही है ।

3- भामह काव्या0, 1/13

'तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता ।'[1]
इस पर वृत्ति में कहते हैं —

'अयमत्र परमार्थः— सालंकारस्यालंकरणसहितस्य सकलस्य निरस्तावयवस्य सतः समुदायस्य काव्यता कविकर्मत्वम्। तेनालंकृतस्य काव्यत्वमिति स्थितिः, न पुनः काव्यस्यालंकारयोग इति।'[2] अर्थात् काव्य और अलंकार पृथक नहीं हैं, काव्य में अलंकार जोड़े नहीं जाते। क्योंकि अलंकारों से पृथक काव्य की सत्ता ही नहीं सम्भव है। काव्य सदा अलंकृत ही होता है।

इसी लिए भामह का अलंकार कटककुण्डल स्थानीय नहीं है । और यही कारण है कि भामह की दृष्टि में अलंकार ही एक तत्त्व है जिसमें गुण, रीति, रस, ध्वनि, औचित्य आदि सभी अन्य आलंकारिकों द्वारा अभिमत तत्त्व अन्तर्भूत हैं। अलंकार से भिन्न उक्त तत्त्वों की कोई सत्ता नहीं। अतः यह कहना कि भामह ने रस आदि को महत्त्व प्रदान ही नहीं किया, वे रस विरोधी हैं। एक भ्रान्त धारणा होगी । इस विषय पर डा०देशपाण्डे ने पर्याप्त प्रकाश डाल रखा है, अतः पिष्टपेषण की आवश्यकता नहीं। उनका निष्कर्ष इस प्रकार है—

'भामह रस के विरोधी तो हैं ही नहीं, बल्कि उपलब्ध आलंकारिकों में भरत के प्रथम उत्तराधिकारी हैं।'[3] उनके अलंकार का स्वरूप ही कुछ इस प्रकार का है कि उसमें रस भी अलंकार कोटि में आ जाता है।[4]

भामह ने शब्द तथा अर्थ के साहित्य को काव्य स्वीकार किया है, अतः उन्होंने न तो केवल सुबन्त तथा तिङन्त की व्युत्पत्ति रूप सौशब्द्य को ही अलंकार स्वीकार किया है और न केवल रूपकादि(अर्थालंकारों)को ही प्राधान्य दिया है। उनकी दृष्टि में दोनों समान हैं, इसी लिए प्राचीन आचार्यों के साथ असहमति व्यक्त करते हुए उन्होंने अपना मत इस रूप में उपन्यस्त किया है—

'रूपकादिरलंकारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः ।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।।

1- व.जी. 1/6
2- वही, पृ० 7
3- द्रष्टव्य भा.सा.शा. पृ०66-75
4- इसी लिए रुय्यक ने कहा है-'इह हि तावद् भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरन्तनालंकारकाराः प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारकतयाऽलंकारपक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते।'
(अलं०स०, पृ०3)

रूपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षते परे ।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलंकृतिम् ।।
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ।
शब्दाभिधेयालंकार भेदादिष्टं द्वयन्तु नः ।।'[1]

इन अलंकारों के द्वारा अर्थ के तत्वज्ञ महाकवियों की वाणी अलंकृत होकर उसी प्रकार विशेष रूप से सुशोभित होती है जैसे विदग्धमण्डनों वाली रमणी—

अनेन वागर्थविदामलंकृता
विभाति नारीव विदग्धमण्डना ।।'[2]

अलंकार और वक्रोक्ति

वस्तुतः यह अलंकार है क्या ? यह अलंकार वक्रोक्ति ही है। भामह का सुस्पष्ट कथन है —

'वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः ।'[3]

अर्थात् कविवाणी अर्थात् काव्य का अलंकार शब्द और अर्थ का वक्र कथन ही है।आगे भी कहा है—

'वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते ।'[4]

वक्रोक्ति के बिना अलंकार का अलंकारत्व ही सम्भव नहीं, अतः भामह कह उठते हैं—

'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनया र्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ।।'[5]

यहाँ भी ध्यान देने की बात यह है कि भामह केवल 'भाव्यते' न कह कर यहाँ भी 'वि' उपसर्ग का पूर्व प्रयोग करतेहैं । जब तक अलंकार के द्वारा अर्थ विशेष रूप से भावित न हो जाय वह अलंकारकैसा ? और यह विभावन केवल वक्रोक्ति के द्वारा सम्भव है अन्यथा नहीं।बिना वक्रोक्ति के अलंकार तत्वहीन होगा, निस्सार होगा । अलंकार कहलाने का अधिकारी ही नहीं होगा । यही कारण है कि भामह पदपदार्थ के वक्र सम्यक् प्रयोग का विधान उन्हीं कवियों के लिए करते हैं जिनकी उक्ति, जिनकी वाणी, है—

1- भामह काव्या0, 1/13, 14, 15
2- वही, 3/58
3- वही, 2/36
4- वही, 5/66
5- भामह, काव्या02/85 इस कारिका के ध्वनिकार आदि द्वारा लिए गए अर्थ को हम पीछे उद्धृत कर चुके हैं।

'वक्रवाचां कवीनां ये प्रयोगं प्रति साधवः ।

प्रयोक्तुं ये न युक्तास्तु तद्विवेकोऽयमुच्यते ।।'[1]

वे वक्र वाणी वाले कवि को ही सत्कवि कहते है, उन्हो ने उन्ही सत्कवियो के मतो को देखकर अपने ग्रन्थ की रचना प्रस्तुत की —

'अवलोक्य मतानि सत्कवीनामवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म ।'[2]

भामह के इसी आधार को ग्रहण कर कुन्तक ने जोरदार शब्दो मे केवल वक्रोक्ति की ही अलंकारता का प्रतिपादन किया है —

'उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः ।

वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते ।।'[3]

वक्रोक्ति का स्वरूप एवं अतिशयोक्ति

उक्त विवेचन से यह तो सुस्पष्ट है कि भामह के अनुसार केवल वक्रोक्ति ही अलंकार है। उसके बिना किसी भी अलंकार का अलंकारत्व सम्भव नही। परन्तु जिस ढंग से भामह ने अनेको स्थलो पर वक्रोक्ति का प्रयोग किया है उससे यही प्रतीत होता है कि वक्रोक्ति का स्वरूप उस समय पूर्ण रूप से सभी को विदित था, अन्यथा उसके स्वरूप के विषय मे भामह का मौन रहना असम्भव था । भामह ने अवश्य ही अतिशयोक्ति अलंकार के प्रसंग मे 'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः' कह कर अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति को स्वरूप मे प्रतिष्ठित किया है परन्तु अतिशयोक्ति अलंकार (2/81) का वर्णन करने के पूर्व ही वे —

'वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः' (2/36)

कह चुके थे । अतः अतिशयोक्ति अलंकार विशेष को ही वक्रोक्ति मान बैठना उचित नही। जैसे काव्यप्रकाश मे उद्धृत 'सैष सर्वैव' आदि की व्याख्या करते हुए वीरचरितकाविनीकार ने मान लिया है— 'सैषा-अभेदाध्यवसायरूपा वक्रोक्तिः' इत्यादि।[4] 'अतिशयोक्ति अलंकार का लक्षण भामह ने दिया है —

'निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।

मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलंकारतया यथा ।।'[5]

1- भामह काव्या0, 6/23
2- वही, 6/64
3- व0जी0, 1/10
4- का.प्र. पृ0405
5- भामह काव्या0, 2/81

अर्थात् जहाँ कवि किसी निमित्तवश लोकातिक्रान्तगोचरवर्णन को प्रस्तुत करता है वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार होता है। इस प्रकार अतिशयोक्ति के लक्षण के अनन्तर दो उदाहरण प्रस्तुत कर भामह ने कहा -

'इत्येवमादिरुदिता गुणातिशय योगतः ।
सर्वैवातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत्तां यथागमम्।[1]'

यहाँ लक्षण में जो कवि ने 'निमित्ततः' शब्द का प्रयोग किया है वह विशेष रूप से अवधेय है। इसी निमित्तवश विभिन्न आचार्यों ने अतिशयोक्ति के अनेक भेद वर्णित किये हैं। रुय्यक ने अतिशयोक्ति के पाँच प्रकार इस तरह निरूपित किए हैं— '1-भेदेऽभेदः । 2-अभेदे भेदः । 3- सम्बन्धेऽसम्बन्धः । 4- असम्बन्धे सम्बन्धः 5- कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वंसश्च।[2]' अतः यदि इसी अतिशयोक्ति अलंकार विशेष की समस्त अलंकारों में स्थिति मान ली जायगी तो स्वभावोक्ति की अलंकारता का खण्डन करते समय जिस संसृष्टि व संकर की कठिनाई कुन्तक ने स्वभावोक्ति के विषय में उठाई है वही कठिनाई यहाँ भी उपस्थित हो जायगी[3]। अर्थात् यदि सर्वत्र अतिशयोक्ति और अन्य अलंकारों का भेद स्पष्ट होगा तो संसृष्टि मानना पड़ेगा, कोई भी स्वतंत्र अलंकार हो ही नहीं सकेगा । यदि भेद अस्पष्ट होगा तो संकर स्वीकार करना होगा । अतः स्पष्ट है कि भामह इस 'अतिशयोक्ति'अलंकारविशेष को समस्त अलंकारों में सामान्य नहीं मानते। और इसी लिए उन्होंने अलंकार विशेष का प्रतिपादन 'अतिशयोक्ति' नाम से किया है किन्तु सर्वालंकारसामान्य का प्रतिपादन 'वक्रोक्ति'नाम से किया है । यह पहले ही बताया जा चुका है कि जहाँ कहीं भी अलंकार सामान्य को प्रस्तुत किया गया है वहाँ 'वक्रोक्ति'के ही नाम से, 'अतिशयोक्ति'नाम से नहीं। यहाँ वक्रोक्ति'का अतिशयोक्ति के प्रसंग में किया गया निर्देश केवल इसी बात को पुष्ट करता है कि 'अतिशयोक्ति'में'वक्रता' का चमत्कार विद्यमान रहता है, इससे अधिक और कुछ नहीं । यह तो प्रायः सभी को मान्य है कि काव्य लोकोत्तीर्ण होता है, काव्य का रस लौकिक रस से भिन्न होता है, काव्य के अलंकार लौकिक अलंकारों से भिन्न होते हैं, इस प्रकार काव्य की समस्त सामग्री ही लोक की सामग्री से भिन्न होती है ।

1- भामह, काव्या- 2/84.
2- अलं- स-, पृ- 83. इसी तरह 'कुवलयानन्द' में अतिशयोक्ति के आठ भेद प्रतिपादित किए गए हैं- 1 रूपकातिशयोक्ति 2- सापह्नवातिशयोक्ति 3- भेदकातिशयोक्ति 4- सम्बन्धातिशयोक्ति 5- असम्बन्धातिशयोक्ति 6- अक्रमातिशयोक्ति 7- चपलातिशयोक्ति तथा 8- अत्यन्तातिशयोक्ति।' (का- 36-43)
3- देखें वक्रोक्ति जीवित कारिका 1/14, 15 तथा वृत्ति.

इसी लोकोत्तीर्णता का नाम वक्रता है । लोकोत्तीर्णता को प्रतिपादित करना ही वक्रोक्ति है । आचार्य अभिनव ने ठीक ही व्याख्या की है—

'शब्दस्य हि वक्रताऽभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानमित्ययमेवासावलंकारस्यालंकारभावः । लोकोत्तरतैव चातिशयः तेनातिशयोक्तिः सर्वालंकारसामान्यम् ।'[1]

वस्तुतः वक्रता और अतिशय पर्यायवाची अवश्य माने गए हैं पर इतने से ही वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति अलंकारविशेष को एक समझ बैठना भ्रान्ति है । यदि वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को एक अर्थ में प्रयुक्त किया गया है तो वहाँ अतिशयोक्ति अलंकारविशेष नहीं है। इस विषय में 'काव्यप्रकाश' के उद्धृत कारिका 'सैषा सर्वत्र' आदि की वामन झलकीकर की व्याख्या अत्यन्त सुस्पष्ट है —

'अतिशयोक्तिरिति । अतिशयेन वैचित्र्यविशेषप्रतिपत्तये लोकसीमातिक्रमेणोक्तिः कथनमित्यर्थः । न तु पूर्वोक्तातिशयोक्त्यलंकारोऽत्र विवक्षितः , तस्यासम्भवात्'[2]

आचार्य भामह इसी वक्रोक्ति का प्रतिपादन न होने के कारण हेतु, सूक्ष्म तथा लेश की अलंकारता को अस्वीकृत कर देते हैं —

'हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः ।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ।।'[3]

वक्रोक्ति से रहित कहीं काव्य होता है ? वह तो केवल 'वार्ता' होती है वार्ता । साधारण बात चीत । —

'गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते ।।'[4]

वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति

इस प्रकार यह तो निश्चित हो गया कि भामह के अनुसार वक्रोक्ति ही अलंकार है। अब प्रश्न यह उठता है कि भामह यदि वक्रोक्ति को ही अलंकार मानते हैं तो स्वभावोक्ति उनकी दृष्टि में अलंकार है या नहीं ? यदि अलंकार है तो कैसे ? वस्तुतः विद्वानों

1- लोचन, पृ० 467
2- बालबोधिनी, पृ० 743-44
3- भामह, काव्या०, 2/86
4- वही, 2/87

में इस विषय में बड़ा मत भेद है । कुछ लोगों का कहना है कि भामह स्वभावोक्ति अलंकार नहीं मानते तथा कुछ लोग इसके विपरीत कहते है कि भामह स्वभावोक्ति अलंकार मानते है । डा0 राघवन् के[1] अनुसार भामह स्वभावोक्ति अलंकार मानते है जब कि इसके विरुद्ध डा0 सुशीलकुमार डे[2] तथा डा0 शंकरन आदि इस बात के समर्थक है कि भामह स्वभावोक्ति अलंकार नहीं मानते । भामह स्वभावोक्ति को इस ढंग से प्रस्तुत करते है —

'स्वभावोक्तिरलंकारः इति केचित् प्रचक्षते ।
अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा ।।
आक्रोशन्नाह्वयन्नन्यानाधावन् मण्डलैः रुदन् ।
गा वारयति दण्डेन डिम्भः सस्यावतारणीः ।।'[3]

डा0राघवन् का कहना है कि यहाँ चूँकि भामह ने स्वभावोक्ति का लक्षण तथा उदाहरण दिया है, साथ ही जिन अलंकारों को उन्हें नहीं स्वीकार करना था उन्हें 'नालंकारतया मतः' आदि साफ शब्दों में कह कर निषेध किया है, अतः केवल 'केचित् प्रचक्षते' के आधार पर स्वभावोक्ति के प्रति उनके अस्वारस्य को स्वीकार करना उचित नहीं । इस तरह से उन्हों ने अनेक अलंकारों का निरूपण किया है[4]।

हम डा0 राघवन के इस अभिमत से सहमत नहीं । यह बात तो भामह के अलंकारविवेचन में साफ ज़ाहिर है कि उन्हों ने विभिन्न आलंकारिकों द्वारा स्वीकृत अलंकार समूहों का पृथक्-पृथक् उल्लेख कर उनका निरूपण किया है, परन्तु जैसा अस्वारस्य उनका स्वभावोक्ति एवं आशीः की अलंकारता को स्वीकार करने में व्यक्त होता है वैसे किसी अन्य के विषय में नहीं । आशीः के निरूपण को भी कथ्यावलीहसी प्रकार है —

'आशीरपि च केषांचिदलंकारतया मता ।
सौहृदस्याविरोधोक्तौ प्रयोगोऽस्याश्च तद्यथा ।।'[5]

1- देखे— Some Concepts –(Pp. 102 - 103)

उनका निष्कर्ष है— " For Bhāmaha Vakrokti is Alaṁkāra and Svabhāvokti also which has got its own degree of Vakratā marking it off from mere Vārtā is comprised in Vakrokti." P. 103.

2. "Such Svabhāvokti or natural mode of speech to which Daṇḍin is so partial is not acceptable to Bhāmaha who refuses to acknowledge Svabhāvokti as a poetic figure at all." —Introduction to V.J. (P. XX)

3- भामह काव्या0 2/93-94

4- Some Concepts -(Pp. 100 - 101)

5- भामह काव्या0 3/55

इसके बाद दो उदाहरण दिए है । इन दो अलंकारों के अतिरिक्त किसी भी अलंकार के विवेचन में भामह ने 'केचित्' अथवा 'केषाञ्चित्' का प्रयोग नहीं किया । जहाँ कहीं भी अन्य अलंकारों का निरूपण किया है वह 'प्राहुः', 'उदिता', 'आहुः', 'विदुः', 'कथ्यते', 'ब्रुवते', 'वदति,' 'उक्ता', 'निजगुः' आदि के द्वारा ही किया गया है । एक स्थान पर उन्हों ने और भी 'केचित्' का प्रयोग किया है पर बड़े आदर के साथ- उपमा की त्रिप्रकारता के विषय में वे कहते है —

'यदुक्तं त्रिप्रकारत्वं तस्याः कैश्चिन्महात्मभिः ।
निन्दा प्रशंसाचिख्यासाभेदादत्राभिधीयते ।।'
सामान्य गुणनिर्देशात् त्रयमप्युदितन्ननु ।
मालोपमादिः सर्वोऽपि न ज्यायान् विस्तरो मुधा ।।'[1]

कितनी विनम्रता के साथ उनके मतों का निराकरण यहाँ पर किया गया है । क्या यह बात 'स्वभावोक्ति' और 'आशीः' के अलंकारत्व के विषय में भी कही जा सकती है?

वस्तुतः स्वभावोक्ति का वक्रोक्ति से कोई विरोध नहीं है । काव्यों के समस्त प्रकारों का निरूपण कर चुकने के अनन्तर भामह कहते है —

'युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते।'[2]

इस पंक्ति का अर्थ विद्वानों ने कई तरह से लगाया है । कुछ लोग इससे यह आशय निकालते है कि काव्य के समस्त प्रकारों को वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति दोनों से युक्त होना चाहिए। ऐसा अर्थ (श्री ताताचार्य तथा श्री· शंकर रामशास्त्री आदि ने किया है। यह अर्थ) तो पूर्णतया तथ्य से परे है।डा० राघवन ने इसका अर्थ 'वक्रस्वरूप-उक्त्या' माना है[3] । परन्तु यह अर्थ लेना भी समीचीन नहीं प्रतीत होता है । वस्तुतः यहाँ पर स्वभाव की वक्र उक्ति से तात्पर्य है । 'स्वभावस्योक्तिः स्वभावोक्तिः ।वक्रा चासौ स्वभावोक्तिश्च वक्रस्वभावोक्तिः । तया वक्र स्वभावोक्त्या।' अन्यथा केवल 'वक्रोक्ति से युक्त' मान लेने पर —

1- भामह काव्या०, 2/37-38

2- वही, 1/30

3- डा० राघवन 'Some Concepts (P-102) पर कहते है — 'Mr. Tatachary has, it seems, committed an excess while trying to prove that Bhāmaha accepted Svabhāvokti. He says that when Bhāmaha said 'युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते' (1/39) he meant like Dandin to divide poetic expression into two realms Vakrokti and Svabhavokti, and Mr. Tatacarya puts a forced interpretation on 'वक्रस्वभावोक्त्या' which does not mean वक्रोक्त्या and स्वभावोक्त्या but means only वक्र-स्वरूप-उक्त्या, the word Svabhāva here meaning 'of the nature of-'.

'एष वन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृतशेखरः ।

मृगतृष्णाम्भसि स्नातः शशशृङ्गधनुर्धरः ।।' जैसे श्लोक को भी काव्य मानना पड़ेगा । क्यों कि वक्रता अर्थात् लोकोत्तीर्णता तो इसमें भी विद्यमान है । अतः जहाँ वस्तुस्वभाव का वक्र ढंग से प्रतिपादन होगा वहीं काव्यत्व होगा । इसी लिए कुन्तक ने कहा है-'तेन स(स्वभावः)एव यद्यपि कथंचित् पदार्थस्य प्रख्योपाख्यावतारनिबन्धनम्, तेन वर्जितमसत्कल्पं वस्तु शशविषाणप्रायं इव वचनागोचरतां प्रतिपद्यते ।' और सम्भवतः भामह को इसी कारिका से ही कुन्तक को स्वभावोक्ति को अलंकार्य और वक्रोक्ति को अलंकार कहने की प्रेरणा मिली होगी । जैसा कि डा0 राघवन ने भामह द्वारा स्वभावोक्ति अलंकार की स्वीकृति सिद्ध करते हुए यह बताया है कि वह 'गतोऽस्तमर्कः' आदि 'वार्ता' की अपेक्षा रमणीय होने के कारण अलंकार है। उसी आधार पर यह सिद्धान्त भली भाँति प्रतिपादित किया जा सकता है कि यद्यपि वह स्वभाव-वर्णन अर्थात् स्वभावोक्ति अलंकार रूप में भामह को स्वीकार नहीं है, वे उसे अलंकार्य ही मानते हैं । परन्तु यदि उसे उस स्वभाव की रमणीयता के कारण उपचारतः अलंकार कह दिया जाय तो कोई विशेष आपत्ति नहीं है । इसी लिये 'केचित् प्रचक्षते' कह कर अपना स्वयं का अस्वारस्य ही उन्होंने प्रकट किया है, स्वारस्य नहीं । जैसे कि कुन्तक भी कहते हैं —

'यदि वा प्रस्तुतौचित्यमाहात्म्यान्मुख्यतया भावस्वभावः सातिशयत्वेन वर्ण्यमानः स्वमहिम्ना भूषणान्तरासहिष्णुः स्वयमेव शोभातिशयशालित्वादलंकार्योऽप्यलंकरणमित्यभिधीयते तदयमस्माकीन एव पक्षः । तदतिरिक्तवृत्तेरलंकारान्तरस्य तिरस्कारतात्पर्येणाभिधानान्मात्र विवदामहे।'[2]

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि भामह स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं स्वीकार करते ।हाँ, यदि अन्य लोगों ने वहाँ वस्तुस्वभाव को परम रमणीयता के कारण उसे अलंकार्य होते हुए भी दूसरे की अलंकारता को सहन न कर सकने के कारण अलंकार कह रखा है तो उन्हें विशेष आपत्ति नहीं। इसी लिए उसका उदाहरण भी दे दिया है ।क्यों कि वहाँ स्वभाव की वक्रता या वैचित्र्य तो विद्यमान ही है ।

1- व0 जी0, पृ0 24

2- वही, पृ0 139

डा० राघवन ने जो यह बात कही है कि स्वभावोक्ति को अलंकारता का खण्डन करते समय कुन्तक ने जो 'चिरन्तन' आचार्यों का पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया है उसमें भामह भी संगृहीत है, उसका कोई समुचित आधार नहीं दिखाई पड़ता[1]।

इस प्रकार —

(1) भामह की दृष्टि में केवल सत्कवि ही, जो कि वक्रोक्ति के प्रयोग में निपुण होता है, एकमात्र कवि कहलाने का अधिकारी है और उसी का कर्म्मभूत सत्काव्य काव्य है।

(2) शब्द और अर्थ के साहित्य में ही काव्य होताहै। शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का समान महत्त्व है। शब्द और अर्थ का एकमात्र अलंकार वक्रोक्ति है। बिना वक्रोक्ति के अलंकारता की ही सिद्धि न होगी।

(3) कवि को सदैव वक्रोक्ति के प्रति प्रयत्नशील रहना चाहिए।

(4) काव्यता अलंकार युक्त होने पर ही सम्भव है। निरलंकार काव्य नहीं हो सकता।

(5) वक्रोक्ति और 'अतिशयोक्ति अलंकार-विशेष' भिन्न-भिन्न हैं अतिशयोक्ति अलंकार-विशेष ही वक्रोक्ति नहीं है। हाँ, उसमें वक्रोक्ति का अन्य अलंकारों की अपेक्षा आधिक्य अवश्य है।

(6) वक्रोक्ति स्वभाव की ही होनी चाहिए। निःस्वभाव वक्रोक्ति अलंकार-कोटि में नहीं आ सकती।

(7) वक्रोक्ति का स्वभावोक्ति से विरोध नहीं क्यों कि वक्रोक्ति अलंकार है और स्वभावोक्ति अलंकार्य।

(8) अलंकार, गुण, रस आदि सभी वक्रोक्ति में ही अन्तर्भूत है। इसी लिए रसादि को उन्होंने रसवदलंकार के रूप में ही माना है। कुन्तक और भामह में यही तो अन्तर है कि कुन्तक स्वभाव के साथ ही साथ रस को भी अलंकार्य कोटि में रखते हैं जब कि भामह उसे भी अलंकार कोटि में ही रखते हैं।

---

1 - "The 'ancients', chirantanas who figure in Kuntaka's pūrvapakṣa as accepting Svabhāvokti include Bhāmaha." — Some Concepts — (P.101)

(ख) आचार्य दण्डी और वक्रोक्ति- सिद्धान्त

आचार्य भामह के अनन्तर काव्यशास्त्र के आचार्य दण्डी हमारे सामने आते हैं । काव्यशास्त्र सम्बन्धी इनका एकमात्र ग्रन्थ 'काव्यादर्श' है । इन दोनों आचार्यों के पौर्वापर्य के विषय में विद्वानों में मतभेद है, परन्तु अधिक विद्वान् दण्डी को भामह का उत्तरकालीन ही मानते हैं । अतः यहाँ पर भी भामह के अनन्तर ही दण्डी के वक्रोक्ति सिद्धान्त से सम्बन्ध के विषय में विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

दण्डी द्वारा अभिमत अलंकार का स्वरूप

दण्डी ने अलंकार का लक्षण भामह की अपेक्षा स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है —

'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते ।'[1]

अर्थात् काव्य में सौन्दर्य की सृष्टि करने वाले काव्य के धर्मों को अलंकार कहते हैं । दण्डी के भी अलंकार का स्वरूप बहुत ही विस्तृत है। इसी में गुण, रस आदि सभी अन्य तत्व अन्तर्भूत हैं। गुणों के विषय में उन्होंने स्पष्ट रूप से अलंकार शब्द का प्रयोग किया है —

'काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः ।
साधारणमलंकारजातमन्यत्प्रदर्श्यते ।।'[2]

वैदर्भ और गौडीय मार्गों के विभागार्थ दण्डी ने प्रथम परिच्छेद में श्लेष प्रसाद आदि दस गुणों का निरूपण किया था । ये दोनों मार्गों में असाधारण रूप से विद्यमान थे । अतः विभाजकतत्त्व के रूप में पहले वर्णित किए गए । शेष आगे वर्णित किए जाने वाले उपमा स्वभावोक्ति आदि उभय-साधारण अलंकार हैं । इसी तरह 'रसवद्रसपेशलम् 'कह कर रसों को भी रसवदलंकार के अन्तर्गत ग्रहण कर लिया है । वस्तुतः दण्डी ने अलंकार शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया है । उसका एक व्यापक अर्थ है शोभाकरत्व जिसमें रस, गुण आदि सभी अन्तर्भूत हैं । और दूसरा है संकीर्ण अर्थ जो अनुप्रासादि शब्दालंकारों तथा स्वभावोक्ति, उपमा आदि अर्थालंकारों के लिए है । गुणों और अलंकारों का भेद दण्डी के इस कथन से साफ स्पष्ट है—

'इत्यनूर्जित एवार्थो नालंकारोऽपि तादृशः ।
सुकुमारतयैवैतदारोहति सतां मनः ।।'[3]

1- काव्यादर्श, 2/1

2- वही, 2/3

3- वही, 1/71

[illegible]

'[illegible]

[illegible]'[1]

यहाँ स्पष्ट ही अलंकार शब्द उपमादि के लिए प्रयुक्त हुआ है गुणों के लिए भी नहीं क्योंकि सुकुमारता गुण के कारण ही तो यहाँ सहृदयमनोहारित्व है । इसी प्रकार रस की उपमादि अलंकारों एवं प्रसादादि गुणों से भिन्नता इस कथन में देखी जा सकती है —

' अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम् ।'[2]

महाकाव्य को अलंकृत, पल्लवित वृत्तान्त वाला एवं रसों तथा भावादिकों से अभिव्याप्त होना चाहिए। निश्चय ही यहाँ उपमादि अलंकारों एवं प्रसादादिगुणों से भी अलंकृत होने का आशय है । साथ ही इसी आशय का प्रतिपादन इस उक्ति में भी है —

'कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चतु ।

तथाऽप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा ।।'[3]

व्यापक अर्थ में अलंकार का प्रयोग अधोलिखित पंक्तियों में स्पष्ट देखा जा सकता है-

(1) 'काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः ।

साधारणमलंकारजातमन्यत्प्रदर्श्यते ।।'[4]

(2) 'अनुकम्पाद्यतिशयो यदि कश्चिद् विवक्ष्यते ।

न दोषः पुनरुक्तोऽपि प्रत्युतेयमलंक्रिया ।।'[5]

[illegible]

2- वही, 1/18

3- वही, 1/62

4- वही, 2/3 इस कारिका में प्रयुक्त 'काश्चिदलंक्रियाः' का अर्थ प्रायः विद्वानों ने श्लेष प्रसाद आदि 10 गुणों से लगाया है। यही समीचीन प्रतीत होता है-

(क) टीकाकार रत्नश्रीज्ञान का कथन है-' काश्चिदलंक्रियाः केचिदलंकाराः श्लेष प्रसादादयः, न सर्वाः, प्रागपि प्रथमे परिच्छेदेऽपि उक्ताः । × × श्लेषादिषु हि कथितेषु तत्स्वभावो वैदर्भमार्गः प्रतीयते। तद्विपर्ययस्वभावश्च गौडीय इति श्लेषाद्यलंकारवचनात् मार्गविभागो जायते ।' (काव्यलक्षण-पृ0 68)

(ख) आचार्य अभिनवगुप्त के कथन से भी यही स्पष्ट होता है-

'दण्डिनाऽपि 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते' इति ब्रुवता गुणमध्य एव तत्र प्रसादादीनामभिदधता च गुणालंकारविभागोऽप्यसम्भवीति सूचितम्भवति।' (अभि. भा. पृ0295)

परन्तु काव्यादर्श के टीकाकार प्रेमचन्द्र तर्कवागीश ने यहाँ 'अलंक्रियाः' से अनुप्रास, यमक आदि का ग्रहण किया है। उनका कहना है- 'काश्चिदलंक्रियाः वृत्त्यनुप्रासच्छेकवृत्त्यनुप्रासयमक-

(शेष)

अलंकार, वक्रोक्ति एवं स्वभावोक्ति

अब विचार यह करना है कि दण्डी के अनुसार अलंकार, स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति में परस्पर क्या सम्बन्ध है । अलंकारों की गणना के प्रारम्भ में ही दण्डी 'स्वभावाख्यान' अर्थात् स्वभावोक्ति या जाति को आदि अलंकार के रूप में प्रतिपादित करते हैं —

'स्वभावाख्यानमुपमा रूपकं दीपकावृती ।

× × × ×

इति वाचामलंकारा दर्शिताः पूर्वसूरिभिः ॥'[1]

स्वभावोक्ति का लक्षण दण्डी ने दिया है —

'नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद् विवृण्वती ।

स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा ॥'[2]

अर्थात् पदार्थों की विभिन्न अवस्थाओं वाले स्वरूप का जहाँ साक्षात् वर्णन किया जाता है वहाँ स्वभावोक्ति अथवा जाति नाम का प्रथम अलंकार होता है । पदार्थों की जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य चार उपाधियाँ होने से यह स्वभावोक्ति भी चार प्रकार की होती है। —'जाति स्वभावोक्ति, क्रियास्वभावोक्ति, गुणस्वभावोक्ति और द्रव्यस्वभावोक्ति ।'[3]

भामह का विवेचन करते समय दिखाया जा चुका है कि भामह स्वभावोक्ति को अलंकार मानने के पक्ष में नहीं है परन्तु यदि वे उसकी अलंकारता यथाकथंचित् स्वीकार कर सकते हैं तो केवल उपचारतः ही । दण्डी के विषय में लोगों का कहना है कि वे स्वभावोक्ति के पक्षपाती हैं। इसी लिए उन्होंने स्वभावोक्ति को वक्रोक्ति से पृथक् और प्रथम अलंकार माना।

शेषः- रूपालंकाराः । उक्ता इति । 'यथा कथाचिच्छ्रुत्या यत्समानमनुभूयते' इत्यादिना श्रुत्यनुप्रास उक्तः तथा 'वर्णावृत्तिरनुप्रासः' इत्यादिना छेकवृत्त्यनुप्रासावुक्तौ । 'आवृत्तिं वर्णसंघातगोचरां यमकं विदुः' इत्यनेन यमकं च । अतो वैकल्यान्नैते पुनर्निरूपयिष्यन्त इति भावः । अन्यदेवेभ्योऽभिन्नम् । आचार्ये गौडवैदर्भयोः समाने स्वभावाख्यानादीनां द्वयोरपि मार्गयोर्निवेदनीयत्वात् । श्रुत्यनुप्रासादयस्त्वसाधारणा एव गुणनिरूपणप्रकरणे ज्ञातव्याः । तृतीय परिच्छेदे यमकस्य पुनर्निरूपणन्तु प्रभेदप्रदर्शनार्थमेवेति बोध्यम् । 'इति
किन्तु यह व्याख्या समीचीन नहीं प्रतीत होती । (काव्यादर्श टीका, पृ0100)
3- काव्यादर्श, 3/137

1- काव्यादर्श, 2/4-7
2- वही, 2/8
3- विस्तार के लिए देखें- काव्यादर्श, 2/9-13

यहाँ अवधेय यह है कि दण्डी किसी भी वक्रोक्ति अलंकार विशेष का उल्लेख नहीं करते हैं। केवल एक ही स्थल पर उन्होंने वक्रोक्ति का नामोल्लेख किया है। वह इस प्रकार है—

'श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।।'[1]

श्री जीवानन्दविद्यासागर ने 'वक्रोक्तिषु' का अर्थ 'वचनभङ्गिरूपासु अलंकृतिषु' किया है।[2] उनकी यह व्याख्या निश्चय ही यहाँ अस्पष्ट है। क्योंकि वचनभङ्गिरूप अलंकारों में स्वभावोक्ति भी आ जायगी फिर उनकी स्वयं की व्याख्या के अनुसार तो सर्वथा वह इस के क्षेत्र के बाहर नहीं उन्होंने 'स्वभावोक्ति' के ऊपर उद्धृत लक्षण की व्याख्या करते हुए कह रखा है—'तथा च पदार्थानां नानावस्थस्वरूपस्य वैचित्र्येण वर्णनं स्वभावोक्तिरिति निष्कर्षः। एकरूपाया अवस्थायाः कीर्तने नायमलंकारः वैचित्र्याभावात्। वैचित्र्यस्यैवालंकारत्वाभिधानादित्यूह्यते। यथा – 'अम्भोदमुदितं दृष्ट्वा मुदा नृत्यति बर्हिण' इत्यत्र वस्तुस्वरूपनिरूपणेऽपि वैचित्र्या–भावान्नालंकारता।'[3] स्पष्ट ही जीवानन्द जी का यह विवेचन दण्डी से परवर्ती आचार्यों के विवेचन से प्रभावित होने के कारण दण्डी के अभिप्राय को व्यक्त करने में असमर्थ है। वैसे वाङ्मय का अर्थ तो बड़ा व्यापक है उसकी परिधि में शास्त्र और काव्य दोनों ही अन्तर्भूत है जैसा कि राजशेखर ने कहा है—'इह हि वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यं च'[4]। और ऐसा व्यापक अर्थ कर लेने पर शास्त्र में स्वभावोक्ति और काव्य में वक्रोक्ति की सत्ता स्वीकार कर लेने में तो किसी प्रकार का सन्देह उठेगा ही नहीं। और न भामह से दण्डी का कोई वैमत्य ही सिद्ध होगा। परन्तु ऐसा व्यापक अर्थ करने में दण्डी की यह उक्ति कुछ कठिनाई उपस्थित करती है कि —

'शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम्।'[5]

शास्त्र में तो स्वभावोक्ति का ही साम्राज्य होता है परंतु दण्डी को यह काव्य में भी अभीष्ट है। अतः वाङ्मय का अर्थ यहाँ व्यापक नहीं बल्कि केवल काव्य ही है। इस दृष्टि से स्वभावोक्ति के अतिरिक्त उपमा से लेकर संकीर्णादिपर्यन्त जितने भी अन्य अलंकार हैं सभी को वक्रोक्ति के अन्तर्गत माना जायगा। और ऐसी दशा में ही दण्डी की—'श्लेषः सर्वासु

1- काव्यादर्श, 2/363
2- काव्यादर्श-व्याख्या, जीवानन्द पृ० 211
3- वही, पृ० 69
4- का.मी., पृ० 11
5- काव्यादर्श, 2/13

पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्' उक्ति भी संगत होगी। क्यों कि उपमा,[1] रूपक,[2] दीपक,[3] आक्षेप,[4] अर्थान्तरन्यास,[5] व्यतिरेक[6] तथा व्याजस्तुति[7] आदि में श्लेष की अनुग्राहकता का सुस्पष्ट उल्लेख है। वे कहते हैं —

'उपमारूपकाक्षेपव्यतिरेकादिगोचराः ।
प्रागेव दर्शिताः श्लेषा दर्श्यन्ते केचनापरे ।।'[8]

इस प्रकार भामह और दण्डी के वक्रोक्ति-स्वरूप में पर्याप्त साम्य है । भामह भी उपमादि अलंकारों को वक्रोक्ति रूप ही मानते हैं दण्डी भी । भामह ने रसवदादि के रूप में रसों को भी वक्रोक्ति में अन्तर्भूत किया है, दण्डी ने भी वैसा ही स्वीकार किया । अन्तर केवल इतना ही है कि दण्डी स्वभावोक्ति को अलंकार मानते हैं पर वक्रोक्ति से सर्वथा भिन्न, जब कि भामह यदि यत्किंचित् स्वभावोक्ति का अलंकारत्व मानते भी हैं तो वक्रोक्ति के कारण ही । परन्तु दण्डी और भामह का प्रबल विरोध उस समय सामने आता है जब भामह —

'हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः ।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ।।'[9] कह कर हेत्वादि की अलंकारता का निषेध करते हैं और दण्डी —

'हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम्।'[10] कह कर उनकी अलंकारता का प्रबल समर्थन करते हैं । ऐसा यहाँ स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होता है कि भामह तथा

1- 'शिशिरांशुप्रतिस्पर्धि श्रीमत् सुरभिगन्धि च।
अम्भोजमिव ते वक्त्रमिति श्लेषोपमा स्मृता।।' (काव्यादर्श, 2/28)

2- 'राजहंसोपभोगार्हं भ्रमरप्रार्थ्यसौरभम् ।
सखि वक्त्राम्बुजमिदं तवेति श्लिष्टरूपकम्।।' (वही, 2/87)

3- 'अर्थधर्मैरभिन्नानामभ्राणां दन्तिनां तथा ।
अप्ययेनैव सम्बन्ध इति श्लिष्टार्थदीपकम्।।' (वही, 2/114)

4- 'इति मुखेन्दुराक्षिप्तो गुणान् गौणेन्दुवर्तिनः ।
तत्समान् दर्शयत्येष श्लिष्टाक्षेपस्तथाविधः ।(वही, 2/160)

5- अर्थान्तरन्यास के दण्डी ने आठ भेद बताए हैं जिनमें एक 'श्लेषाविद्ध' भी है—
'विश्वव्यापी विशेषस्थः श्लेषाविद्धो विरोधवान्।
अयुक्तकारी युक्तात्मा युक्तायुक्तो विपर्ययः ।। (वही, 2/170)

6- 'स(व्यतिरेक) एष श्लेषरूपत्वात् सश्लेष इति गृह्यताम्।(वही, 2/186)

7- इति श्लेषानुविद्धानामन्येषामपि दर्शिता।
व्याजस्तुतिप्रकाराणामपर्यन्तस्तु विस्तरः ।।' (वही, 2/347)

8- वही, 2/313 9- भामह काव्या02/86

10- काव्यादर्श, 2/235

दण्डी के पूर्व कुछ आचार्यों ने हेत्वादि अलंकार मान रखा था, जिसका भामह ने तो विरोध किया पर दण्डी ने समर्थन किया । भामह ने —

'गतोऽस्तमर्कः भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।

इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते।।'[1] कह कर 'गतोऽस्तमर्कः' आदि को काव्य न मानकर वार्ता कहा ।पर दण्डी ने 'इतोदमपि साध्वेव कालावस्थानिवेदने।'[2] कह कर इसमें लापक हेतु अलंकार सिद्ध कर उसकी काव्यता स्वीकार की।[3] भामह के पूर्ववर्ती आचार्यों ने हेतु आदि के क्या उदाहरण दे रखे थे इतना तो स्पष्ट नहीं, पर निश्चित रूपसे भामह की दृष्टि में वे वक्रोक्ति शून्य रहे होंगे । 'गतोऽस्तमर्कः' आदि पद्य हेतु के उदाहरण रूप में ही किसी पूर्वाचार्य ने उद्धृत किया होगा । जिसमें केवल समुदाय का कथन अर्थात् एक वाक्यार्थमात्र प्रस्तुत किया जाता है उस वाक्यार्थ को प्रस्तुत करने में कोई उक्तिवैचित्र्य

1- भामह काव्या0, 2/87

2- काव्यादर्श, 2/244

3- भट्टिकाव्य की टीका जयमंगला में भामह की 'गतोऽस्तमर्कः 'आदि कारिका की दूसरी पंक्ति का पाठ-'इत्येवमादिकं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते।'देकर इसमें'वार्त्ता 'नामक अलंकार बताया गया है। अतः यहाँ वार्त्ता और स्वभावोक्ति का अन्तर स्पष्ट कर उस कथन की यथार्थता का विवेचन कर देना आवश्यक है। डा0 काणे(एच.एस.पी.,पृ0108)तथा डा0 डे(एच.पी.वाल्यू.II,पृ028)यह स्वीकार करते हैं कि भामह उक्त कारिका में वार्त्ता नामक अलंकार की चर्चा करते हैं।डा0 राघवन(एस.सी.ए.एस.पृ099)इसके विपरीत अपना मत व्यक्त करते हैं।वे वार्त्ता से आशय 'mere news' स्वीकार करते हैं । डा0 राघवन की ही बात समीचीन प्रतीत होती है।वस्तुतः जयमंगला में जैसा पाठ उद्धृत है वह काव्यालंकार के किसी भी संस्करण में उपलब्ध नहीं होता।दूसरी बात भामह हेतु,सूक्ष्म और लेश की अलंकारता का खण्डन करते हुए तुरन्त इसे कहते हैं कि यह क्या काव्य है?इसे तो वार्ता कहते हैं वार्ता ?वस्तुतः किसी भामह एवं दण्डी से पूर्ववर्ती आचार्य ने इसे हेतु के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया था । अतः उसी का खण्डन यहाँ भामह ने किया है। उन्होंने केवल हेतु का ही एक उदाहरण देकर उसे 'वार्ता' साधारण बातचीत कह कर उसकी काव्यता का निराकरण कर दिया।इससे यह भी अभिव्यक्त कर दिया कि जैसे यह हेतु का उदाहरण काव्य नहीं है वैसे ही सूक्ष्म और लेश के भी उदाहरण काव्य नहीं है । और यदि भामह तथा दण्डी के पूर्व कोई भी वार्ता नामक अलंकार स्वीकृत होता तो दण्डी इसे कदापि हेतु के ही उदाहरण रूप में उद्धृत कर इसके समर्थन में -'इतोदमपि साध्वेव कालावस्थानिवेदने'न कहते बल्कि अलग से वार्ता नामक

(शेष)

नहीं। समुदायार्थ से शून्य होने पर दण्डी ने भी इसे अपार्थ-दोष से युक्त बताया है — 'समुदायार्थशून्यं यत्तदपार्थमितीष्यते'[1] इसी लिए भामह ने हेतु के उदाहरण 'गतोऽस्तमर्कः' आदि को वार्ता कहा, अलंकारहीन होने से काव्य नहीं कहा। क्यों कि वार्ता भी तो अपार्थ नहीं होनी चाहिए। वास्तव में दण्डी स्वभाववर्णन को अलंकार रूप में, काव्य के शोभादायक तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित तो करना चाहते हैं पर वक्रोक्ति का उन पर इतना अधिक प्रभाव है कि उसकी प्रतिष्ठा करने में उनके अनेक कथन परस्पर विरोधी दिखाई पड़ते हैं। एक ओर अतिशयोक्ति-अलंकार के विषय में वे कहते हैं कि यह सभी अलंकारों में श्रेष्ठ है, समस्त अन्य अलंकारों का अद्वितीय परायण है आश्रय है, यह अतिशयोक्ति लोकसीमानुवर्तिनी होती है'[2] दूसरी ओर कान्ति गुण का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं —

'लोकातीत इवात्यर्थमध्यारोप्य विवक्षितः।
योऽर्थस्तेनातितुष्यन्ति विदग्धा नेतरे जनाः।।'[3] तथा
'इदमत्युक्तिरित्युक्तमेतद्गौडोपलालितम्।
प्रस्थानं प्राक्प्रणीतन्तु सारमन्यस्य वर्त्मनः।।'[4]

यह तो सर्वमान्य सिद्धान्त है कि काव्यानन्दानुभूति रसिकों, सहृदयों काव्यमर्मज्ञों अथवा विदग्धों को ही होती है, काव्य सर्वसाधारण के लिए नहीं होता। जैसा कि ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन ने कहा है कि जौहरी ही रत्नों के तत्त्व को जानने वाले तथा सहृदय ही

शोध — अलंकार का प्रतिपादन कर उसके उदाहरण रूप में इसे उद्धृत करते। इसी लिए दण्डी जहाँ कान्त गुण का क्षेत्र बताते हुए कहते हैं कि — 'तच्च वार्ताभिधानेषु [का आशय लौकिक उपचार वचन या (mere news) ही है, वार्ता] वर्णनास्वपि दृश्यते' वहाँ भी वार्ता अलंकार नहीं। दण्डी के इस कथन की बड़ी ही स्पष्ट व्याख्या करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है कि —

लोकोपचार वचनं वार्ता - यथा

इमे वयमसौ दाराः कन्येयं कुलजीवितम्।
ब्रूत येनात्र वः कार्यमनास्था बाह्यवस्तुषु।। (कु. सं. 6/63)
(काव्यानुशासन, पृ० २०७ (काव्यमाला))

अतः केवल जयमंगला के कथनानुसार भामह और दण्डी की इन उक्तियों में वार्ता नामक अलंकार की उद्भावना करना व्यर्थ ही प्रतीत होता है।

1- काव्यादर्श' 3/128

2- विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी।
असावतिशयोक्तिः स्यादलंकारोत्तमा यथा।।' वही (2/214)
अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्।।' वही (2/220)

3- वही, 1/89 4- वही' 1/92

काव्यों के रसज्ञ होते हैं इसमें किसी की विप्रतिपत्ति नहीं है—'वैकटिका एव हि रत्नतत्त्वविदः, सहृदया एव हि काव्यानां रसज्ञा इति कस्यात्र विप्रतिपत्तिः ?'[1] इस बात को सम्मति स्वयं दण्डी भी देते हैं —

'न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदङ्गैः काव्यं न दुष्यति ।
यद्युगतेषु सम्पत्तिरारावयति तद्विदः[2] ।।'

तथा — 'तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलुकीर्तिमीप्सुभिः ।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमाः विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते[3] ।।'

इस प्रकार यह स्वीकार करते हुए भी कि काव्य विदग्धों के लिए होता है उन्हें साधारण जनों के स्तर पर उतर आना पड़ता है जब वे स्वभावोक्ति या कान्तगुण की बात करते हैं । स्वभावोक्ति के विषय में जब वे कहते हैं —

'शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम्।'[4] ऐसा लगता है मानों काव्य में इसकी अभीष्टता बताते हुए डर रहे हैं[5] । इसी तरह जब कान्त का लक्षण करते हैं —

'कान्तं सर्वजगत्कान्तम् लौकिकार्थानतिक्रमात्[6] ।' तो यह सोच कर कि विदग्धजन कहीं उपहास न कर बैठें तुरन्त कह देते हैं —

'तच्च वार्त्ताभिधानेषु वर्णनास्वपि दृश्यते।'[7]

इस प्रकार दण्डी तथा भामह का विवेचन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जिस युग में इन दोनों आचार्यों का आविर्भाव हुआ उस समय काव्य क्षेत्र में वक्रोक्ति का बोलबाला था । भामह तो पूर्णतया वक्रोक्ति के ही समर्थक रहे । दण्डी ने उससे केवल विदग्ध जनों के ही तोष आदि की बात कही और स्वभावोक्ति को भी अलंकार कोटि में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया । इसी लिए जब वे अतिशयोक्ति को समस्त अलंकारों में

1- ध्वन्या०, पृ० 519

2- काव्यादर्श १।२०

3- काव्यादर्श, १।१०५

4- वही, २।१३

5- इसी लिए सम्भवतः डा० राघवन को इसकी संगति लगानेके लिए यहाँ इसे शिथिल प्रयोग कहना पड़ा — "Dandin uses the word Svabhavokti or Jati loosely when he says — 'शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यम्' — he refers here to Varta only." — Some Concepts — (P. 96)

6- काव्यादर्श, १।८५

7- वही, १।८५

अद्वितीय आश्रयता की बात कह कर वाङ्मय को स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति दो भागों में विभाजित करते हैं तो स्वतः वदतोव्याघात दोष झलक पड़ता है। उन्हों ने यदि इतने ज़ोर दार शब्दों में कि —

'कोऽलंकारोऽनया विना' नहीं कहा फिर भी उन्हें इतना तो कहना ही पड़ा कि —

'अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम् ।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ।।'[1]

जिस अतिशयोक्ति को दण्डी ने यहाँ अन्य अलंकारों का अद्वितीय परायण बताया है वह निश्चय ही भामह की वक्रोक्ति से अभिन्न है । और इस दृष्टि से जब डा० राघवन डा० डे का खण्डन करते हुए यह कहते हैं कि स्वभावोक्ति को दण्डी ने प्रथम अलंकार इस लिए कहा कि उसमें वक्रता अत्यल्प मात्रा में या सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहती है, तो इनका कुन्तक के कथन से भेद कैसे रहा ? अथवा जैसा कि पहले भामह का स्वभावोक्ति के विषय में अभिमत प्रतिपादित किया गया है कि भामह पहले तो स्वभावोक्ति को अलंकार मानते नहीं और यदि यथाकथञ्चित् उसका अलंकारत्व स्वीकार करते भी हैं तो वक्रता के ही कारण उपचार से, 'उसमें कोई भेद नहीं रह जाता'[2] । क्योंकि वक्रोक्तिवादी आचार्यों को तो यही अभिप्रेत है कि अलंकार बिना वक्रोक्ति के असम्भव है अतः यदि स्वभावोक्ति को भी वक्रता के कारण ही यदि अलंकार कहने मात्र का आग्रह है तो कोई हर्ज़ नहीं ।

1- काव्यादर्श, 2/20

2- "Nor is the attribute 'आद्या अलंकृतिः' applied by Dandin to Svabhāvokti a sign of his partiality for it. The attribute only means that in the field of poetic-expression where Vakrokti rises gradually Svabhāvokti stands first or at the bottom involving least Vakratā, it is the starting point, the ground for Vakrokti to come into further play."
— Some Concepts - (P. 102)

आचार्य उद्भट एवं वक्रोक्तिसिद्धान्त

आचार्य उद्भट के विषय मे विभिन्न संस्कृत ग्रन्थों मे किए गए उल्लेख से यह पता चलता है कि उन्हो ने 'काव्यालंकारसारसंग्रह' के अतिरिक्त भामह के काव्यालंकार पर 'भामह विवरण' नामक व्याख्या भी लिखी थी । उद्भट का वह ग्रन्थ आज अनुपलब्ध है, अन्यथा निश्चित रूप से उनके वक्रोक्ति-विषयक अभिमत का निरूपण किया जा सकता था। भामह ने तो वक्रोक्ति का अनेकशः उल्लेख किया है, दण्डी ने भी उसे एकाधी स्थान पर सही, उसका प्रयोग किया, जिससे कि उनका मन्तव्य स्पष्ट रहा । परन्तु बड़े ही आश्चर्य की बात तो यह है कि भामह के ही ग्रन्थ पर भाष्य लिखने वाले उद्भट विद्वान् उद्भट ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकारसारसंग्रह' मे कहीं भी वक्रोक्ति की चर्चा नही की । अलंकार का स्वरूप क्या है ?यह भी उन्हो ने कहीं नहीं बताया । केवल छः वर्गों मे प्रत्येक के प्रारम्भ मे कुछ अलंकारो के समूहों का उल्लेख कर तदनन्तर उनके लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत कर दिए है । प्रथम वर्ग मे आठ, द्वितीय मे छः, तृतीय मे तीन, चतुर्थ मे सात, पंचम मे ग्यारह और षष्ठ मे छः इस प्रकार 41 अलंकारो का विवेचन है । का०सा०सं० मे उद्भट ने प्रायशः भामह द्वारा स्वीकृत अलंकारों का ही विवेचन किया है यहाँ तक कि क्रमसाम्य भी बहुत है। परन्तु परिवर्तन इस प्रकार है— भामह द्वारा उल्लिखित 1- यमक 2- उपमारूपक 3-उत्प्रेक्षावयव तथा 4- आशीः— चार अलंकारो का उद्भट उल्लेख नही करते । इसके अतिरिक्त वे भामह द्वारा अनुल्लिखित 1- पुनरुक्तवदाभास 2- छेकानुप्रास 3- लाटानुप्रास 4- संकर 5- काव्य-दृष्टान्त तथा 6- काव्यलिङ्ग —अन्य छः अलंकारो का अधिक उल्लेख करते है ।

अलंकारस्वरूप

उद्भट के अलंकार का स्वरूप क्या था ? यह तो का.सा.सं. मे सुस्पष्ट ढंग से उल्लिखित नही है । परन्तु उनके विषय मे अन्यत्र उपलब्ध उल्लेखो मे उनके द्वारा अभिमत-जो अलंकार-स्वरूप सामने आता है वह कुछ इस प्रकार का है । दण्डी और भामह की भाँति उद्भट ने भी अलंकार को काव्य के शोभाधायक तत्त्व के रूप मे स्वीकार किया था । उनके अलंकार का स्वरूप भी बहुत ही व्यापक था । जिसमे रस, गुण आदि अन्य तत्त्व अन्तर्भूत थे । रस की अलंकारता तो उद्भट के रसवदलंकार के स्वरूप मे सुस्पष्ट ही है । वे कहते है —

> 'रसवद्दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसोदयम् [1] ।
> स्वशब्दस्थायि-संचारिविभावाभिनयास्पदम्।।'

1- का.सा.सं. पृ० 52

रही गुणों की बात, वह रुय्यक के अधोलिखित कथन से अत्यन्त स्पष्ट है —

'उद्भटादिभिस्तु गुणालंकाराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम् ।
विषयमात्रेण भेदप्रतिपादनात्। सङ्घटना धर्मत्वेन चेष्टेः ।।'[1]

अर्थात् उद्भट आदि की दृष्टि में गुण और अलंकार समान ही थे । इतना ही नहीं उनमें भेद करना उनकी दृष्टि में गड्डलिकाप्रवाह या भेड़चाल थी । मम्मट ने उनका मत उद्धृत किया है —

'समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादय इत्यस्तुगुणालंकाराणां भेदः, ओजः-प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनाञ्चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवेषाभेदः'[2]

अर्थात् यदि हम मनुष्यों के शौर्यादि गुणों और हारादि अलंकारों में भेद करें तो वह ठीक है क्यों कि शौर्यादि गुण आत्मा में समवाय सम्बन्ध से तथा हारादि अलंकार संयोग सम्बन्ध से विद्यमान रहते हैं । परन्तु काव्य में गुणों और अलंकारों का भेद करना एक अन्धानुकरण ही है क्यों कि यहां ओजस् इत्यादि गुण तथा अनुप्रासादि अलंकार उभय ही समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहते हैं ।

अतः अलंकार के व्यापक स्वरूप के दृष्टिकोण से उद्भट भी भामह व दण्डी के साथ हैं । इनके भी अलंकार की परिधि में रस, गुण आदि अन्य तत्व अन्तर्भूत हैं ।

वक्रोक्ति, अलंकार और स्वभावोक्ति

अब प्रश्न सामने आता है कि वक्रोक्ति अलंकार, और स्वभावोक्ति का कैसा सम्बन्ध भट्टोद्भट ने प्रतिपादित किया था ? भामह ने तो सुस्पष्ट ही स्वभावोक्ति की अलंकारता स्वीकार करने में अपनी असहमति दिखायी । दण्डी ने सबल शब्दों में उसे स्वीकार किया। परन्तु अब उद्भट जिस ढंग से स्वभावोक्ति को प्रस्तुत करते हैं उससे यही प्रतीति होती है कि स्वभावोक्ति की अलंकारता उन्हें भी स्वीकार है । उन्होंने व्यापार में प्रवृत्त बाल मृगादिकों के उनकी जाति के अनुरूप अभिनिवेश-विशेषों के उपनिबन्धन को स्वभावोक्ति कहा है ।उनका लक्षण है —

'क्रियायां सम्प्रवृत्तस्य हेवाकानां निबन्धनम् ।
कस्यचिद् मृगडिम्भादेः स्वभावोक्तिरुदाहृता।।'[3]

1- अलं. स. पृ0 9
2- का.प्र., पृ0 389
3- का.सा.सं.पृ0 49

निश्चय ही उद्भट ने स्वभावोक्ति का क्षेत्र भामह व दण्डी की अपेक्षा संकुचित किया है । क्यों कि जहाँ दण्डी ने 'पदार्थों के विभिन्न अवस्थाओं वाले रूप के साक्षात् वर्णन को' तथा भामह ने 'पदार्थों की तदवस्थता के वर्णन को' स्वभावोक्ति कह कर इसके क्षेत्र को अत्यधिक विस्तृत बनाया था वहीं उद्भट ने केवल 'व्यापार में प्रवृत्त बाल मृगादिकों के समुचित अभिनिवेश-विशेषों के वर्णन को स्वभावोक्ति कहा है। उद्भट के टीकाकार राजानक तिलक ने इसी कारण इसको अलंकारता ही स्वीकार की ।उनका कहना है —

'व्यापारप्रवृत्तस्य बालमृगादेः समुचितचेष्टाकनिबन्धनं स्वभावोक्तिः न तु स्वभावमात्र-कथनम् ।'[1]

जब कि दूसरे टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज ने पदार्थों के असाधारण स्वरूप के ध्वनित होने के कारण अलंकारता मानी — 'तस्याश्चालंकारत्वमसाधारणपदार्थस्वरूपध्वननात्'[2] ।

अब रही वक्रोक्ति की बात, उसका दण्डी ने कहीं नाम लिया हो नहीं, और न दण्डी की भाँति अतिशयोक्ति को ही समस्त अन्य अलंकारों के अद्वितीय परायण-रूप में प्रतिष्ठित किया अतः दण्डी में जो वदतोव्याघात दोष आ गया था उससे तो ये बचे रहे । परन्तु पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत तथा भामह द्वारा अस्वीकृत हेतु, सूक्ष्म, लेश तथा आशीः अलंकार का वर्णन किस कारण इन्हों ने नहीं किया, कुछ स्पष्ट नहीं । साथ ही भामह के क्रमानुसार ही अलंकारों का वर्णन करते हुए इन्हों ने यमक, उपमा-रूपक और उत्प्रेक्षावयव का तिरस्कार किस आधार पर किया जब कि भामह ने इन्हें स्वीकार किया था ।और जब कि उद्भट छेकानुप्रास व लाटानुप्रास को अनुप्रास से पृथक अलंकार रूप में वर्णित करते हैं तथा भामह द्वारा उपमा के भेद रूप में वर्णित प्रतिवस्तूपमा को स्वतंत्र अलंकार के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं । अतः यह तर्क तो दिया ही नहीं जा सकता कि उत्प्रेक्षावयव को उन्हों ने उत्प्रेक्षा में तथा उपमारूपक को रूपक अथवा उपमा में अन्तर्भूत कर लिया होगा । साथ ही यमक जैसे अलंकार का जिसका कि वर्णन आचार्य भरत से लेकर प्रायः बाद के सभी आचार्यों ने किया है उद्भट ने नाम ही नहीं लिया । इन सभी शंकाओं का उत्तर शायद 'भामह-विवरण' के उपलब्ध होने पर दिया जा सकता । सम्भव है कि भामहालंकार की व्याख्या करते हुए उद्भट ने हेत्वादि की

1- तिलक, पृ० 31

2- लघुवृत्ति, पृ० 49

अलंकारता का खण्डन भामह के अनुसार ही किया हो । उनमें किसी भी प्रकार की विप्रतिपत्ति न दिखाई हो । साथ ही भामह द्वारा परिगणित जिन अलंकारों का इन्होंने उल्लेख नहीं किया उनकी अलंकारता का वहीं खण्डन कर चुके हो । अतः पुनः पिष्टपेषण उचित न समझा होगा ।

अब रही वक्रोक्ति की बात, वह तो उद्भट के प्रकृत ग्रन्थ में स्पष्टतः उल्लिखित नहीं है। हाँ, इनके टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज ने केवल दो स्थलों पर 'वक्रभणिति' का प्रयोग किया है। इतना तो सुनिश्चित ही है कि प्रतीहारेन्दुराज के सामने उद्भट का 'भामह-विवरण' विद्यमान था । अतः इनकी वक्रोक्ति-विषयक धारणा से वे अवश्य ही परिचित रहे होंगे । यहाँ जो कुछ भी उद्भट के विषय में निष्कर्ष प्रस्तुत किया जा रहा है वह इसी बात को स्वीकार कर कि निश्चय ही प्रतीहारेन्दुराज ने उद्भट के 'भामहविवरण' का सम्यक् अध्ययन कर उनके अलंकारों की व्याख्या उनके मन्तव्यों के अनुसार ही प्रकृत ग्रन्थ में प्रस्तुत की होगी । जिन उद्धरणों के बल पर उद्भट की वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति विषयक धारणा की कल्पना प्रस्तुत की जा रही है उससे निश्चित रूप से इन्दुराज द्वाराउद्भावित उद्भट-विरोधी कोई सिद्धान्त नहीं प्रतीत होता । वस्तुतः उद्भट ने भी किसी अलंकार का अलंकारत्व वक्रोक्ति के कारण ही स्वीकार किया था । सहोक्ति की अलंकारता का प्रतिपादन करते हुए इन्दुराज ने दिखाया है कि जिस समय सह आदि शब्दों के द्वारा भिन्न आश्रयगत क्रियाओं की तुल्यकालता द्योतित होती है उस समय दो स्थितियाँ सम्भव होती हैं । पहली स्थिति तो वह होती है जहाँ जिन क्रियाओं की तुल्यकालता होती है वे समान रूप से अपने अपने आश्रयों में विश्रान्त होती हैं, जैसे 'देवदत्त और यज्ञदत्त साथ भोजन करते हैं। 'देवदत्तयज्ञदत्तौ सह भुञ्जाते' इस वाक्य में । और दूसरी स्थिति वह होती है जहाँ क्रिया एक ही आश्रय में विश्रान्त हो जाती है किन्तु 'सह' इत्यादि अर्थों की पर्यालोचना करने से अन्य आश्रय का भी क्रिया से सम्बन्ध द्योतित होता है, जैसे 'देवदत्त यज्ञदत्त के साथ भोजन कर रहा है। 'देवदत्तो यज्ञदत्तेन सह भुङ्क्ते'। इस वाक्य में इन्दुराज ने इसी दूसरी स्थिति की अलंकारता स्वीकार की है क्योंकि इसमें वक्रोक्ति का सद्भाव होता है —

1- देखें लघुवृत्ति, पृ० 14

'तत्रेह द्विवतोया गतिराश्रीयते शाब्देन रूपेणैकत्र क्रियासम्बन्धस्य प्रतीतस्यापरत्रार्थेन रूपेणोन्नोयमानत्वेन वक्रभणितेः सद्भावात्। एवंविषस्य यत्रैव शोभातिशयविधायित्वं तत्रैव सहोक्तेरलंकारता न सर्वत्रेति द्रष्टव्यम् ।'[1]

इन्दुराज का यह कथन भामह के 'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः' इत्यादि कथन के विषय मे उद्भट की प्रायेण सहमति को भी व्यक्त करता है। अलङ्कार का अलङ्कारत्व वक्रोक्ति के सद्भाव में ही है, अन्यथा नही । वक्रोक्ति के द्वारा ही शोभातिशयविधायित्व(अथवा भामह के शब्दो मे अर्थ का विभावन)सम्भव है।

इसी तरह आक्षेप की अलंकारता भी इन्दुराज ने साफ शब्दो मे वक्रोक्ति के कारण ही मानी है । आक्षेपालंकार वहा होता है जहां वैशिष्ट्य को प्रतिपादित करने की इच्छा से अभीष्ट का प्रतिषेध सा किया जाता है । वस्तुतः अभीष्ट का निषेध नही किया जाता बल्कि निषेध सा किया जाता है उसी निषेध के द्वारा और भी विशिष्ट रूप से उस अभीष्ट का प्रतिपादन कर दिया जाता है।यही तो वक्रता है और इसी से आक्षेप का अलंकारत्व है । इन्दुराज का कथन है ——

'इह काचिद् वक्रभणितिसद्भाविषा सम्भवति यस्यां विधित्सितोऽर्थो निषेधव्याजेन संक्षिप्यते न तु निषिध्यते।'[2]

अतः निष्कर्ष सामने आता है कि उद्भट ने भी भामह की ही भांति वक्रोक्ति को समस्त अलंकारो का प्राण स्वीकार किया होगा बिना वक्रोक्ति के अलंकारत्व उनकी दृष्टि मे भी असम्भव रहा होगा ।

परन्तु एक प्रश्न सामने अनायास ही उठ खड़ा होता है,वह यह कि उद्भट ने स्वभावोक्ति की अलंकारता फिर कैसे स्वीकार की ?यदि 'भामह-विवरण' उपलब्ध होता तो शायद इसका उत्तर अधिक सन्तोषजनक रूप मे दिया जा सकता । परन्तु उसके अभाव मे, उद्भट के स्वभावोक्ति के लक्षण और टीकाकारो के विवेचन को ध्यान मे रखते हुए यही उत्तर दिया जा सकता है कि उद्भट ने स्वभावोक्ति की अलंकारता भी वक्रोक्ति के कारण ही मानी थी ।[3] जहां दण्डी ,भामह आदि पूर्ववर्ती आचार्य यथातथ स्वभाववर्णन को अलंकार मान बैठे थे वहां उद्भट ने उसके विशाल क्षेत्र को

1- लघुवृत्ति,पृ० 73　　　　2- वही, पृ० 3।

3- इस अध्याय मे जहां कहीं भी भामह के स्वभावोक्ति अलंकार के स्वरूप की चर्चा की गई है उसका आशय यह कदापि नही है कि भामह को स्वभावोक्ति अलंकार मान्य था।वस्तुतः भामह ने अपने पूर्वाचार्यों के स्वभावोक्ति के स्वरूप को प्रस्तुत किया है। पर उन पूर्वाचार्यों का स्पष्ट उल्लेख न होने के कारण यहां उन्ही पूर्ववर्ती द्वारा स्वीकृत स्वभावोक्ति को 'भामह की स्वभावोक्ति' कहा है।उसका आशय केवल इतना है कि स्वभावोक्ति का जो स्वरूप भामह के समय तक प्रतिपादित किया गया था वह स्वरूप,और इससे अधिक कुछ नही।

इयत्ता से अवच्छिन्न कर केवल क्रिया में सम्प्रवृत्त बाल मृगादिकों के (वैचित्र्यजनक) अभिनिवेशविशेषों के वर्णन रूप में स्वभावोक्ति अलंकार माना । और इसी कारण राजानक तिलक को यह कहने का मौका मिला कि —

'व्यापारप्रवृत्तस्य बालमृगादेश्च समुचितहेवाकनिबन्धनं स्वभावोक्तिर्नतु स्वभावमात्रकथनम् ।'[1]

तिलक का 'समुचित' पद से आशय वैचित्र्यजनक से ही है। क्यों कि यदि अनुचित का वर्णन किया जायगा तो वह वैचित्र्यजनक होने के कारण सहृदयों को आह्लादित करने में समर्थ नहीं हो सकेगा । प्रतीहारेन्दुराज ने भी स्वभावोक्ति की अलंकारता पदार्थ के असाधारण स्वरूप के ध्वनित होने के कारण स्वीकार की जो कि वक्रोक्ति के द्वारा ही सम्भव है क्योंकि साधारण स्वरूप का कथन तो सामान्य अथवा साधारण उक्ति के द्वारा सम्भव हो सकता है लेकिन असाधारण स्वरूप का ध्वनन तो असाधारण उक्ति ही कर सकती है और वह असाधारण उक्ति जो वस्तु के असाधारण स्वरूप को ध्वनित करने में समर्थ होगी निश्चय ही वक्रोक्ति होगी । आचार्य का 'ध्वननात्' पद का प्रयोग इसको प्रबल पुष्टि करता है। सामान्य उक्ति के लिए 'कथनक' 'कथनात्' इत्यादि का प्रयोग किया होता । उनका कथन है -

'तस्यास्त्वालंकारत्वमसाधारणपदार्थस्वरूपध्वननात्'[2]

अतः कहा जा सकता है कि 'स्वभावोक्ति' की अलंकारता को स्वीकार करते हुए भी उद्भट भामह के ही अधिक निकट हैं। दण्डी के नहीं । दण्डी स्वभावोक्ति को वक्रोक्ति से सर्वथा पृथक स्वीकार करते हैं जब कि उद्भट स्वभावोक्ति का अन्तर्भाव भी वक्रोक्ति में ही कर लेते हैं । स्वभावोक्ति की अलंकारता वक्रता के कारण ही है ।

(घ) आचार्य वामन एवं वक्रोक्ति सिद्धान्त

आचार्य उद्भट एवं वामन को प्रायः विद्वानों ने समसामयिक स्वीकार किया है। वामन का अलंकारशास्त्रसम्बन्धी एक मात्र ग्रन्थ 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' है। अपने ही सूत्रों पर स्वयं वामन की वृत्ति है, जिसमें उदाहरण विभिन्न ग्रन्थों से संग्रहीत है।

1- तिलक, पृ० 31

2- लघुवृत्ति, पृ०49

अलंकारस्वरूप

अभी तक हमने यह देखा कि भामह, दण्डी एवं उद्भट ने अलंकारशब्द का एक व्यापक अर्थ मे ही प्रयोग किया था। यद्यपि भामह और उद्भट ने दण्डी की भांति 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते' जैसा सुस्पष्ट उल्लेख नही किया फिर भी उनके विवेचन का यही सारांश है, यह स्पष्ट किया जा चुका है। इस प्रकार स्पष्ट रूप से अलंकार शब्द का प्रयोग इन आचार्यों ने काव्यसौन्दर्य के साधन रूप मे ही किया है। परन्तु वामन ऐसे प्रथम आलंकारिक हैं जिन्होने अलंकार शब्द का दो भिन्न अर्थों मे स्पष्ट प्रयोग किया। वामन के अलंकार शब्द का एक तो अत्यन्त व्यापक अर्थ है जो कि समग्र 'काव्यसौन्दर्य' का वाचक है, वह साध्य रूप है। और उसका दूसरा अर्थ जिसे कि पहले अर्थ की अपेक्षा संकीर्ण कहा जा सकता है वह है काव्यसौन्दर्य के साधनभूत उपमा आदि अलंकार। वस्तुतः वामन का यह संकीर्ण अलंकार स्वरूप भामह दण्डी आदि के व्यापक अलंकार स्वरूप को ही प्रस्तुत करता है। यद्यपि भामह तथा दण्डी मे भी कुछ स्थलों पर वामन के अत्यन्त व्यापक अलंकारस्वरूप की ओर संकेत प्राप्त होता है पर वह वामन जैसा सुस्पष्ट नही है। उदाहरणार्थ भामह जब 'वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते' या कि 'कोऽलंकारोऽनया विना' कहते हैं तो यहाँ 'अलंकार' शब्द से उक्त साध्य रूप अलंकार का संकेत ग्रहण किया जा सकता है। इसी प्रकार दण्डी के 'न दोषः पुनरुक्तोऽपि प्रत्युतेयमलंक्रिया' आदि कथन मे अलंक्रिया शब्द से भी उसी साध्य रूप की ओर संकेत स्वीकार किया जा सकता है। अस्तु,

वामन का कथन है —

'सौन्दर्यमलंकारः। अलंकृतिरलंकारः। करणव्युत्पत्त्या पुनरलंकारशब्दोऽयमुपमादिषु वर्तते।'[1][2]

वामन के अनुसार काव्य की ग्राह्यता अलंकार से ही है। 'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्'। निश्चय ही ऐसा कहने मे वामन, भामह और कुन्तक के साथ है। वस्तुतः वामन की दृष्टि मे यदि काव्य शब्द का प्रयोग केवल शब्द और अर्थ के लिए किया जाता है तो उपचारतः ही। मुख्यतः तो गुणों एवं अलंकारों से संस्कृत ही शब्द और अर्थ काव्य होते हैं।[3] वामन का यह कथन निश्चय ही कुन्तक के इस कथन से पूर्ण साम्य प्रस्तुत करता है—[4]

'तस्य सालंकारस्य काव्यता।।'

वामन का संकीर्ण अर्थ मे प्रयुक्त होने वाला अलंकार शब्द ठीक वही अर्थ रखता जोकि भामह का वक्रोक्ति शब्द तथा दण्डी का अलंकार शब्द क्यों कि जिस प्रकार से भामह के वक्रोक्ति तथा दण्डी के अलंकार मे गुण, रस तथा उपमादि अलंकार अन्तर्भूत है वैसे ही वामन के इस संकीर्ण अर्थ मे प्रयुक्त अलंकार शब्द मे है। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि वह व्यापक साध्य रूप अलंकार दोषों के परित्याग तथा गुणों एवं अलंकारों के ग्रहण करने से

1- का.सू.वृ. 1/1/2तथा वृत्ति   2- वही, 1/1/1

3- 'काव्य शब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते। भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते।' का०सू० 1/1/1 पर वृत्ति

4- व.जी. 1/6

कवियो द्वारा सम्पादनीय होता है — 'स दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम् । स खल्वलंकारो दोषहानात् गुणालंकारादानाच्च सम्पाद्यः कवेः[1] ।' इससे स्पष्ट हो जाता है कि वामन के संकीर्ण अलंकार मे ही श्लेष आदि गुण तथा उपमा आदि अलंकार सभी अन्तर्भूत हैं। कोई यह कह सकता है कि यहाँ वामन ने गुणों और अलंकारों की चर्चा तो की पर रसों का कोई उल्लेख ही नहीं किया अतः रस निश्चय ही अलंकार कोटि से बाहर है । वस्तुतः ऐसी बात नहीं । दण्डी, भामह तथा उद्भट ने रसो को रसवदलंकार मे अन्तर्भूत किया था । परन्तु वामन ने कोई रसवत् नाम का अलंकार तो माना नही अतः उन्हो ने रसों का अन्तर्भाव 'कान्ति' नामक अर्थ गुण मे किया है। उनका कहना है —

'दीप्तरसत्वं कान्तिः । दीप्ता रसाः श्रृंगारादयो यस्य स दीप्तरसः, तस्य भावो दीप्तरसत्वं कान्तिः[2] ।'

वस्तुतः भामह तथा उद्भट ने रसो, गुणो एवं अलंकारो को समान प्राधान्य दिया था। उनकी दृष्टि मे जो महत्त्व रसो एवं गुणो का था वही महत्त्व अलंकारो का भी था। यही कारण है कि कुन्तक को उनके इस मन्तव्य की आलोचना करनी पड़ी[3] । दण्डी ने अन्य अलंकारो की अपेक्षा गुणो का कुछ वैशिष्ट्य तो प्रतिपादित किया साथ ही माधुर्य गुण के साथ रसो का सम्बन्ध जोड़ कर रसो का भी अलंकारो की अपेक्षा वैशिष्ट्य दिखाया, परन्तु रसो अथवा गुणो को वह प्राधान्य न दे सके जो कि वामन ने दिया। वामन की दृष्टि मे गुण काव्यशोभा के उत्पन्न करने वाले धर्म होने के कारण नित्य होते है। जबकि उपमादिक उस काव्यशोभा के अतिशय के हेतु होने के कारण अनित्य होते है । काव्यशोभा यमक उपमा आदि अलंकारो का अभाव होने पर भी गुणो का ही सद्भाव होने से विद्यमान रहती है, परन्तु यदि गुणो का अभाव रहा तो लाख यमकादि के विद्यमान रहने पर भी काव्यशोभा नही आ सकती । यही गुणो का अलंकारो से व्यतिरेक है[4] । उन्हो ने गुणो एवं अलंकारो का भेद दिखाते हुए जिन दो श्लोको को उद्धृत किया है वे इस प्रकार है —

1- का. सू. वृ. 1/1/3 तथावृत्ति
2- वही, 3/2/15 तथा वृत्ति
3- देखे व.जी. रसवदलंकार का विवेचन
4- देखे का. सू. वृ. 3/1/1-3 तथा वृत्ति

'युवतेरिव रूपमङ्ग ! काव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव ।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलंकारविकल्पकल्पनाभिः ।
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः ।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते ।।'[1]

साथ ही 'कान्तिगुण' के अन्तर्गत रसों का तथा 'अर्थव्यक्ति' गुण के अन्तर्गत 'स्वभावोक्ति' का अन्तर्भाव करते हुए उन्हें यमक उपमा आदि अलंकारों की कोटि से बहुत ऊँचे स्थापित किया है । इतना होते हुए भी वामन अलङ्कार्य और अलङ्कार का अपोद्धार बुद्धि से विवेचन करने में सफल नहीं हो सके ।

वक्रोक्ति एक अर्थालंकार विशेष

अभी तक हमने यह देखा कि भामह व दण्डी ने वक्रोक्ति का प्रयोग अलंकारसामान्य के लिए ही किया था । उद्भट की भी यही मान्यता रही । परन्तु वामन ने इस मन्तव्य के विषय में क्रान्ति पैदा कर दी । भामह आदि द्वारा स्वीकृत वक्रोक्ति के अर्थ में तो उन्होंने अलंकार शब्द का प्रयोग किया, यहाँ तक तो ठीक था । परन्तु वक्रोक्ति को इन्होंने एक दम संकीर्ण कर दिया एक अर्थालंकार विशेष के रूप में प्रतिपादित कर । इसका लक्षण है –

'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः'[2]

लक्षणा के बहुत से निमित्त बताये गये हैं जैसे अभिधेय के साथ सामीप्य, सारूप्य (अथवा सादृश्य) समवाय तथा वैपरीत्य सम्बन्ध अथवा क्रियायोग आदि –

'अभिधेयेन सामीप्यात् सारूप्यात् समवायतः ।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पंचधा मता[3] ।।

यहाँ वामन ने वक्रोक्ति अलंकार वहीं माना जहाँ केवल सादृश्य के कारण लक्षणा प्रवृत्त होती है । उन्होंने इसका उदाहरण दिया –

'उन्मिमील कमलं सरसीनां कैरवं च निमिमील मुहूर्तात् ।'

यहाँ 'उन्मीलन' और 'निमीलन' नेत्र के धर्म हैं वे कमल और कैरव में कैसे सम्भव हो सकते हैं? अतः मुख्यार्थ-बाध होता है और सादृश्य सम्बन्ध से लक्षणा के द्वारा 'खिलने' और 'संकुचित' होने का अर्थ लक्षित होता है । अतः यहाँ वक्रोक्ति है । अब समस्या सामने आती है कि वामन ने ऐसा क्यों किया ? वस्तुतः वामन के पूर्व अथवा उनके

1- का.सू.वृ. 3/1/2 पर वृत्ति
2- वही, 4/3/8
3- उद्धृत लोचन पृ0 28

समय तक अभिधा, लक्षणा व गौणी वृत्तियाँ ही प्रसिद्ध थी । अभिधा के द्वारा बोधित होने वाला अर्थ अभिधेयार्थ अथवा वाच्यार्थ, लक्षणा के द्वारा बोधित होने वाला अर्थ लाक्षणिक अर्थ या लक्ष्यार्थ और गौणी वृत्ति के द्वारा बोधित होने वाला अर्थ गौणार्थ कहा जाता है था । उनमें वाच्यार्थ की अलंकारता तो सर्वमान्य थी ही जैसा कि आनन्दवर्धन के इस कथन से भी स्पष्ट होता है कि —

' तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः[1]।'

परन्तु गौण अर्थ तथा लाक्षणिक अर्थ की अलंकारता किसी ने साफ शब्दों में प्रतिपादित नहीं की थी। वामन ने इन दोनों अर्थों की भी अलंकारता निर्धारित किया । गौण अर्थ की अलंकारता रूपकादि के रूप में निर्धारित की —

' उपमानेनोपमेयस्य गुणसाम्यात्तत्त्वारोपो रूपकम्[2]।'

अब शेष बचा लाक्षणिक अर्थ, उसे उठाकर वक्रोक्ति अलंकार के रूप में स्थिर कर दिया । वक्रोक्ति अलंकार की अवतरणिका के रूप में वामन का स्पष्ट कथन है —

यथा च गौणस्यार्थस्यालंकारत्वं तथा लाक्षणिकस्यापीति दर्शयितुमाह—'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः'[3]।

वामन के इस कथन को गोपेन्द्र त्रिपुरहर ने अपनी कामधेनु टीका में और भी स्पष्ट कर दिया है। उनका कथन है —

'यथा मुखचन्द्रादौ गुणयोगादागतस्य गौणार्थस्य रूपकाद्यलंकारता, तथा लक्षणातः प्रतिपन्नस्य लाक्षणिकार्थस्य वक्रोक्त्यलंकारता भवतीति तात्पर्यार्थः[4]।

इस प्रकार जिसे वामन ने वक्रोक्ति कहा है उसे दण्डी ने समाधि गुण के रूप में प्रतिष्ठित किया था । दण्डी के अनुसार जहाँ अन्य के धर्म का उससे भिन्न में सम्यक् आधान किया जाता है वहाँ समाधि गुण होता है । जैसे 'कुमुदानि निमीलन्ति कमलान्युन्मिषन्ति च' में निमीलन और उन्मेष रूप नेत्रों के धर्मों का कुमुद और कमल में आधान किया गया है ।

1- ध्वन्या. 1/3
2- का.सू.वृ. 4/3/6
3- वही, 4/3/8 की पूर्व वृत्ति
4- कामधेनु, पृ० 133

'अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना ।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा ।।'[1]

वस्तुतः वामन का यह प्रस्थान आगे के किसी भी आचार्य को मान्य नहीं हो सका । हाँ, भोज के 'शृंगारप्रकाश' तथा शारदातनय के 'भावप्रकाशन' में —

'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।
सैषाविदग्धवक्रोक्तिजीवितं वृत्तिरिष्यते ।।' यह श्लोक उद्धृत मिलता है। परन्तु वहाँ लक्षणा का आशय केवल सादृश्यनिबन्धना हो लक्षणा से नहीं है[2]। इतना तो स्पष्ट है ही कि वामन ने वक्रोक्ति अलंकार की कल्पना लाक्षणिक अर्थ को अलंकारता सिद्ध करने के लिए ही किया है । पर उन्होंने केवल सादृश्यनिबन्धना लक्षणा का ही ग्रहण क्यों किया, वैपरीत्यादि निमित्तों से होने वाली लक्षणा को क्यों छोड़ दिया—यह कुछ स्पष्ट नहीं[3]। सम्भव है कि उपमा के प्रपञ्च रूप में वक्रोक्ति अलंकार का भी निरूपण होने के कारण उन्होंने केवल सादृश्य सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा का ग्रहण किया हो क्यों कि उपमा सादृश्य में ही होती है ।

<u>उक्तिवैचित्र्य रूप माधुर्य गुण</u>

इस प्रकार वामन ने वक्रोक्ति को एक अर्थालंकार विशेष के रूप में प्रतिष्ठित कर उसे नवीन स्वरूप प्रदान कर क्रान्ति तो पैदा की ही, साथही माधुर्य अर्थ गुण का स्वरूपभी कुछ ऐसा प्रतिपादित किया जो कम क्रान्तिकारी नहीं है । प्रायः उक्ति - वैचित्र्य और वक्रोक्ति का एक ही अर्थ रहा है। उक्ति का वैचित्र्य साधारण उक्ति से भिन्न होने पर ही सम्भव है और साधारण से भिन्न उक्ति ही वक्रोक्ति है। वस्तुतः किसी काव्य का काव्यत्व उक्तिवैचित्र्य के कारण ही होता है । साधारण से भिन्न उक्ति ही काव्य हुआ करती है जैसा कि राजशेखर ने कहा है —'उक्ति विशेषः काव्यम्' (उक्ति-विशेषोकाव्यो)[4]। परन्तु वामन ने इस समस्त उक्तिवैचित्र्य को केवल माधुर्य रूप अर्थ-गुण में निहित कर दिया —

1- काव्यादर्श, 1/93

2- विस्तार के लिए देखे डा० राघवन का Bhoja's Sṛngāraprakāśa (p. 136-38)

3- सादृश्य से भिन्न निमित्तों से होने वाली लक्षणा को वे वक्रोक्ति नहीं स्वीकार करते। उनका स्पष्ट कथन है—'असादृश्यनिबन्धना तु लक्षणा न वक्रोक्तिः' (वृत्ति 4/3/8)

4- कर्पूरमंजरी 1/6

'उक्तिवैचित्र्यं माधुर्य्यम्।उक्तेर्वैचित्र्यं यत्तन्माधुर्यमिति ।'[1]
माधुर्य के इस लक्षण से वामन का क्या अभिप्राय है ? स्पष्ट नहीं । क्या उनकी दृष्टि में अन्य गुणों एवं अलंकारों में उक्ति का वैचित्र्य है ही नहीं ? अथवा कि उनका उक्तिवैचित्र्य कोई विशेष प्रकार का है ? कुछ स्पष्ट नहीं । यद्यपि इन्होंने वैचित्र्य का जो अन्यत्र प्रयोग किया है उससे यह प्रतीति नहीं होती कि इन्हें कोई विशिष्ट वैचित्र्य अभिप्रेत है । निदर्शनार्थ यमकालंकार के विषय में ये कहते हैं —

'अखण्डवर्ण विन्यासचलनं शृंखला मता ।
अनेन खलु भङ्गेन यमकानां विचित्रता ।।'[2]

तथा समस्त अलंकारों के विवेचन के अनन्तर कहते हैं — 'शब्दवैचित्र्यगर्भेयमुपमैव प्रपञ्चिता'[3] निश्चय ही उभयत्र वैचित्र्य का अर्थ असाधारणत्व अथवा चक्रत्व ही है । वैचित्र्य का यही अभिप्राय उदारता गुण के लक्षण में भी है । उनका कथन है —

'विकटत्वम् बन्धस्य कथयन्ति ह्युदारताम् ।
वैचित्र्यं न प्रपद्यन्ते यया नृत्यन्ति पदक्रमाः ।।'[4]

वस्तुतः इनका यह माधुर्य वक्रता की परिधि से बाहर नहीं ।

रीति तथा वक्रोक्ति

अब वामन की रीतियों और वक्रोक्ति के सम्बन्ध के विषय में विचार करेंगे । वामन ने रीतियों को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया । ये रीतियाँ गुणात्मक पदरचना रूप होती हैं।वामन के सूत्र हैं — 'रीतिरात्मा काव्यस्य ।', 'विशिष्टा पदरचना रीतिः ।' तथा, 'विशेषो गुणात्मा।'[5] निश्चित ही वामन की रीतियाँ बिना वक्रता के असम्भव हैं । पदरचना को विशिष्ट बताकर ही वे साधारण से असाधारण की ओर बढ़ते हैं । इसप्रकार रीतियों का मूलतत्त्व ही विशिष्टता अथवा वक्रता है।वामन ने विशेष को गुणात्मा कहा है। गुण भी वक्रोक्ति से भिन्न नहीं क्योंकि वामन के सङ्कीर्ण अर्थ वाले अलंकार के द्वारा गुण भी उसी में संग्रहीत है और ऊपर सिद्ध किया जा चुका है कि वामन का उक्त अलंकार भामह आदि द्वारा स्वीकृत वक्रोक्ति रूप ही है । — P.32

1- का. सू.वृ. 3/2/10 तथा वृत्ति
2- वही, पृ0 46
3- वही, पृ0 68
4- वही, पृ035
5- वही, 1/2/6-8

इसके अतिरिक्त लोचन में अभिनव गुप्त के विवेचन से तो यह भी स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि केवल रीतियों अथवा गुणों के लिए भी सम्भवतः वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग होता रहा है । आनन्दवर्द्धन द्वारा उद्धृत मनोरथ के —

'यस्मिन्नस्ति न वस्तु किंचन मनःप्रह्लादि सालंकृति
व्युत्पन्नै रचितञ्चनैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यञ्च यत् ।'[1] इत्यादिश्लोक में आये 'वक्रोक्ति शून्य' शब्द की व्याख्या करते हुए अभिनव ने स्पष्ट कहा है कि वक्रोक्ति का अर्थ उत्कृष्ट संघटना(अथवा वामन के शब्दों में विशिष्ट पदरचना) है, तथा उससे शून्य करने का आशय है शब्दगुणों एवं अर्थगुणों से शून्य[2]। वामन भी विशेष को गुणात्मा ही कहते हैं । इतना ही नहीं उन्होंने वक्रोक्ति का अलंकार सामान्य अर्थ लेने वालों का खण्डन भी किया है कि — 'वक्रोक्ति शून्य शब्देन सामान्य लक्षणाभावेन सर्वालंकाराभाव उक्त इति केचित् । तैः पुनरुक्तार्थं न परिहृतमेवेत्यलम्[3]।'

वामन और स्वभावोक्ति

वामन ने यद्यपि स्पष्ट शब्दों में वक्रोक्ति को सर्वालंकारसामान्य के रूप में प्रस्तुत नहीं किया । परन्तु उनके विवेचन से यह सुस्पष्ट है कि वक्रता अथवा अतिशय को वे समस्त अलंकारों का बीज स्वीकार करते हैं । वामन ने उपमा से भिन्न समस्त अर्थालंकारों को उपमा का प्रपंच कहा है यह सभी अलंकारों की मूलभूता है —

(1) 'सम्प्रत्यर्थालंकाराणां प्रस्तावः, तन्मूलञ्चोपमेति सैव विचार्यते'[4]

(2) तथा 'सम्प्रत्युपमाप्रपंचो विचार्यते, कः पुनरसावित्याह — प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपंचः ।'[5]

(3) तथा अर्थालंकारों का विवेचन समाप्त करते हुए कहते हैं —

'एभिर्निदर्शनैः स्वीयैः परकीयैश्च पुष्कलैः ।
शब्दवैचित्र्यगर्भेयमुपमैव प्रपंचिता ।।'[6]

1- ध्वन्या. पृ0 26-27
2- 'वक्रोक्तिरुत्कृष्टा संघटना।तच्छून्यमिति शब्दार्थगुणानाम् ।'लोचन, पृ0 26 27
3- वही, पृ0 26 27
4- का. सू. वृ., पृ048
5- वही, पृ0 56
6- वही, पृ068

और उपमा में अतिशय वामन को अभीष्ट है । वे स्पष्ट ही कहते हैं —'उपमाया-मतिशयस्येष्टत्वात्।'[1] जब समस्त अलंकारों की मूलभूता उपमा में ही अतिशय अभीष्ट है तो समस्त अलंकारों में अतिशय(अथवा वक्रता)की सत्ता स्वतः अर्थापत्ति के बल पर सिद्ध हो जाती है । यह बात यहाँ अवधेय है कि वामन ने हेतु, सूक्ष्म, लेश तथा आशीः की अलंकारता नहीं स्वीकार की।अलंकारों के विवेचन में वामन बहुत कुछ भामह के साथ है । दण्डी और उद्भट ने तो साफ शब्दों में स्वभावोक्ति अलंकार स्वीकार किया हो था । भामह ने भी उसका उल्लेख किया यह भले ही था कि उसकी अलंकारता स्वीकार करने में उनका अस्वारस्य रहा । परन्तु वामन तो स्वभावोक्ति अलंकार की चर्चा तक नहीं करते । यथा-कथंचित् वे स्वभावोक्ति को अर्थ-व्यक्ति नामक अर्थ-गुण द्वारा प्रस्तुत करते हैं - 'वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः'[2] इससे सुस्पष्ट है कि स्वभावोक्ति को वे साधारण यमक उपमा आदि अलंकारों की कोटि में नहीं रखते । उसे वे गुण-रूप में प्रस्तुत कर रसादि को तुल्यता प्रदान करते हैं क्योंकि रस भी तो उनके अनुसार गुणों में ही अन्तर्भूत है।— 'दीप्तरसत्वं कान्तिः'[3]।'अतः यह निश्चित रूप से स्वीकार करना पड़ेगा कि वामन का विवेचन उद्भट ,दण्डी तथा भामह की अपेक्षा उत्कृष्ट है । तभी तो कुन्तक भी स्वभावोक्ति को रस के साथ ही अलंकार्य कोटि में स्थापित करते हैं,अलंकार कोटि में नहीं ।

(ङ) आचार्य रुद्रट एवं वक्रोक्ति-निरूपण

संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के इतिहास में रुद्रट का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है । इस अध्याय में इनकी वक्रोक्ति विषयक धारणा का विवेचन इनके ग्रन्थ'काव्यालंकार' के आधार पर प्रस्तुत किया जायेगा । वैसे रुद्रभट्ट के नाम से एक 'शृङ्गारतिलक'नामक ग्रन्थ भी प्राप्त होता है। रुद्रभट्ट और रुद्रट एक ही है अथवा भिन्न-भिन्न इस विषय में विद्वानों में मतभेद है।वह विवेचन यहाँ अप्रासंगिक होने के कारण छोड़ दिया जा रहा है ।

अलंकार-स्वरूप

रुद्रट ने अलंकार का कोई स्पष्ट लक्षण नहीं दिया । परन्तु विवेचन से ऐसा स्पष्ट होता है कि वामन की ही भाँति सौन्दर्यातिशय के हेतु रूप में वे भी अलंकारों को स्वीकार

1- का.सू.वृ.,पृ0 55

2- वही, 3/2/13

3- वही, 3/2/14

करते है । सभी शब्दालंकारो का विवेचन कर चुकने के अनन्तर जब वे बारहवें अध्यायमे रसो का विवेचन प्रारम्भ करते है तो वहां पर नमिसाधु ने अपनी व्याख्या मे यह शंका उठाई कि 'अलंकारो के बीच ही रसो का परिगणन क्यो नही कर दिया गया उन्हे अलग से क्यो प्रतिपादित किया जा रहा है?' और इस शंका का समाधान वे प्रस्तुत करते है कि 'शब्द और अर्थ काव्य के शरीर है । वक्रोक्ति इत्यादि शब्दालंकार तथा वास्तव इत्यादि अर्थालंकार कटक कुण्डल की तरह ही उनके कृत्रिम अलंकार है। जब कि रस शरीरगत सौन्दर्यादि की भांति सहज गुण है अतः अलंकारो से भिन्न रूप से उनका विवेचन किया जा रहा है।[1] स्पष्ट रूप से नमिसाधु का यह व्याख्यान वामन से मेल खाता है । वामन ने भी तो अलंकारो को सौन्दर्यातिशय का हेतु ही स्वीकार किया है । नमिसाधु ने रसो को सहज गुण कहा है वामन ने भी गुणो को काव्यशोभा का उत्पादक धर्म स्वीकार किया था और उन्ही गुणो मे ही रसो का 'दीप्तरसत्वं कान्तिः' कह कर अन्तर्भाव किया था । रुद्रट के अनुसार अलंकार 'वैचित्र्य' अथवा 'रमणीयता' को प्रस्तुत करते है । श्लेष के विषय मे उनका कहना है कि वह उपमा तथा समुच्चय अलंकारो मे अत्यधिक वैचित्र्य को धारण करता है -

'धत्ते वैचित्र्य मयं सुतरामुपमासमुच्चययोः'[2]

आचार्य भरत, दण्डी, उद्भट तथा वामन आदि द्वारा स्पष्ट रूप से प्रसादादि गुणो का वर्णन किए जाने पर भी रुद्रट ने अपने ग्रन्थ मे कही भी उनका उल्लेख नही किया। और जहां कही भी उन्होने गुण शब्द का प्रयोग किया भी है वह स्पष्ट रूप से इन्ही अलंकारो के वाचक रूप मे आया है । समस्त शब्दालंकारो, अर्थालंकारो, शब्द दोषो एवं अर्थ दोषो का विवेचन कर चुकने के अनन्तर 11वे अध्याय की समाप्ति पर रुद्रट का कथन है कि श्रेष्ठ कवि को ऊपर बताए गए शब्दो एवं अर्थो के विभक्त स्वरूप वाले दोषो और गुणो को भली भांति समझ कर असार का परित्याग कर सार को ग्रहण करते हुए ~~[illegible]~~ अविनश्वर यश को प्राप्त करने के लिए काव्यरचना मे प्रवृत्त होना चाहिए[3] । यहां स्पष्ट रूप से गुणो से उनका आशय अलंकारो से ही है। नमिसाधु बड़े स्पष्ट ढंग से कहते है कि -'शब्दस्य हि वक्रोक्त्यादयः पञ्चगुणाः । दोषाश्चासमर्थादयः षट् । अर्थस्य पुनर्गुणा वास्तवादयश्चत्वारः ।

1- अथालंकारमध्य एव रसा अपि किं नोक्ताः । उच्यते—काव्यस्य हि शब्दार्थौ शरीरम् । तस्य च वक्रोक्तिवास्तवादयः कटककुण्डलादय इव कृत्रिमा अलंकाराः । रसास्तु सौन्दर्यादय इव सहजा गुणाः, इतिभिन्नप्रकरणारम्भः ।' (न. सा. पृ० 150)

2- रु. काव्या., 8/31

3- वही, 11/36

दोषास्तमपहेतुत्वादयो नव।'[1] इस प्रकार रुद्रट ने गुण शब्द का प्रयोग शिथिल ढंग से किया है, गुणो के शास्त्रीय अर्थ मे नहीं। इतनाही नही उन्होने ने चार रीतियों का विवेचन भी किया जिनमें तीन के नाम तो वामन द्वारा स्वीकृत ही है, वैदर्भी, गौडीया और पांचाली इसके अतिरिक्त रुद्रट ने लाटीया नाम की चौथी रीति भी स्वीकार की । पर इनकी रीतियों का स्वरूप वामन की रीतियों के स्वरूप से सर्वथा भिन्न रहा । इनकी रीतियों के विभाजन का आधार केवल समास था । वैदर्भी रीति समास विहीन होती थी । पांचाली मे दो-तीन पदो का, लाटीया मे पांच सात पदो का और गौडीया मे यथाशक्ति अनेको पदो का समास विद्यमान रहता है[2]। नमिसाधु ने इन रीतियो को शब्दाश्रय गुण कहा है, अलंकार नहीं[3]। पर रुद्रट ने ऐसी कोई बात नही कही । इस प्रकार जिन गुणो एवं अलंकारो मे कुछ वैशिष्ट्य दण्डी ने प्रतिपादित किया था तथा वामन ने उनमें अत्यन्त स्पष्ट ढंग मे गुणो की नित्यता तथा अलंकारो की अनित्यता प्रतिपादित कर भेद स्थापित किया था उसका रुद्रट के विवेचन मे कही ज़रा-सा भी उल्लेख नही है । माधुर्यादि गुणो की तो कोई चर्चा न रुद्रट ही करते है और न उनके टीकाकार नमिसाधु ही । गुण शब्द का प्रयोग अलंकारो के लिए ही शिथिल ढंग से किया गया है । हाँ, रसो का अलंकारो से भिन्न स्वतंत्र रूप मे विवेचन कर रुद्रट ने सर्वप्रथम उन्हे सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया जो कि बाद के समस्त आचार्यो को स्वीकार रहा । और जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है नमिसाधु ने अलंकारो को कृत्रिम और रसो को सहज बता कर अलंकारो की अपेक्षा रसो के महनीय माहात्म्य को स्पष्ट ढंग से प्रतिपादित किया । इतना ही नही रसो को ही रीतियो, वृत्तियो, आदि की रचना का नियामक तत्त्व मान कर रुद्रट ने रसो को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध किया[4]। बिना रसो को भली-भांति समझे हुए कोई भी कवि सर्वथा रमणीय काव्य की रचना करने मे समर्थ नही हो सकता —

'यस्मादिमानर्नाधिगम्य न सर्वरम्यं काव्यं विधातुमलमत्रतदाद्रियेत् ।'[5]

इस प्रकार रसो को काव्य मे सबसे पहले स्वतंत्र एवं सर्वश्रेष्ठ तत्व के रूप मे प्रतिष्ठित करने का श्रेय रुद्रट को ही है । अलंकारो के द्वारा काव्य मे रमणीयता तो आयेगी ही परन्तु जब तक रसो का सुन्दर सन्निवेश नही होगा काव्य सर्वथा रमणीय कहलाने का

1- न.सा., पृ0 149

2- रु. काव्या. 2/4 - 6

3- 'एतास्च रीतयो नालंकाराः, किन्तर्हि शब्दाश्रया गुणा इति -न.सा., पृ0 10

4- रु.काव्या. 14/37, 15/20

5- वही, 15/21

का अधिकारी नहीं होगा । इस प्रकार रुद्रट ने रसों को साधारण अलंकारों की कोटि से ऊँचे प्रतिष्ठित किया ।

अलंकारों का वर्गीकरण और उसमें वक्रोक्ति का स्थान

प्राचीन आचार्यों की अपेक्षा रुद्रट का अलंकार विवेचन विशेष महत्त्वपूर्ण है । रुद्रट ने प्रधानतया पाँच शब्दालंकारों एवं चार अर्थालंकारों का विवेचन किया है । शेष अर्थालंकारों को इन्हीं वास्तवादि चार प्रधान सामान्य-भूत अर्थालंकारों का विशेषभूत स्वीकार किया है —

'अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः ।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः ।।'[1]

पाँच शब्दालंकार हैं — वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र[2] । जो वक्रोक्ति भामह तथा दण्डी द्वारा अलंकार-सामान्य के रूप में प्रयुक्त की गई थी, उस वक्रोक्ति को वामन ने एक अर्थालंकार विशेष के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहा पर वह ~~प्रतिष्ठित~~ प्रतिष्ठा बाद में उसे न मिल सकी पर रुद्रट ने जो उसे एक शब्दालंकार-विशेष के रूप में प्रतिष्ठित किया उस प्रतिष्ठा को प्रायः बाद के सभी आलङ्कारिकों ने सुरक्षित रखा ।

रुद्रट के अनुसार यह वक्रोक्ति शब्दालंकार दो प्रकार का होता है — एक श्लेषवक्रोक्ति रूप तथा दूसरा काकुवक्रोक्ति रूप । श्लेष वक्रोक्ति का लक्षण है —

'वक्त्रा तदन्यथोक्तं व्याचष्टे चान्यथा तदुत्तरदः ।
वचनं यत् पदभङ्गैर्ज्ञेया सा श्लेषवक्रोक्तिः ।।'[3] अर्थात् वक्ता द्वारा उत्तर वचन से भिन्न ढंग से कहे गये वचनों का जब उत्तर देने वाला पदों को तोड़ कर दूसरे ढंग से व्याख्यान करता है तो ऐसे स्थलों पर श्लेषवक्रोक्ति होती है । रुद्रट की यह श्लेष वक्रोक्ति मम्मट, रुय्यक विश्वनाथ आदि बाद के प्रायः सभी आलंकारिकों द्वारा मान्य हुई । जहाँ रुद्रट ने केवल सभंग श्लेष के आधार पर यह वक्रोक्ति स्वीकार किया था वहाँ मम्मट, विश्वनाथ आदि ने अभंग श्लेष के आधार पर भी वक्रोक्ति अलंकार माना[4] । काकु-वक्रोक्ति

1- रुद्र. काव्या० 7/9

2- 'वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रम् । शब्दस्यालंकाराः' वही, 2/13

3- वही, 2/14

4- देखें मम्मटादि का वक्रोक्ति अलंकार विवेचन ।

का लक्षण है--

'विस्पष्टं क्रियमाणादक्लिष्टा स्वरविशेषतो भवति।
अर्थान्तरप्रतीतिर्यत्रासौ काकुवक्रोक्तिः।।'[1] अर्थात् जहाँ अत्यन्त स्फुट रूप से उच्चारण किए गए स्वरविशेष के द्वारा अर्थान्तर की कल्पनारहित अक्लिष्ट प्रतीति होती है वहाँ काकु-वक्रोक्ति होती है। यद्यपि मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने रुद्रट की इस काकु-वक्रोक्ति को भी यथातथ रूप में स्वीकार किया परन्तु कुछ आचार्यों ने इसका विरोध भी किया। उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर राजशेखर ने सर्वप्रथम इसका विरोध किया। उन्होंने काकु को अभिप्राय युक्त पाठधर्म कह कर उसकी अलंकारता का निराकरण किया --

'काकुर्वक्रोक्तिर्नाम शब्दालंकारोऽयम्' इति रुद्रटः। 'अभिप्रायवान् पाठधर्मः काकुः, स कथमलंकारी स्यात्।' इति यायावरीयः।'[2]

आगे चल कर हेमचन्द्र ने भी अपने 'काव्यानुशासन' में राजशेखर की ही उक्ति को उद्धृत करते हुए काकुवक्रोक्ति की अलंकारता का निराकरण किया। तथा ध्वनिकार का समर्थन सिद्ध करते हुए उसे गुणीभूतव्यंग्य काव्य का एक प्रभेद प्रतिष्ठित किया। परन्तु श्लेषवक्रोक्ति को उन्होंने भी मम्मट आदि की ही भाँति सभंग तथा अभंग उभयश्लेष के आधार पर स्वीकार किया।[3] हेमचन्द्र का ही अनुगमन वाग्भट् ने भी किया। उन्होंने भी केवल सभंग और अभंग श्लेष के आधार पर श्लेष-वक्रोक्ति का वर्णन किया। पर काकु-वक्रोक्ति का कोई उल्लेख नहीं किया।

इस प्रकार रुद्रट द्वारा संकीर्ण किया गया वक्रोक्ति का स्वरूप ही प्रायः बाद के आलंकारिकों को मान्य रहा। रुद्रट के अनन्तर वक्रोक्ति का सर्वालंकार-सामान्य वाला रूप जाता रहा यह केवल वाक्छल के रूप में शब्दालंकारमात्र रह गई। रुय्यक तथा अप्पय्य दीक्षित आदि ने इसे अर्थालंकारविशेष के रूप में प्रतिपादित किया।[4] डॉ. रुय्यक अपने वक्रोक्ति अलंकार विवेचन के अनन्तर --'वक्रोक्ति शब्दश्चालंकारसामान्यवचनोऽपीहालंकारविशेषे सन्निवेशितः'[5] कह कर वक्रोक्ति के अलंकारसामान्य के स्वरूप की ओर इंगित अवश्य करते हैं।

1- रुद्र. काव्या. 2/16
2- का. मी. पृ0 101
3- हेम. काव्यानुशासन पृ0 333
4- देखें अलं. स. पृ0-222 तथा कुवल. में वक्रोक्ति अलंकार का विवेचन
5- अलं. स. पृ0222

जो वक्रोक्ति सर्वालंकार-सामान्य के रूप में प्रतिष्ठित रही उसे अचानक रुद्रट ने ऐसा संकीर्ण स्वरूप कैसे प्रदान कर दिया ? यह एक प्रश्न अनायास ही सामने आ जाता है । इस प्रश्न के समाधान की चिन्ता न तो रुद्रट ने ही व्यक्त की और न उनके टीकाकार नमिसाधु ने ही । उन्होंने इसका विवेचन ऐसे ढंग से प्रस्तुत किया है जैसे कि उन्हें वक्रोक्ति का सर्वालंकार-सामान्य वाला स्वरूप ज्ञात ही नहीं था और बिल्कुल नवीन अलंकार को नवीन नाम के साथ उन्होंने उद्भावना प्रस्तुत की थी । वस्तुतः भामह आदि के वक्रोक्ति विवेचन को प्रस्तुत करते समय यह स्पष्ट किया जा चुका है कि वक्रता और अतिशय लगभग एक ही अर्थ को प्रस्तुत करते हैं । इसी लिए आनन्दवर्द्धन तथा मम्मट आदि ने वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को एक कह कर वक्रोक्ति को सर्वालंकार सामान्यता न प्रतिपादित कर अतिशयोक्ति को सर्वालंकारसामान्यता प्रस्तुत की और भामह की वक्रोक्ति के द्वारा उसी अतिशयोक्ति का अर्थ ग्रहण किया । यद्यपि अतिशयोक्ति अलंकारविशेष ही नहीं सर्व-सामान्य-रूप में स्वीकृत की गई । यहाँ अतिशयोक्ति से तात्पर्य लोकोत्तर अथवा असाधारण उक्ति से ही है । अतः जिस प्रकार अतिशयोक्ति को सर्वालंकार-सामान्य मानते हुए भी अतिशय के सर्वाधिक मात्रा में विद्यमान होने के कारण अतिशयोक्ति अलंकार-विशेष भी स्वीकार किया गया, उसी प्रकार वक्रोक्ति को सर्वालंकार-सामान्य मानते हुए भी रुद्रटादि द्वारा विवेचित श्लेषवक्रोक्ति आदि में बाहुल्य के कारण उक्ति की वक्रता अथवा कुटिलता का आधिक्य होने के कारण वक्रोक्ति नामक अलंकारविशेष भी स्वीकार कर लिया गया । रुय्यक के उक्त कथन पर टीकाकार जयरथ का सुस्पष्ट कथन है कि ' वक्रोक्ति । बाहुल्यादलंकारविशेषे नेनोक्तेः कौटिल्यात् ।[1]' अर्थात् यद्यपि वक्रोक्ति का प्रयोग अलंकार-सामान्य के लिए ही होता है फिर भी इस अलंकारविशेष में इसके बाहुल्यरूप होने के कारण उक्ति की कुटिलता (सर्वाधिक रूप में) विद्यमान होने से वक्रोक्ति अलंकार विशेष की संज्ञा दी गई । परन्तु वक्रोक्ति को संज्ञा एक अलंकार विशेष को देते हुए भी रुद्रट उसके सामान्य रूप को भी एक स्थान पर निश्चित ही प्रस्तुत करते हैं जब वे धीरा, अधीरा और मध्या नायिकाओं का विवेचन करते हैं । उनका कहना है कि जब नायक कोई अपराध कर डालता है तो अधीरा नायिका उसे कठोर वचनों से तथा मध्या नायिका अनुकूल उपालम्भों से कष्ट पहुँचाती है जब कि धीरा नायिका वक्रोक्ति द्वारा उसे कष्टापित करती है —

'कुप्यति तत्र सदोषे वक्रोक्त्या प्रतिभिनत्ति तं धीरा ।
परुषवचोभिरधीरा मध्या साक्रोशवालम्भैः ।।[2]'

1- जयरथ , पृ० 222

2- रु. काव्या० 12/23

निश्चय ही 'वक्रोक्ति' शब्द यहाँ रुद्रट के शब्दालंकारविशेष के लिए नहीं आया बल्कि टेढ़े वैचित्र्यपूर्ण कथन के लिए ही आया है । भले ही उसे अलंकार-सामान्य का वाचक न कहा जाय ।

रुद्रट तथा स्वभावोक्ति

रुद्रट ने अर्थालंकारों के जो चार वर्ग अथवा चार सामान्य प्रकार निरूपित किए उनमें पहला है वास्तव[1] । उसका लक्षण रुद्रट ने दिया है —

'वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तुस्वरूपकथनं यत् ।
पुष्टार्थमविपरीतं निरुपममनतिशयमश्लेषम्[2] ।।'

अर्थात् जहाँ पर पुष्ट अर्थ वाले, वैपरीत्य से हीन, औपम्यरहित, अतिशयविहीन एवं अश्लिष्ट वस्तु के स्वरूप का कथन कियाजाता है वह वास्तव अलंकार होता है । रुद्रट ने इसके विशेषभूत तेइस अलंकार प्रतिपादित किए हैं[3], जिनमें से केवल छः अलंकार (यथासंख्य, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, व्यतिरेक और सहोक्ति) भामह, दण्डी, उद्भट तथा वामन सभी पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत हैं । हेतु, सूक्ष्म तथा लेश -तीन अलंकारों को केवल दण्डी ने स्वीकार किया था । इन नौ अलंकारों के अतिरिक्त पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत एक और अलंकार बचता है वह है जाति, जो भामह दण्डी तथा उद्भट के अनुसार स्वभावोक्ति का ही पर्याय है । दण्डी तो कहते ही है —

'स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा[4] ।'

इन दस अलंकारों के अतिरिक्त शेष तेरह अलंकारों की कल्पना रुद्रट की अपनी है । पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत दस अलंकारों में से (जिन्हें कि रुद्रट ने भी स्वीकार कर रखा है) आठ की अलंकारता का खण्डन कुन्तक ने किया है[5] । केवल व्यतिरेक की अलंकारता उन्होंने समर्थित की है[6] । परिकर का कोई उल्लेख ही नहीं मिलता । अतः उसकी अलंकारता कुन्तक को स्वीकार थी या नहीं कुछ कहा नहीं जा सकता । इस प्रकार वास्तव कोटि के प्रायः सभी अलंकार वक्रोक्तिवादी आचार्य कुन्तक की दृष्टि में अलंकारत्व से हीन हैं । वस्तुतः रुद्रट का

1- रुद्र. काव्या. 7/9
2- रु. का. 7/10
3- वही, 7/11-12
4- काव्यादर्श 2/8
5- देखें व.जी. पृथक् पृथक् अलंकारों का विवेचन
6- व.जी. पृ0 207-209

वास्तव अलंकार स्वभावोक्ति-कोटि का ही है क्यों कि इसमें औपम्य अतिशय आदि से विहीन ही वस्तुस्वरूप का कथन किया जाता है । रुद्रट के अनुसार जाति अलंकार का लक्षण है —

'संस्थानावस्थानक्रियादि यद्यस्य यादृशं भवति ।
लोके चिरप्रसिद्धं तत्कथनमनन्यथा जातिः[1] ॥'

अर्थात् लोक में जिनका जैसा स्वाभाविक रूप, अवस्था और व्यापारादि चिरप्रसिद्ध है उसी ढंग से वर्णन जाति अलंकार होता है । इस जाति के विषय में रुद्रट ने बताया है कि यह विशेष रूप से रमणीय उस समय होती है जब उसमें शिशुओं, मुग्ध युवतियों, कातरों, पक्षियों, सम्भ्रान्तों एवं हीन-पात्रों की समय एवं अवस्था के अनुरूप चेष्टाओं का वर्णन किया जाता है[2]। नमिसाधु ने अपनी टीका में यह शंका उठाई है कि वास्तव और जाति में क्या भेद है ? उन्होंने इसका उत्तर दिया कि जो भेद वृक्ष और धव में होता है । अर्थात् जैसे वृक्ष तो धव के अतिरिक्त खदिर, आम्र आदि को भी कहा जाता है क्यों कि वृक्षत्व उनमें भी विद्यमान है लेकिन धव को आम्र या खदिर नहीं कहा जाता क्योंकि आम्र और खदिर में वृक्षत्व तो है पर धवत्व नहीं । उसी प्रकार वस्तु स्वरूप के कथन को वास्तव कहते हैं वह वास्तवत्व उसके जाति के अतिरिक्त भी सहोक्ति, समुच्चय आदि प्रभेदों में भी विद्यमान है किन्तु जातित्व अन्यों में नहीं । क्यों कि जाति अनुभव को उत्पन्न करती है । अर्थात् जाति में यद्यपि दूसरे में स्थित स्वरूप क्रिया आदि का केवल वर्णन ही किया जाता है फिर भी उसका अनुभव-सा होने लगता है । जैसे किसी शिशु की चेष्टा का यथातथ वर्णन किया गया तो केवल उस वर्णन से ही शिशु के सामने विद्यमान न रहने पर भी उसकी चेष्टाओं का अनुभव होने लगता है । यही है जाति का वैशिष्ट्य[3]।

इस प्रकार रुद्रट ने वक्रोक्ति को एक शब्दालंकारविशेष का स्वरूप प्रदान करने के साथ ही जाति (अथवा स्वभावोक्ति) का अधिक सुन्दर एवं महत्त्वपूर्ण विवेचन भी प्रस्तुत किया।

1- रु.का. 7/30

2- 'शिशुमुग्धयुवतिकातरतिर्यक्सम्भ्रान्तहीनपात्राणाम् ।
सा कालावस्थोचितचेष्टासु विशेषतो रम्या ॥'—'वही', 2/3।

3- 'अथ वास्तवस्य जातेश्च को विशेषः, यो वृक्षस्य धवस्य च । वास्तवं हि वस्तुस्वरूपकथनम् । तच्च सर्वेष्वपि तद्भेदेषु सहोक्त्यादिषु स्थितम् । जातिस्त्वनुभवं जनयति । यत्र परस्थं स्वरूपं वर्ण्यमानमेवानुभवमिवैतीति स्थितम् ।'
— न.सा. पृ० 8।

कवि मनोरथ और वक्रोक्ति

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि के अभाववादियों के मतों का निरूपण करते हुए उनके समर्थन में एक श्लोक इस प्रकार उद्धृत किया है —

'तथा चाऽन्येन कृत एवात्र श्लोकः -

यस्मिन्नस्ति न वस्तु किंचन मनः प्रह्लादि सालंकृति
व्युत्पन्नै रचितञ्च नैव वचनैर्वक्रोक्ति शून्यञ्च यत् ।
काव्यं तद्ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसञ्जडो
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः ॥'[1]

यहाँ 'अन्येन' का अर्थ स्पष्ट करते हुए अभिनव गुप्त ने बताया है कि यह श्लोक आनन्दवर्धन के समसामयिक कवि मनोरथ द्वारा विरचित है[2] । कल्हण के कथनानुसार भी मनोरथ कवि को वामन की समकालिकता सिद्ध होती है । उनका कथन है —

'मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः ॥'[3]

इतने ही उल्लेख के अतिरिक्त मनोरथ अथवा उनके सिद्धान्त के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं। यहाँ पर प्रयुक्त 'वक्रोक्ति' शब्द कुछ कठिनाई उपस्थित करता है क्योंकि वक्रोक्ति का प्रयोग या तो सर्वालंकार-सामान्य के रूप में रहा है अथवा वामनाभिमत अर्थालंकार विशेष और रुद्रटाभिमत शब्दालंकार विशेष के रूप में । यहाँ ये तीनों ही अर्थ अनुपयुक्त हो जाते हैं क्यों कि अलंकारों के विषय में वे 'सालंकृति' पद का पहले ही प्रयोग कर चुके हैं अतः पुनरुक्त दोष अनिवार्य हो जाता है । इस लिए या तो हमें अभिनवगुप्त द्वारा किया गया व्याख्यान मानना होगा कि 'वक्रोक्ति से आशय उत्कृष्टसंघटना से है और उससे शून्य करने का आशय यह है कि शब्दगुणों एवं अर्थ गुणों से शून्य' क्यों कि वामन ने विशिष्ट पदसंघटना को रीति और विशेष को गुणात्मा प्रतिपादित कर रखा है[4]। अथवा वक्रोक्ति से आशय टेढ़े कथन अर्थात् असाधारण कथन से है ऐसा मानना होगा । परन्तु अलंकारसामान्य अर्थ लेना उचित नहीं । अभिनव ने स्पष्ट ही कहा है कि - 'वक्रोक्तिशून्यशब्देन सामान्य-लक्षणभावेन सर्वालंकाराभाव उक्त इति केचित् । तैः पुनरुक्तत्वं न परिहृतमेवेत्यलम् ।'[5]

1- ध्वन्या., पृ०26-27
2- अन्येनेति । ग्रन्थकृत् समानकालभाविना मनोरथ नाम्ना कविना ।लोचन, पृ०26-27
3- राजतरंगिणी - 4/497
4- वक्रोक्तिः उत्कृष्टा संघटना।तच्छून्यमिति शब्दार्थ गुणानाम्।लोचन, पृ० 26 27.
5- वही, पृ० 26 27.

आनन्दवर्धन एवं वक्रोक्ति सिद्धान्त

'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ के दो भाग हैं - एक कारिका भाग और दूसरा वृत्ति भाग । इन दोनों भागों को एक ही व्यक्ति ने लिखा था अथवा दो भिन्न व्यक्तियों ने इस विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है । इतना तो सुनिश्चित ही है कि वृत्ति भाग के लेखक आनन्दवर्धन ही थे क्यों कि वृत्ति भाग की समाप्ति पर ऐसा सुस्पष्ट उल्लेख है[1] । इसमें जो कुछ भी वक्रोक्तिसिद्धान्त विषयक उल्लेख प्राप्त होता है वह इसी वृत्ति भाग में ही ,अतः शीर्षक का नाम 'आनन्दवर्धन एवं वक्रोक्तिसिद्धान्त' रखा गया है। 'ध्वन्यालोक' ध्वनि सिद्धान्त' का प्रतिपादन करने वाला प्रथम ग्रन्थ है।अतः इसमें प्रतिपादित वक्रोक्ति-विषयक विचारों का ज्ञान परमावश्यक है ।

अलंकार का स्वरूप

अभी तक के विवेचन में यह देखा गया कि अलंकार, गुण, रस, रीति , वृत्ति आदि के परस्पर सम्बन्ध का कोई सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं रहा । परन्तु ध्वनिकार ने इस दिशा में एक ऐसा क्रांतिकारी एवं प्रभावशाली मोड़ प्रस्तुत किया कि जिसका विरोध प्रायः किसी परवर्ती आचार्य ने नहीं किया । उन्हों ने काव्य की आत्मा ध्वनि का रसादिध्वनि को आत्मा रूप में प्रतिष्ठित किया । और अलंकारशास्त्र के गुण, अलंकार आदि समस्त तत्त्वों का विवेचन उसी अलंकार्य आत्मभूत रसादि के दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया । रस की आत्मरूपता का किसी भी परवर्ती आचार्य ने विरोध नहीं किया । आनन्दवर्धन के अनुसार अलंकार चारुत्व का हेतु होता है । 'अलंकारो हि चारुत्वहेतुः प्रसिद्धः।'[2] जिस प्रकार से कटक कुण्डल आदि शरीर को अलंकृत करते हुए गौणरूप से शरीरी या आत्मा के भी चारुत्व हेतु कहे जाते हैं उसी प्रकार अनुप्रास तथा उपमा आदि अलंकार काव्य के शरीरभूत शब्दों तथा अर्थों को अलंकृत करते हुए काव्य के आत्मभूत रसादि के चारुत्व हेतु होते हैं ।[3] 'अलंकारो हि बाह्यालंकारसाम्यादङ्गिनश्चारुत्वहेतुरुच्यते'[4] ।'वाणी के विकल्प अर्थात् शब्द और अर्थ के वैचित्र्य

1- 'सद्ध्याकथोरस्य दमयोलाभहेतोरानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः' -ध्व. पृ.05-3

2- वही, पृ0 197

3- 'ये तमर्थं रसादिलक्षणमङ्गिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत् ।वाच्यवाचकलक्षणा - न्यङ्गानि ये पुनस्तदाश्रितास्तेऽलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत् 'वही, पृ0204

4- वही, पृ0 225

अनन्त है और उन्ही के प्रकार होने के कारण अलंकार भी अनन्त है —'अनन्ता हि वाग्वि - कल्पास्तत्प्रकारा एवं चालंकाराः[1]' परन्तु इन सभी अलंकारों की अलंकारता तभी सिद्ध होती है जब कि ये अंगी रसादि की दृष्टि से भली भाँति सोच विचार या समीक्षा करके प्रयुक्त किए जाते है । 'वाच्यालंकारवर्गश्च रूपकादिर्यावानुक्तो वक्ष्यते च कैश्चित् , अलंकाराणामनन्तत्वात् , स सर्वोऽपि यदि समीक्ष्य विनिवेश्यते तदलक्ष्यक्रमव्यंग्यस्य ध्वनेरंगिनः सर्वस्यैव चारुत्वहेतुर्निष्पद्यते[2] ।'अलंकारों की सम्यक् विन्यास की समीक्षा का निरूपण ध्वनिकार ने इस प्रकार किया है —

(1)अलंकारों को विवक्षा रसपेक्षा अंगरूप मे रसादिपरक होनी चाहिए,अंगीरूप मे कभी नही ।

(2)अलंकारों का अवसर पर ग्रहण और अनवसर पर परित्याग कर देना चाहिए। रसांग होते हुए भी अलंकार के अत्यन्त निर्वाह की इच्छा नहीं होनी चाहिए

(3)और यदि निर्वाह करना ही चाहे तो उन्हें प्रयत्न करके रसादि के अंग रूप मे ही उपनिबद्ध करे । तभी वे अलंकार रसाभिव्यक्ति के हेतु होंगे । और काव्य मे चारुत्व की सृष्टि करते हुए अलंकार कहलाने के अधिकारी होंगे[3] । इस प्रकार ध्वनिकार ने पूर्वाचार्यों की अपेक्षा अलंकारों की अलंकारता का निर्णायक एक समीचीन मानदण्ड प्रस्तुत किया ।

अलंकार सामान्य के रूप मे वक्रोक्ति

आनन्दवर्द्धन ने वाणी के विकल्पों के प्रकार रूप मे अलंकारों को स्वीकार किया है। 'वाग्विकल्प 'पद की व्याख्या लोचनकार ने इस प्रकार प्रस्तुत की है —

'वक्तीति वाक् शब्दः ।उच्यते इति वागर्थः ।उच्यतेऽनयेति वागभिधा व्यापारः ।

तत्र शब्दार्थवैचित्र्य प्रकारोऽनन्तः । अभिधावैचित्र्यप्रकारोऽप्यसङ्ख्येयः[4] ।' इस प्रकार वाणी या उक्ति का वैचित्र्य ही अलंकार हुआ अथवा दूसरे शब्दों मे वक्रोक्तिप्रकार ही

1- ध्व. पृ0 473

2- वही, पृ0 223

3- ध्वन्या.-विवक्षा तत्परत्वेन नांगित्वेन कदाचन ।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता ।। 2/18।।
निर्व्यूढावपि चांगत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादिरलंकारवर्गस्यांगत्वसाधनम्।।2/19।।

4- लोचन, पृ0 25

अलंकार हुए । और जैसा कि लोचनकार ने अपने व्याख्यान के समर्थन में भामह की 'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः'[1] इस उक्ति को उद्धृत किया है । उससे भी यही बात समर्थित होती है । परन्तु यह तो रहा आनन्दवर्धन के कथन की व्याख्या के बल पर आने वाला वक्रोक्तिविषयक अर्थ । लेकिन इतना ही नहीं स्वयं आनंदवर्धन ने वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग इसी अलंकार सामान्य के अर्थ में किया है । उनके उस कथन को उद्धृत करने के पहले यह बता देना आवश्यक है कि उन्होंने सहृदयश्लाघ्य अर्थ के दो भेद माने हैं --एक वाच्य और दूसरा प्रतीयमान । उनमें वाच्य-अर्थ को उन्होंने उपमा आदि प्रकारों के रूप में प्रसिद्ध बताया है और प्रतीयमान अथवा व्यंग्यार्थ का स्वयं विवेचन किया है[2] । अब कहीं पर वाच्यार्थ प्रधान होता है और कहीं व्यंग्यार्थ इसका विवेचन करते हुए आनन्दवर्धन ने कहा है कि --

'यदा वक्रोक्तिं विना व्यंग्योऽर्थस्तात्पर्येण प्रतीयते तदा तस्य प्राधान्यम् । यथा -एवं-वादिनि देवर्षौ इत्यादि । इह पुनः उक्तिर्भङ्ग्यास्तीति वाच्यस्यापि प्राधान्यम् ।'[3]

स्पष्ट ही वक्रोक्ति यहाँ अलंकारसामान्य के रूप में प्रयुक्त हुई है । वक्रोक्ति के द्वारा वाच्य भूत सारे उपमादि अलंकार-प्रकारों का बोध कराया गया है । जहाँ वक्रोक्ति का वैभव प्रधान होगा वहाँ वाच्य की प्रधानता होगी और जहाँ वक्रोक्ति के बिना व्यंग्यार्थ प्रधान रूप से प्रतीत होता रहेगा वहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधानता होगी ।

अतिशयोक्ति तथा वक्रोक्ति

गुणीभूत व्यंग्यकाव्य का विवेचन करते हुए आनन्दवर्धन ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि रूपकादि समस्त वाच्यालंकार किसी व्यंग्य अलंकार अथवा व्यंग्य वस्तु के अंश मात्र का योग होने से शोभातिशय को धारण करते हैं[4] । वाच्यालंकार में अलंकारान्तर की व्यंग्य रूप में स्थिति का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने कहा कि 'सबसे पहले तो अतिशयोक्ति अलंकार ही समस्त अलंकारों के मूल में विद्यमान रहता है । और महाकवियों ने उसका इस ढंग

1- भामह काव्या०, 2/36 उद्धृत लोचन पृ० 25

2- योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः ।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ।।
तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः ।।' -- ध्व. 1/2-3

3- ध्वन्या., पृ० 482

4- 'वाच्यालंकारवर्गोऽयं व्यंग्यांशानुगमे सति ।
प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते ।।' ध्व. 3/36

से जिस काव्य में प्रयोग किया है वही वह सौन्दर्यातिशय को प्रस्तुत करता है । आखिर अपने विषयौचित्य के साथ प्रयुक्त अतिशययुक्तता काव्य मे उत्कर्ष कैसे न लाये।' और अपने इस कथन की पुष्टि करते हुए उन्हों ने भामह के 'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः' कथन को उद्धृत किया । और यह सिद्ध किया कि भामह ने चूंकि अतिशयोक्ति के लक्षण में इस उक्ति को प्रस्तुत किया है अतः अतिशयोक्ति जिस अलंकार में विद्यमान रहती है कवि - प्रतिभा के कारण उस अलंकार में सौन्दर्यातिशय आ जाता है, और जिन अलंकारों में यह अतिशयोक्ति नहीं रहती वे केवल अलंकार हो रह जाते हैं अतः समस्त अलंकारों का शरीर स्वीकार करने की योग्यता होने के कारण अभेदोपचार से भामह ने इसे सर्वालंकार रूप कह दिया है, ऐसा ही अर्थ समझना चाहिए[1] । स्पष्ट रूप से आनन्दवर्द्धन द्वारा अपनी उक्ति के समर्थन रूप मे भामह की इस उक्ति का अर्थ किया गया अर्थ क्लिष्ट कल्पना को प्रस्तुत करता है । भामह का यहाँ वक्रोक्ति से क्या आशय है इसे भामह के के विवेचन में स्पष्ट किया जा चुका है । यहाँ केवल अवधेय यह है कि आनन्दवर्द्धन के इस व्याख्यान से साफ झलकता है कि वक्रोक्ति के अभाव में भी अलंकारत्व सम्भव है । वक्रोक्ति के कारण अलंकार में चारुत्वातिशय आ जाता है । परन्तु वक्रोक्ति के अभाव में किसी अलंकार की अलंकारता में कोई बाधा नहीं । परंतु आनन्द का यह व्याख्यान भामह के अभिप्राय के सर्वथा विपरीत है । वे कहते हैं 'कोऽलंकारोऽनया विना'[2] अर्थात् वक्रोक्ति के बिना अलंकार हो ही नहीं सकता । अलंकार तो केवल वक्रोक्ति ही है—'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः'[3] । इतना ही नहीं आनन्द का व्याख्यान भामह की उस उक्ति के सर्वथा विपरीत पड़ता है जब वे वक्रोक्ति का ही प्रतिपादन न होने से हेतु, सूक्ष्म और लेश की अलंकारता का खण्डन करते हैं —

1- 'यतः प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालंकारेषु शक्यक्रिया । कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छविं पुष्णाति । कथं ह्यतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा सती काव्ये नोत्कर्षमावहेत् । भामहेनाप्यतिशयोक्तिलक्षणे यदुक्तम् ।—'सैषा सर्वैव' इत्यादि । तत्रातिशयोक्तिर्यमलंकारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात् तस्य चारुत्वातिशययोगोऽन्यस्य त्वलंकारमात्रतैवेति सर्वालंकारशरीरस्वीकरणयोग्यत्वेनाभेदोपचारात् सैव सर्वालंकाररूपेत्ययमेवार्थोऽवगन्तव्यः ।' ध्व. पृ0 465-468

2- काव्या0 2/85

3- वही, 2/36

'हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः ।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ॥'[1]

यदि वक्रोक्ति और आनन्द की अतिशयोक्ति एक ही है तो फिर यहाँ अलंकारता का खण्डन कैसे ? यहाँ चारुत्वातिशय भले ही न हो पर हेत्वादि की अलंकारता तो सुरक्षित हो रहनी चाहिए। और यही कारण है कि वक्रोक्ति को सर्वालंकारसामान्य रूप में कह कर भामह, दण्डी तथा कुन्तक आदि ने जिस संकीर्णता को बचाया है उसे आनन्द स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित करते हैं — 'तस्यास्त्वलंकारान्तरसंकीर्णत्वे कदाचिद् वाच्यत्वेन, कदाचिद् व्यंग्यत्वेन। व्यंग्यत्वमपि कदाचित् प्राधान्येन कदाचिद् गुणभावेन । तत्राद्ये पक्षे वाच्यालंकार मार्गः । द्वितीये तु ध्वनावन्तर्भावः । तृतीये तु गुणीभूतव्यंग्यरूपता ।'[2] अतः आनन्दवर्द्धन के इस व्याख्यान को समीचीन स्वीकार करना भामह के अभिप्राय को कुचलना ही होगा ।

वक्रोक्ति अलंकार-विशेष

पूर्व विवेचन में यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि भामह आदि द्वारा स्वीकृत सर्वालंकाररूपा वक्रोक्ति को वामन तथा रुद्रट ने अलंकार विशेष घोषित किया । रुद्रट के परवर्ती होने के कारण निश्चित ही आनन्द रुद्रट के इस वक्रोक्ति अलंकारविशेष से परिचित थे। और इसी लिए आनन्द ने वक्रोक्ति के अलंकारसामान्य वाले स्वरूप को प्रस्तुत करने के साथ ही इस अलंकारविशेष वाले स्वरूप की ओर भी इंगित किया है । शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यंग्य ध्वनि और वाच्यश्लेषादि अलंकार का विषय विभाग प्रतिपादित करते हुए आनन्दवर्द्धन ने कहा है कि जहाँ पर आक्षिप्त होने पर भी अलंकार दूसरे शब्द के कारण अभिहित स्वरूप वाला हो जाता है वहाँ शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यंग्यध्वनि का व्यवहार नहीं होता, बल्कि वहाँ पर वक्रोक्ति आदि वाच्य अलंकारों का ही व्यवहार होता है — 'स आक्षिप्तोऽलंकारो यत्र पुनः शब्दान्तरेणाभिहितस्वरूपस्तत्र न शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यंग्यध्वनि व्यवहारः । तत्र वक्रोक्त्यादि वाच्यालंकार व्यवहार एव।'[3] यहाँ स्पष्ट ही वक्रोक्ति शब्द अलंकारविशेष का प्रतिपादक है । उसके साथ लगा हुआ 'आदि' पद इस आशय को भली भाँति व्यक्त करता है । यदि

1- ~~ध्व० पृ०~~ काव्या० 2/86

2- ध्वन्या, पृ0 468-470

3- वही, पृ0 239-240

वक्रोक्ति का प्रयोग वाच्य अलंकारसामान्य के लिए होता तो आनन्दवर्धन आदि पद का कदापि प्रयोग न करते । यहाँ आनन्द ने जो उदाहरण दिया है वह भी सभंग और अभंग श्लेष को प्रस्तुत करने वाला। श्लोक है —

'दृष्ट्या केशव गोपरागहृतया किंचिन्न दृष्टं मया,
तेनैव स्खलिताऽस्मि नाथ पतितां किन्नाम नालम्बसे ।
एकस्त्वं विषमेषु खिन्नमनसां सर्वाबलानां गति -
र्गोप्यैवं गदितः सलेशमवताद् गोष्ठे हरिर्वश्चिरम् ।।[1]

यद्यपि रुद्रट को श्लेषवक्रोक्ति में वक्ता और उत्तरदाता के आशय में विभिन्नता होना स्वीकार किया गया है परन्तु जैसे वहाँ वक्ता की बातों का उत्तर देने वाला श्लेष में दूसरा अर्थ कल्पित करता है उसी प्रकार यहाँ स्वयं कवि ने ही गोपी के कथन से दो अर्थ प्रस्तुत कर उनके भाव को स्पष्ट किया है अतः यथाकथंचित् श्लेषवक्रोक्ति मानी जा सकती है । वैसे चूँकि कुवलयानन्दकार ने इस पद्य को 'विवृतोक्ति' अलंकार के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है, अतः ध्वन्यालोकलोचन की बालप्रिया व्याख्या में इस प्रकार व्याख्यान किया गया है कि 'इसी वक्रोक्ति को कुवलयानन्दकार ने 'विवृतोक्ति' अलंकार कहा है—'इमामेव वक्रोक्तिं विवृतोक्तिरिति कुवलयानन्दकाराः प्राहुः ।'[2] अतः इस श्लोक में चाहे जो अलंकार माने पर इतना तो सुस्पष्ट हो है कि आनन्दवर्धन ने इस स्थल पर वक्रोक्ति को एक अलंकारविशेष के रूप में ही प्रस्तुत किया है ।

आनन्दवर्धन और स्वभावोक्ति

यद्यपि आनन्दवर्धन का प्रमुख विवेच्य 'ध्वनि' ही था । वाच्य अलंकारादि नहीं । उनका स्पष्ट कथन है—

'तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः ।
बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैस्ततो नेह प्रतन्यते ।।'[3]

अतः अलंकारों का जो कुछ भी विवेचन उनमें प्राप्त होता है वह प्रसंगतः ही । एक स्थान पर आनन्दवर्धन कहते हैं कि —अर्थ का सामर्थ्य केवल व्यंग्यार्थ के कारण ही नहीं होता

1- ध्वन्या. पृ० 240

2- बालप्रिया , पृ० 239

3- ध्वन्या. , 1/3

बल्कि वाच्य अर्थ के कारण भी होता है । चेतन तथा अचेतन पदार्थों का यह स्वभाव ही है कि अवस्था, देश, काल और स्वरूप के भेद से उनकी अनन्तता हो जाती है, और इस तरह देश कालादि के भेदों से अनन्त उन वाच्यार्थों का अनेक प्रकार के प्रसिद्ध स्वभावों का अनुसरण करने वाली स्वभावोक्ति के द्वारा भी वर्णन होने पर काव्यार्थ निरवधि हो जाता है ।—'स्वभावोक्त्या वाच्यानां चेतनानामचेतनानाञ्च यदवस्थाभेदात्कालभेदात् स्वालक्षण्यभेदाच्चानन्तता भवति, तैश्च तथाऽवस्थितैः सद्भिः प्रसिद्धानेकस्वभावानुसरणरूपया स्वभावोक्त्यापि तावदुपनिबध्यमानैर्निरवधिः काव्यार्थः सम्पद्यते ।'[1] यहाँ आनन्द ने स्पष्ट स्वभावोक्ति शब्द का प्रयोग किया है जिससे यह स्पष्ट है कि स्वभावोक्तिवर्णन में भी वे वैचित्र्य स्वीकार करते हैं । परन्तु यहाँ उनका आशय स्वभावोक्ति अलंकार से है अथवा केवल स्वभाव कथन से अधिक स्पष्ट नहीं । वैसे केवल स्वभाव कथन ही अर्थ लेना समीचीन प्रतीत होता है । परन्तु एक दूसरे स्थान पर स्पष्ट ही वे स्वभावोक्ति की अलंकारता मानते प्रतीत होते हैं । द्वितीय उद्योत में अलंकारों के प्रयोग की समीक्षा करते हुए कि अलंकार की विवक्षा हमेशा रसादि के अंग रूप में होनी चाहिए उसके उदाहरण रूप में वे कालिदास के, 'चला-पाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीम्'[2] इत्यादि पद्य को उद्धृत कर कहते हैं कि — 'अत्र हि भ्रमरस्वभावोक्तिरलंकारो रसानुगुणः ।'[3] यहाँ स्पष्ट ही स्वभावोक्ति से उनका आशय स्वभावोक्ति अलंकार से ही है । अभिनव गुप्त ने भी यही व्याख्या प्रस्तुत की है साथ ही स्वभावोक्ति अलंकार न मानने वालों का भी उल्लेख कर उनके साथ असहमति प्रकट किया है— 'सहजभीरुमार्यभावख्यातत्राणाद्य रतिनिधानभूते विकसितारविन्दकुवलयामोदमधुरमपि पिबतीति भ्रमरस्वभावोक्तिरलंकारोऽनुगतार्थेव प्रकृतरसस्योपयोगतः ।अन्ये तु भ्रमरस्वभावे उक्तिर्यस्येति भ्रमर स्वभावोक्तिरत्ररूपकव्यतिरेक इत्याहुः ।'[4] अतः आनन्द निश्चय ही स्वभावोक्ति की अलंकारता स्वीकार करते हैं ।

<u>राजशेखर तथा वक्रोक्तिसिद्धान्त</u>

राजशेखर का अलंकारशास्त्र सम्बन्धी एकमात्र ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' उपलब्ध है ।काव्यमीमांसा के प्रथम अध्याय से यह पता चलता है कि राजशेखर ने इस ग्रन्थ की रचना अठारह

1- ध्वन्या., पृ0538-539

2- अभि.शा., V25

3- ध्वन्या॰ वही, पृ0 224

4- लोचन, पृ0224-225 , इस बात को बालप्रिया में और भी स्पष्ट कर दिया गया है- 'स्वभावोक्तिव्यतिरेकयोः सत्त्वेऽप्यत्रस्वभावोक्तेः पुरस्फूर्तिकत्वात्तन्मात्रमुक्तम् ।' (पृ. 224)

अधिकरणों में की थी । दुर्भाग्य से आज हमें एक ही अधिकरण प्राप्त है । सम्भव अब कोई चारा नहीं । यदि वे सभी उपलब्ध होते तो निश्चय ही 'काव्यमीमांसा' संस्कृतसाहित्यशास्त्र का अद्वितीय ग्रन्थ होता । प्रथम अधिकरण में उन्होंने कविरहस्य का अठारह अध्यायों में निरूपण किया है । अलंकारादि का विवेचन अन्य अनुपलब्ध अधिकरणों में किया गया होगा। राजशेखर का जो कुछ भी वक्रोक्तिविषयक मन्तव्य इस प्रथम अधिकरण में अथवा उनके रूपकों में यहाँ प्राप्य है उसे ही यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है ।

काव्य में उक्तिवैचित्र्य की पर्याप्त महत्ता राजशेखर ने प्रतिपादित की है। 'कर्पूरमंजरी' में वे स्पष्ट ही कहते हैं कि उक्तिविशेष ही काव्य होता है —

'अर्थनिवेशास्त एव शब्दास्त एव परिणमन्तोऽपि ।
उक्तिविशेषः काव्यं भाषा या भवति सा भवतु ।।'[1]

'काव्यमीमांसा' में उन्होंने तीन प्रकार के कवि प्रतिपादित किए हैं — शास्त्रकवि, काव्यकवि और उभयकवि । काव्यकवि की विशिष्टता उन्होंने उक्तिवैचित्र्य को ही प्रतिपादित किया है । उनका कथन है कि अपने अपने विषय में सभी कवि श्रेष्ठ होते हैं, किसी एक को हीन और दूसरे को श्रेष्ठ कहना उचित नहीं । क्योंकि यदि शास्त्रकवि काव्य में रस सम्पत्ति का विच्छेद कर देता है तो काव्यकवि भी शास्त्र में तर्क के कठिन पदार्थों को उक्तिवैचित्र्य से शिथिल कर देता है—'यत्काव्यकविः शास्त्रे तर्ककर्कशमप्यर्थमुक्तिवैचित्र्येण श्लथयति'[2] । 'काव्यपुरुष के स्वरूप का वर्णन करते हुए उसकी वाणी को वे वक्रोक्तिरूप ही मानते हैं । वे कहते हैं — 'उक्तिचणं च ते वचः'[3] । कवियों के आवश्यक गुणों का निरूपण करते हुए वे कहते हैं कि कवि का कथन सर्वत्र उक्ति अथवा वक्रोक्ति गर्भित होना चाहिए 'सर्वत्रोक्तिगर्भमभिधानम्'[4] यहाँ उक्ति से आशय वक्रोक्ति से ही है । अन्यथा उक्ति का कोई अर्थ ही नहीं होगा । क्यों कि अभिधान तो उक्ति को कहते ही हैं[5] । इसके साथ ही अपनी पत्नी अवन्तिसुन्दरी के मत को स्वीकार करते हुए उन्होंने यह स्वीकृति दी है कि विदग्धभणितिभंगि(अथवा कुन्तक के शब्दों में वक्रोक्ति)से निवेद्य वस्तु का स्वरूप अनियत स्वभाव वाला हो जाता है । अवन्तिसुन्दरी का कथन इस प्रकार है —

1- कर्पूरमंजरी 1/7(प्राकृतश्लोक की संस्कृतछाया)
2- का.मी., पृ0 8।
3- वही, पृ0 35
4- वही, पृ0 160
5- मधुसूदन मिश्र ने भी यही अर्थ माना है—'उक्तिगर्भं वक्रोक्तिगर्भं कथनम्' का.मी.म. (पृ0 160)

'विदग्धभणितिभङ्गिनिवेद्यं वस्तुनो रूपं न नियतस्वभावम्' इत्यवन्तिसुन्दरी। यदाह —

वस्तुस्वभावोऽत्र कवेरतन्त्रो गुणागुणावुक्तिवशेन काव्ये ।
स्तुवन्निबध्नात्यमृतांशुमिन्दुं निन्दंस्तु दोषाकरमाह धूर्तः ।।[1]'

कुन्तक ने वक्रोक्ति का स्वरूप बताते हुए कहा है वक्रोक्ति वैदग्ध्यभंगीभणिति ही कहते हैं —

'वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते ।[2]'

इतना ही नहीं 'विद्धशालभंजिका' में राजशेखर स्पष्ट ही सुकवि वाणीवन्ध के विभूषण रूप में वक्रोक्ति को स्वीकार करते हैं । तृतीय अंक में जिस समय राजा नायिका को हारलता पहना देता है तो विदूषक कहता है कि —

'उचितसमागम रूप कं न रंजयन्ति अविरलनौ निम्नलमुक्ताफलमालालंकरणः सुन्दरीजनो वक्रोक्तिविभूषणश्च सुकवि वाणीबन्धः ।[3]'

स्पष्ट ही वक्रोक्ति शब्द यहाँ सर्वालंकार-सामान्य के रूप में प्रयुक्त हुआ है । इस तरह इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि राजशेखर की दृष्टि में काव्य में वक्रोक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है अथवा यह भी कह सकते हैं कि बिना वक्रोक्ति के काव्यता सम्भव नहीं। वक्रोक्ति ही तो काव्य है । अब प्रश्न सामने आता है कि रुद्रट द्वारा स्वीकृत वक्रोक्ति शब्दालंकारविशेष के विषय में राजशेखर को क्या अभिमत है ? रुद्रट के वक्रोक्ति शब्दालंकार-विशेष से वे पूर्णतया परिचित तो हैं ही क्यों कि इसका स्पष्ट उल्लेख उन्हों ने किया है। इतना ही नहीं रुद्रट की काकु-वक्रोक्ति का खण्डन भी किया जिसका कि समर्थन आगे चल कर हेमचन्द्र आदि ने भी किया है।राजशेखर का कथन है कि —

'काकुर्वक्रोक्तिर्नाम शब्दालंकारोऽयम्' इति रुद्रटः ।अभिप्रायवान् पाठधर्मः काकुः, स कथमलंकारी स्यात्। 'इति यायावरीयः ।[4]'परन्तु श्लेष-वक्रोक्ति के विषय में राजशेखर को क्या अभिमत रहा यह कुछ ज्ञात नहीं ।परन्तु जहाँ कहीं उन्हों ने उक्तिविशेष या वक्रोक्ति का प्रयोग किया है जिसका कि उल्लेख ऊपर किया जा चुका है वे वक्रोक्ति को शब्दालंकारविशेषता के

1- का. मी., पृ0 146
2- व. जी., 1/10
3- विद्ध. श., पृ0 110
4- का. मी., पृ0 101

स्पष्ट ही सूचक नहीं है । हाँ, परिहासादि के अर्थ में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग अवश्य मिलता है । कर्पूरमंजरी में विदूषक और विचक्षणा के वार्तालाप से यह बात स्पष्ट है। विदूषक को विचक्षणा किसी बात की सूचना देती है उस पर विदूषक और विचक्षणा का वार्तालाप इस प्रकार है —

'विदूषकः - अयि विचक्षणे । सर्वं सत्यमिदम् ?

विचक्षणा - सर्वं सत्यतरम् ।

विदूषकः - नाहं प्रत्येमि, यतः परिहासशीला खलु त्वम् ।

विचक्षणा - आर्य। मैवं भण । अन्यो वक्रोक्तिकालः, अन्यः कार्यविचार कालः ।'[1]

स्पष्ट ही यहाँ वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग परिहासादि के अर्थ में हुआ है ।

निष्कर्ष —

इस प्रकार इस अध्याय के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आचार्य भामह से लेकर राजशेखर तक वक्रोक्ति के स्वरूप में पर्याप्त परिवर्तन होते रहे । आचार्य भामह ने वक्रोक्ति को ही एक मात्र अलंकार मानकर अथवा अलंकार-सामान्य के रूप में प्रस्तुत कर साथ ही अलंकार को काव्य का स्वरूपाधायक तत्त्व प्रतिपादित कर यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित किया कि वक्रोक्ति के बिना काव्यत्व असम्भव है । और इसी लिए वक्रोक्ति से हीन कथनों को उन्हों ने वार्ता कहा, काव्य नहीं, क्यों कि काव्य तो वक्रोक्ति के बिना हो ही नहीं सकता । रस, गुण, अलंकार सभी को वक्रोक्ति में अन्तर्भूत किया । स्वभावोक्ति की अलंकारता के प्रति अस्वारस्य व्यक्त किया । दण्डी ने इस वक्रोक्ति की परिधि को थोड़ा संकुचित किया । उन्हों ने स्वभावोक्ति को वक्रोक्ति से पृथक् अलंकार स्वीकार किया । उद्भट ने भी स्वभावोक्ति की अलंकारता स्वीकार की पर वक्रोक्ति के कारण ही । अतः जहाँ दण्डी ने वक्रोक्ति की परिधि को थोड़ा संकुचित किया था उसने उद्भट द्वारा पुनः अपने स्वरूप को प्राप्त किया । भामह का ही सिद्धान्त उद्भट को मान्य रहा । इन तीन आचार्यों के बाद वक्रता अथवा अतिशय को तो वामन ने भी सर्वालंकार सामान्य के रूप में स्वीकार किया, और स्वभावोक्ति को उपमादि अलंकारों की कोटि से हटाकर गुणों की कोटि में रसों के साथ स्थापित कर उसकी अलंकारता को अमान्य ठहराया, परन्तु जहाँ वक्रोक्ति सर्वालंकार सामान्य के रूप में ही प्रतिष्ठित थी उसे एक अर्थालंकार विशेष का स्वरूप प्रदान कर उसका क्षेत्र संकुचित कर दिया । वामन से भी अधिक प्रभावकारी प्रयास रुद्रट का रहा उन्हों ने वक्रोक्ति को एक शब्दालंकारमात्र के रूप में प्रतिष्ठित किया, उसका सर्वालंकार-सामान्य

1- कर्पू. मं., पृ. 42-43.

रुप जाता रहा । इस शब्दालंकारविशेष के अतिरिक्त वह केवल वक्र कथन के लिए प्रयुक्त हुई, सर्वालंकार सामान्य के लिए नहीं। स्वभावोक्ति की अलंकारता उन्होंने सबल ढंग से प्रतिपादित की । वास्तव कोटि में तेइस अलंकारों का निरूपण कर स्वभावोक्ति की अलंकारता को प्रबल समर्थन दिया । आनन्दवर्द्धन ने उसके दोनों स्वरूपों को प्रस्तुत किया । उनकी दृष्टि में वक्रोक्ति समस्त वाच्य अलंकारों की सामान्यभूता भी थी और एक शब्दालंकार विशेष भी । स्वभावोक्ति को भी इन्होंने अलंकार स्वीकार किया । राजशेखर ने इस वक्रोक्ति को पुनः काव्य के परमावश्यक तत्त्व के रुप में स्वीकार किया । बिना इसके काव्यका काव्यत्व नहीं । उक्तिवैचित्र्य अथवा वैदग्ध्यभंगी भणिति को उन्होंने प्रमुख स्थान दिया । भामह ने यदि कवि को वक्रवाणी वाला कह रखा था तो राजशेखर ने भी कवि के कथन को हमेशा उक्ति अथवा वक्रोक्ति गर्भ स्वीकार किया । सम्भव है कि राजशेखर ने वक्रोक्ति को पुनः वही प्रतिष्ठा प्राप्त कराई हो जो कि भामह के समय में थी । लगता है कि जिस समय राजशेखर कुन्तक, भोज आदि का आविर्भाव हुआ था उस समय भामह के वक्रोक्ति सिद्धान्त का पुनर्विवेचन कर उसे प्रतिष्ठित किया जा रहा था । कुन्तक ने भामह के ही वक्रोक्ति सिद्धान्त को एक सुविन्यस्त और परिष्कृत स्वरूप प्रदान किया इसका विवेचन अगले अध्यायों में प्रस्तुत किया जायगा ।

द्वितीय अध्याय

कुन्तक का काल तथा उनके अनुसार वक्रोक्ति एवं काव्य का स्वरूप

कुन्तक का काल

आचार्य भामह के का अनन्तर वक्रोक्ति की सुदृढ़ स्थापना करने वाले आचार्य कुन्तक है । उन्हें वक्रोक्तिसिद्धान्त का सर्वश्रेष्ठ चिन्तक कहना अत्युक्ति न होगी । भामह के विवेचन में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि उन्होंने वक्रोक्ति का कोई स्पष्ट लक्षण नहीं दिया जो कि इसी बात का सूचक है कि उस समय भामहाभिमत वक्रोक्ति का स्वरूप साहित्य में अत्यन्त प्रसिद्ध था । परन्तु पूर्वाध्याय के सम्पूर्ण विवेचन से यह विदित होता है कि भामह के बाद राजशेखर तक वक्रोक्ति के स्वरूप में पर्याप्त परिवर्तन हुए । यहाँ तक कि वह सर्वालंकारसामान्य के स्वरूप का परित्याग कर एक अलंकारमात्र की कोटि तक पहुँच गई । अतः कुन्तक के लिए आवश्यक था कि वक्रोक्तिसिद्धान्त की स्थापना करते समय वे वक्रोक्ति के स्वरूप को भलीभाँति स्पष्ट करें। कुन्तक ने वैसा किया भी । इसी का विवेचन अब इन अध्यायों में किया जायगा । इसके पहले कि उनके सिद्धान्त का विवेचन करें, उनके समय का निर्णय कर लेना आवश्यक है ।

आचार्य कुन्तक का एकमात्र ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' उपलब्ध होता है जो कि अपूर्ण एवं खण्डित है । अतः ग्रन्थकार ने ग्रन्थ की समाप्ति पर रचनाकाल इत्यादि का निर्देश किया था या नहीं यह पता नहीं चल पाता । ग्रन्थ के आरम्भ में ग्रन्थकार का अपने विषय में कोई निर्देश नहीं है । अतः कुन्तक के कालनिर्धारण में उनकी पूर्व सीमा का निश्चय उनके ग्रन्थ में उद्धृत कवियों अथवा आचार्यों के नामों एवं उनके ग्रन्थों से उद्धृत उदाहरणों के आधार पर करना होगा । तथा उत्तरसीमा का निर्धारण उनके परवर्ती ग्रन्थों में उनके विषय में किए गए उल्लेखों से करना होगा ।

कुन्तक के काल की पूर्व सीमा

(1) आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ में 'ध्वन्यालोक' की अधोलिखित कारिका उद्धृत की है — 'ननु कैश्चित् प्रतीयमानं वस्तु ललनालावण्य साम्याल्लावण्यमित्युपपादितमिति —

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ।।'

1- ध्वन्या. 1/4 उद्धृत व.जी., पृ० 56

साथ ही रसवदलंकार के खण्डन के प्रसंग में उन्होंने एक अन्य कारिका –

'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गन्तु रसादयः ।

काव्येतस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः[1] ।।' को उद्धृत कर उसकी वृत्ति में उद्धृत 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः[2]' इत्यादि तथा 'किं हास्येन न मे प्रयास्यसि[3]' आदि उदाहरणों को उद्धृत कर उनका खण्डन किया है । इसके अतिरिक्त उन्होंने अन्य कई स्थलों पर ध्वन्यालोक के वृत्तिभाग से उदाहरणादिक प्रस्तुत किए हैं । उदाहरणार्थ 'क्रियावैचित्र्यवक्रता' के एक उदाहरण रूप में उन्होंने ध्वन्यालोक वृत्ति के मंगलश्लोक –'स्वेच्छाकेसरिणः[4]' इत्यादि को उद्धृत किया है । इससे स्पष्ट है कि कुन्तक ध्वन्यालोक के कारिकांश एवं वृत्यंश दोनों से पूर्णतः परिचित थे । अतः इसमें संशय ही नहीं रह जाता कि वे आनन्दवर्धन के परवर्ती थे ।

(2) केवल ध्वन्यालोक से ही नहीं उन्होंने रुद्रट के काव्यालंकार से भी 'भण तरुणि रमण मन्दिरम्' आदि तथा 'अनणुरणन्मणि[5]' आदि युगक श्लोकों को साहित्य का विवेचन करते हुए उद्धृत किया है ।

(3) वैसे तो उद्धरण उन्होंने राजशेखरविरचित 'विद्धशालभंजिका' आदि से भी दिए हैं किन्तु नामोल्लेखपूर्वक उन्होंने 'प्रकरणान्तर्गतस्थूलप्रकरणरूप' प्रकरण वक्रता का उदाहरण देते हुए 'बालरामायण' से उद्धरण प्रस्तुत किया है –

'यथा बालरामायणे चतुर्थेऽङ्के लंकेश्वरानुकारी नटः प्रहस्तानुकारिणा नटेनानुवर्त्यमानः –

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने ।

नमः शृंगार बीजाय तस्मै कुसुमधन्वने ।।'[6]

इतना ही नहीं राजशेखर का एक विचित्रमार्गानुयायी कवि के रूप में नाम्ना निर्देश भी किया है –

'तथैव च विचित्रवक्रत्वविजृम्भितं 'हर्षचरिते' प्राचुर्येण भट्टबाणस्य विभाव्यते । भवभूति-राजशेखरविरचितेषु बन्धसौन्दर्यसुभगेषु मुक्तकेषु परिदृश्यते[7] ।'

1- ध्वन्या. 2/5 उद्धृत व.जी. पृ० 163
2- उद्धृत ध्वन्या., पृ० 195-6 तथा व.जी. पृ० 163
3- ,, वही, पृ० 193 तथा व.जी., पृ० 164
4- ध्वन्या., पृ० 4. उद्धृत व.जी. पृ० 36
5- क.प्र. काव्या. 2/22-23 ,, ,, पृ० 7.
6- बालरामायण 3/11 ,, ,, पृ० 235
7- व.जी. पृ० 71.

इस विषय में कोई संशय नहीं किया जा सकता कि इन दोनों आचार्यों में राजशेखर को परवर्ती थे। वे स्पष्ट रूप से दोनों आचार्यों का नाम्ना निर्देश करते हैं —

(क) 'प्रतिभाव्युत्पत्त्योः प्रतिभा श्रेयसीत्यानन्दः। सा हि कवेरव्युत्पत्तिकृतं दोषमशेषमाच्छादयति। यदाह–

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कविः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झगित्येवावभासते [1] ॥'

(ख) 'काकुवक्रोक्तिर्नाम शब्दालङ्कारोऽयमिति रुद्रटः। अभिप्रायवान् पाठधर्मः काकुः, स कथमलङ्कारी स्यादिति यायावरीयः [2]।

अतः निश्चित रूप से कुन्तक के काल की पूर्वसीमा राजशेखर के काल के बाद निर्धारित होती है।

<u>राजशेखर का काल</u>

राजशेखर ने अपने तीन ग्रन्थों - 'विद्धशालभंजिका, 'कर्पूरमंजरी' तथा 'बालभारत' में अपने को राजा महेन्द्रपाल का गुरु बताया है —

(क) 'रघुकुलतिलको महेन्द्रपालः सकलकलानिलयः स यस्य शिष्यः [3]।'

(ख) 'रहुउलचूडामणिणो महिन्दवालस्स को अ गुरू [4]'।

(ग) 'देवो यस्य महेन्द्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणीः [5]।'

इसके अतिरिक्त राजशेखर ने अपने को बालरामायण में 'निर्भयगुरुः [6]' तथा कर्पूरमंजरी 'बालकई कइराओ णिब्भअराअस्स तह उवज्झाओ [7]' कहकर अपने को 'निर्भयराज' का गुरु बताया है। पिशेल महोदय ने निर्भयराज और महेन्द्रपाल को एक सिद्ध किया है। इस महेन्द्रपाल का पुत्र था महीपाल जो आर्यावर्त का सम्राट था। उसका उल्लेख राजशेखर ने बालभारत में इस प्रकार किया है–

'तेन (महीपालदेवेन) च रघुवंशमुक्तामणिनाऽऽर्यावर्तमहाराजाधिराजेन श्रीनिर्भयनरेन्द्रनन्दनेनाराधिताः सभासदः [8] 'इत्यादि।

1- का.मी., पृ0 75-76
2- वही, पृ0 101.
3- विद्धशालभंजिका, 1/6
4- कर्पूरमंजरी, 1/5
5- बालभारत, 1/11
6- बालरामायण, 1/5
7- कर्पूरमंजरी, 1/9
8- बालभारत, पृ0 2

फ्लीट महोदय ने इन महीपाल को 'अस्नीशिलालेख' के राजा महीपाल से अभिन्न सिद्ध किया है । इस शिलालेख का काल विक्रम संवत् 974 अर्थात् 917 ईसवी है । साथ ही पिशेल तथा फ्लीट महोदय ने यह भी निर्देश किया है कि राजशेखर के 'बाल-भारत' एक रूपक की रचना 'महोदय' नामक स्थान में हुई थी जिसे उन्हों ने कान्यकुब्ज अथवा कन्नौज से अभिन्न सिद्ध किया है । वहीं पर राजा महेन्द्रपाल एवं उनके पुत्र महीपाल ने राज्य किया था । 'सियाडोनी' शिलालेख के अनुसार महेन्द्रपाल का काल 903 - 907 ईसवी तथा महीपाल का काल 917 ईसवी है । अतः राजशेखर का काल, यदि यह भी स्वीकार कर लिया जाय कि 903 ई0 में जब कि महेन्द्र पाल कन्नौज के सम्राट थे उस समय उनकी अवस्था चालीस वर्ष की रही होगी' तो सरलता से 860 ई0 के बाद स्वीकार कर सकते हैं । अतः राजशेखर का समय निश्चित रूप से 860 तथा 930 ई0 के मध्य निर्धारित किया जा सकता है और इस प्रकार कुन्तक के काल की पूर्व सीमा 920 या 925 ई0 के बाद की निश्चित होती है ।

कुन्तक के काल की उत्तरसीमा

कुन्तक का नाम्नानिर्देश महिमभट्ट के 'व्यक्तिविवेक', विद्याधर की 'एकावली', नरेन्द्रप्रभसूरि के 'अलंकारमहोदधि' तथा सोमेश्वर की 'काव्यप्रकाशटीका' में किया गया है।[1]

(क) 'काव्यकाञ्चनकषाश्ममानिना कुन्तकेन निजकाव्यलक्ष्मणि ।
यस्य सर्वनिरवद्यतोदिता श्लोक एष स निदर्शितो मया[2] ।।'

(ख) 'एतेन यत् कुन्तकेन भक्तावन्तर्भावितो ध्वनिस्तदपि प्रत्याख्यातम्[3] ।'

(ग) 'माधुर्यं सुकुमाराभिधमोजोविचित्राभिधं तदुभयमिश्ररूपमध्यमं मध्यमो नाम मार्गो केऽपि बुधा कुन्तु(न्त)कादयोऽप्यनुमन्यन्ते । यदाहुः —
'सन्ति तत्र त्रयो मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः ।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः[4] ।।'

1- जैसा कि डा0 काणे ने अपने ग्रन्थ 'H. S. P.' में पृ0 226 एवं 8 उसी पृष्ठ पर पादटिप्पणी सं0 1 में निर्देश किया है कि -
'सोमेश्वर (folio 67 a) — सुकुमारेति यत्कुन्तकः —
सन्ति तत्र त्रयो मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः ।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः ।।
2- व्यक्तिविवेक, 2/29
3- एकावली, पृ0 51
4- अलं. महो., पृ0 201- 202

निश्चय ही इन ग्रन्थकारों में प्राचीनतम महिमभट्ट है जिनको स्वीकार करने में विद्वानों को कोई आपत्ति नहीं है । और इसे भी स्वीकार करने में विद्वानों में दो मत नहीं है कि कुन्तक महिमभट्ट के पूर्ववर्ती है ।

कुन्तक तथा अभिनवगुप्त

कुन्तक और अभिनव गुप्त में कौन पूर्ववर्ती था और कौन परवर्ती ? इस विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है जब कि कुन्तक के कालनिर्धारण का इससे घनिष्ठ सम्बन्ध है । अतः इस समस्या को सुलझाना परमावश्यक है । डा० मुकर्जी तथा डा० लाहिरी ने कुन्तक को अभिनवका पूर्ववर्ती स्वीकार किया है और यह माना है कि अभिनव कुन्तक के 'वक्रोक्ति जीवित' से भली भांति परिचित थे और अच्छी तरह जानते हुए उन्होंने भरत के लक्षण की कुन्तक की वक्रोक्ति के साथ समानता सिद्ध की[1] ।

1- डा० लाहिरी का कथन है-
"The terms and expressions used by Abhinava are undoubtedly those of Kuntaka and this makes it highly probable that the 'Vakroktijivita' appeared earlier than the 'Abhinavabhārati' and Abhinava quite consciously identified (Bharata's) 'Lakṣaṇas' with Kuntaka's 'Vakrokti'."
— C. R. G. (P. 19)

डा० मुकर्जी का निबन्ध प्राप्त न हो सकने के कारण उनके तर्कों के विषय में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता । डा० काणे का कथन है — "Dr. Mookerji in B. C. Law Vol. I at P. 183 says the same thing what Dr. Lahiri said."
— H. S. P., (P. 235)

सम्भवतः डा० मुकर्जी ने यह बताया था कि लोचन में कुछ स्थलों पर कुन्तक की बात का निर्देश किया गया है, जैसा कि डा० काणे के इस कथन से स्पष्ट है —
"Dr. Mookerji is not at all right in thinking that the Locana alludes to Kuntaka (B. C. Law Vol. I, P. 183). There is no evidence worth the name to prove this, or even to make the inference very probable."
— H. S. P. (P. 188-189)

डा०लाहिरी और डा० मुकर्जी का यह अभिमत पूर्णतः सत्य है इस बात का प्रतिपादन अभिनव के वक्रोक्तिसिद्धान्त से सम्बन्ध का विवेचन करते हुए किया जायगा। वस्तुतः कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त का सबलता से प्रत्याख्यान करना असम्भव था अतः अभिनव ने उसका अन्तर्भाव ध्वनि के लक्षणों में कर देने का प्रयास किया। अभिनव के लक्षण-विवेचन के अतिरिक्त अन्य भी कुछ ऐसी बातें हैं जो अभिनव को कुन्तक का परवर्ती सिद्ध करती हैं उन्हीं पर विचार किया जा रहा है —

(1) आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक वृत्ति में 'प्रतीयमान रूपक के उदाहरण रूप में 'प्राप्तश्रीरेष कस्मात्' आदि श्लोक उद्धृत किया है[1]। कुन्तक ने इसे ही 'प्रतीयमान व्यतिरेक' के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है किन्तु उन्होंने आनन्द के मत को भी बड़ी श्रद्धा के साथ इन शब्दों में व्यक्त किया है —

'तत्राध्यारोपणात् प्रतीयमानतया रूपकमेव पूर्वसूरिभिराम्नातम्।'[2]

इसी श्लोक की व्याख्या करते हुए अभिनव ने कहा है—

'यद्यपि चात्र व्यतिरेको भाति तथाऽपि न पूर्वानुवेध स्फुटत्वात् नादृतस्तात्।'[3]

क्या अभिनव का यह कथन कुन्तक के अभिमत की ओर इंगित नहीं करता ?

(2) समान वाचकों में से किसी एक के ही चारुतावैशिष्ट्य का प्रतिपादन करते हुए अभिनव ने कहा है —

'तटीतारं ताम्यति ।इत्यत्र तट शब्दस्य पुंस्त्वनपुंसकत्वे अनादृत्य स्त्रीत्वमेवाश्रितं सहृदयैः—'स्त्रीति नामापि मधुरम्' इति कृत्वा।'[4] अभिनव का यह कथन निश्चित रूप से कुन्तक के 'नामैव स्त्रीति पेशलम्' कारिकांश और उसकी वृत्ति का अनुवादमात्र है। कुन्तक ने लिंगवैचित्र्यवक्रता का निरूपण करते हुए कहा है—

सति लिङ्गान्तरे यत्र स्त्रीलिङ्गं च प्रयुज्यते ।
शोभानिष्पत्तये यस्मान्नामैव स्त्रीति पेशलम्।

इसके उदाहरण में उन्होंने 'तटी तारं ताम्यति' आदि श्लोक उद्धृत कर उसकी व्याख्या में कहा है —

1- द्रष्टव्य ध्वन्या०पृ०261-262
2- व.जी. पृ० 208
3- लोचन, पृ0262
4- वही, पृ0 359

'अत्र त्रिलिंगत्वे सत्यपि 'तट' शब्दस्य, सौकुमार्यात् स्त्रीलिंगमेव प्रयुक्तम्।'[1]

(3) इतना ही नहीं कुन्तक की वक्रताओं की ओर अभिनव-भारती में उन्हों ने स्पष्ट निर्देश भी किया है। अभिनव-भारती में नाम, आख्यात उपसर्ग आदि की विचित्रता का प्रतिपादन करते हुए विभक्तिवैचित्र्य की व्याख्या करते हुए उन्हों ने कहा है —

'विभक्तयः सुप्तिङ्वचनानि तैः कारककालयोः लिङ्गपुरुषग्रहणयोपलक्ष्यन्ते। यथा 'पाण्डिम्नि मग्नं वपुः।' इति वपुषैव मज्जन कर्तृकत्वं तदायत्तां पाण्डिम्नश्चाधारतां गतस्थानीयतां द्योतयन्नतीव रमयति न तु पाण्डुत्वभावं वपुरिति। एवं कारकान्तरेषु वाच्यम्। वचनं यथा 'पाण्डवा यस्य दासाः' 'सर्वे च पृथक् पृथगेवं तथा वैचित्र्येण 'एवं हि रामस्य दाराः।' — एतदेवोपजीव्य यानन्दवर्द्धनाचार्येणोक्तं 'सुप्तिङ्वचनेत्यादि।' 'अन्यैरपि सुबादिवक्रता।'[2]

यहाँ 'अन्यैः' के द्वारा स्पष्ट ही कुन्तक की ओर निर्देश किया गया है।, मैथिली तस्य दाराः' और 'पाण्डिम्नि मग्नं वपुः' आदि उदाहरणों को कुन्तक ने भी लेकर का तथा वृत्ति-वक्रता के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। ऐसा न स्वीकार करने का कोई समुचित कारण भी नहीं है। क्यों कि परवर्ती ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों के उल्लेख से सुबादिवक्रताओं का विवेचन करने वाला कुन्तक के अलावा कोई दूसरा आचार्य उल्लिखित नहीं है। वक्रोक्तिवादी के रूप में आचार्य कुन्तक ही प्रसिद्ध है। महिमभट्ट ने इन्हीं की वक्रताओं और आनन्द की ध्वनियों को एक रूप कहा है। साहित्यमीमांसा कार ने—

'ध्वनिवर्णपदार्थेषु वाक्ये प्रकरणे तथा।
प्रबन्धेऽप्याहुराचार्याः केचिद् वक्रत्वमाहितम्।।'[3]

कह कर षड्विध वक्रताओं का प्रतिपादन करने वाले कुन्तक की ही कारिकाओं को उद्धृत करते हैं किसी अन्य आचार्य की नहीं जब कि 'ध्वनिवक्रता' का विवेचन कुन्तक ने नहीं किया। यदि ध्वनिवक्रता की उद्भावना स्वयं साहित्यमीमांसाकार की न होती तो कम से कम उसके समर्थन में तो किसी अन्य आचार्य का उद्धरण देते। अतः निश्चित ही यहाँ सन्देह करने के लिए कोई स्थान नहीं है किन्तु, जिसे सन्देह करने की बीमारी ही पकड़ ले उसका कोई इलाज भी तो नहीं है क्यों कि सन्देह तो किसी भी विषय में आसानी से किया जा सकता है।

1- व.जी. 2/22 तथा वृत्ति
2- अभि०भा०, पृ०228-229
3- सा०मी०पृ०115

कुन्तक को अभिनव का पूर्ववर्ती न स्वीकार करने वाले विद्वान हैं – डा0शंकरन,[1] डा0डे,[2] डा0राघवन[3] तथा भारतरत्न म.म.काणे महोदय।[4] डा0शंकरन का तर्क है कि 'अभिनव गुप्त ने जो अन्यैरपि मुखादिवक्रता' में 'अन्यैः' कहा है, वह कुन्तक के लिए ही कहा गया है ऐसा हम इसलिए नहीं स्वीकार कर सकते क्यों कि वक्रोक्तिजीवित में हमें 'मुखादिवक्रता' शब्दों से कोई कारिका नहीं प्राप्त होती।

निश्चित ही डा0शंकरन का यह कथन बहुत विचार के अनन्तर कहा गया प्रतीत नहीं होता क्योंकि जैसा अगले विवेचन से स्पष्ट होगा अभिनव ने 'मुखादिवक्रता' के द्वारा भी किसी कारिका के आरम्भ की ओर निर्देश नहीं किया, विषय की ओर किया है। अभिनव गुप्त उक्त स्थल पर नाट्यशास्त्र की–'नानाख्यात निपातोपसर्ग –(ना0शा0 14/4) आदि कारिका में आये हुए विभक्ति पद की व्याख्या कर रहे हैं। स्पष्ट रूप से उनका विवेचन यहाँ आनन्द से प्रभावित है। इसी लिए उन्होंने –'विभक्तयः सुप्तिङ्वचनानि' इस प्रकार व्याख्या प्रस्तुत की है। अतः इनके उदाहरणों को प्रस्तुत करने के अनन्तर उन्होंने कहा –

'एतदेवोपजीव्य आनन्दवर्धनाचार्येणोक्तं— सुप्तिङ्वचनेत्यादि।'

यहाँ स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि उनका निर्देश आनन्द की 'सुप्तिङ्वचन सम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः।' (ध्वन्या0 3/16) आदि कारिका की ओर है। परन्तु यदि उन्हें 'वक्रोक्तिजीवित' में भी 'मुखादिवक्रता' इत्यादि किसी कारिका की ओर निर्देश करना होता तो वे यहाँ भी कहते — 'अन्यैरपि मुखादिवक्रतेत्यादि।' किन्तु ऐसा न कह कर उन्होंने जो केवल 'मुखादिवक्रता' कहा, उसका आशय सुस्पष्ट है कि यहाँ उनका संकेत किसी कारिका

1- द्रष्टव्य, Some Aspects — P.

2- द्रष्टव्य, Introduction to V.J. (PP. XIV-XV) यद्यपि डा0 साहब स्वयं कुछ दबी जबान से कुन्तक की ऊपर उद्धृत 'नातैव स्वोति पेशलम्' कारिका तथा उदाहरण 'तटीतारं' और उसकी व्याख्या के सम्बन्ध में व.जी. पृ0 114 पर पाद टिप्पणी में ऊपर उद्धृत अभिनव गुप्त की 'तटी तारं ताम्यति' आदि व्याख्या को उद्धृत कर कहते हैं— "It is possible that this is a reminiscence of Kuntaka's Kārikā and its illustration."

3- द्रष्टव्य Some Concepts पृ0 235 और Sr. Pra. P. 117

4- द्रष्टव्य, H. S. P. (P. 236)

की ओर नहीं बल्कि विवेचन मात्र की ओर है । जिसे आनन्द ने सुवादिध्वनि कहा है उसे ही दूसरों ने सुवादिवक्रता कहा है।अतः डा0 साहब की यह धारणा कि 'वक्रोक्ति-जीवित' की सुवादिवक्रता में आरम्भ होने वाली कोई कारिका होनी चाहिए पूर्णतया भ्रान्तिमूलक है ।अतः इस आधार पर यह स्वीकार कर लेना कि अभिनव ने कुन्तक की बात का उल्लेख न कर किसी अन्य के अभिमत को प्रस्तुत किया है-समीचीन नहीं है ।

(4) इसके अतिरिक्त रुय्यक ने 'अलंकारसर्वस्व'में ध्वनि के विषय में विभिन्न आचार्यों के अभिमतों का उल्लेख करते हुए पहले वक्रोक्तिजीवितकार और भट्टनायक के मतों का उल्लेख कर ध्वनिकार का मत बताया है।और उसके बाद व्यक्तिविवेककार का मत प्रतिपादित किया है।[1] इस विषय में कालानुक्रम का निर्देश करतेहुए जयरथ ने कहा है—'ध्वनिकारान्तरभावी व्यक्तिविवेककार इति तन्मतमिह पश्चान्निर्दिष्टम्।यद्यपि वक्रोक्ति जीवित हृदयदर्पणकारावपि ध्वनिकारान्तरभाविनावेव'तथापि तौ चिरन्तनमतानुयायिनावेवेति तन्मतं पूर्वमेवोद्दिष्टम्।'[2] रुय्यक और जयरथ द्वारा यहाँ वक्रोक्तिजीवितकार का हृदयदर्पणकार के पूर्व उल्लेख भी इस बात का समर्थक है कि या तो कुन्तक भट्टनायक के भी पूर्ववर्ती थे अथवा उनके समसामयिक थे। और इससे भी कुन्तक की अभिनव से पूर्ववर्तिता ही सिद्ध होती है। क्योंकि अभि. भा. ध्वन्यालोचन दोनों में अनेकों स्थानों पर भट्टनायक का उल्लेख है।

आचार्य अभिनव तथा कुन्तक का कालनिर्धारण

जैसा कि अभिनव के अपने तीन ग्रन्थों में दिए गए काल के आधार पर डा0कान्ति चन्द्र पाण्डेय ने अपने शोध-प्रबन्ध 'अभिनव गुप्त' में उनका साहित्यिक कृतित्व-काल 990-91 ईस्वी से 1014-15ई0तक निर्धारित कर उनका जन्मकाल 950 और

1- द्रष्टव्य, अलं0 स0 पृ0 9-16

2- विमर्शिनी, पृ0 215

960 ई० के बीच निर्धारित किया है,[1] स्पष्ट रूप से उनके 25 या तीस वर्ष पूर्व भी कुन्तक का जन्मकाल मान लिया जाय तो उनका जन्म समय लगभग 925 ईसवी के आस-पास स्वीकार किया जा सकता है । साथ ही इस काल का पौर्वापर्य राजशेखर के काल से भी पूर्ण सामंजस्य रखता है । जैसा कि रचनाक्रम महामहोपाध्याय डा० मिराशी ने निर्धारित किया है उसके अनुसार 'बालरामायण' का रचनाकाल 910 ई० के आस-पास ही पड़ेगा । क्योंकि सबसे पहली रचना मिराशी जी ने 'बालरामायण' को ही स्वीकार किया है। तदनन्तर बालभारत, कर्पूरमंजरी, विद्धशालभंजिका और काव्यमीमांसा का रचनाकाल स्वीकार किया है।[2] जैसा कि पीछे उल्लेख किया जा चुका है सियाडोनी शिलालेख के अनुसार निश्चित रूप से 910 ई० तक 'महीपाल' गद्दी पर बैठ गया होगा । और इसतरह 'बालभारत' का रचनाकाल 915 ई० के आसपास मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इसके बाद यदि दो दो वर्ष के व्यवधान से भी एक एक ग्रन्थ का रचनाकाल निर्धारित किया जाय तो काव्यमीमांसा का रचनाकाल 920 ई० के आस-पास होगा। और इस ढंग से यदि कुन्तक का कृतित्वकाल उनकी 25 वर्ष की आयु की अवस्था के बाद 950 ई० के बाद से भी माना जाय तो 30, 40 वर्षों में बालरामायणादि का अत्यधिक प्रसिद्ध हो जाना असम्भव नहीं ।अतः कुन्तक का कृतित्वकाल दशम शताब्दी के उत्तरार्द्ध का प्रारम्भ मानना ही उचित है । जो कि अभिनव के कृतित्व काल से भी सामंजस्य रखता है । 25 या 30 वर्षों में 'वक्रोक्तिजीवित' का सहृदयसमाज में प्रसिद्ध हो जाना असम्भव नहीं ।

1- द्रष्टव्य 'अभिनवगुप्त', पृ० 7.

2- "I would place the works of Rajasékhara chronologically as follows –
1. The Bālarāmāyaṇa, 2. The Bālabhārata, 3. The Karpūramañjarī, 4. The Viddhaśālabhañjikā and 5. The Kāvyamīmāṃsā."
— Studies in Indology, Vol. I, p. 55

काव्यलक्षण तथा वक्रोक्ति का स्वरूप

आचार्य कुन्तक ने काव्य का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ स्वीकार किया है कि कवि का कर्म काव्य है—'कवेः कर्म काव्यम्'।[1] लेकिन उनकी स्थापना है कि वही कवि का कर्म काव्य होता है जो अलंकार युक्त होता है । अलंकार की काव्य में अलंकार्य से पृथक् सत्ता नहीं होती । यदि काव्य से अलंकार को अलग कर दिया जाय तो काव्यता ही समाप्त हो जायेगी । इसी लिए कुन्तक की दृष्टि में काव्य हमेशा सालंकार ही हुआ करता है, काव्य में अलंकार का अलग से योग नहीं होता , उनका कथन है — 'अयमत्र परमार्थः — सालंकारस्यालंकरणसहितस्य सकलस्य निरस्तावयवस्य सतः समुदायस्य काव्यता कविकर्मत्वम् । तेनालंकृतस्य काव्यत्वमिति स्थितिः, न पुनः काव्यस्यालंकारयोग इति ।'[2] आशय यह कि कुन्तक द्वारा स्वीकृत अलंकार कटककुण्डलस्थानीय नहीं है। मनुष्य जब चाहे अपने शरीर से कटककुण्डल को उतार दे और जब चाहे उसे पुनः धारण कर ले । इससे उसके शरीर के शरीरत्व में कोई बाधा नहीं पड़ती । लेकिन काव्य में कुन्तक द्वारा स्वीकृत अलंकार स्वरूपाधायक तत्त्व है । उस अलंकार के अभाव में काव्य का काव्यत्व ही नहीं रहेगा । इसी लिए अलंकार का काव्य में योग नहीं हो सकता है । उसे अलग से कटककुण्डल की तरह जोड़ा नहीं जा सकता । इसी लिए हमेशा अलंकृत वाक्य ही काव्य होता है । और यह अलंकार है केवल वक्रोक्ति । अतः बिना वक्रोक्ति के काव्यत्व असम्भव है । जैसा कि अभी बताया गया है अलंकार और अलंकार्य की काव्य में पृथक स्थिति कुन्तक को अभीष्ट नहीं । फिर भी काव्य की व्युत्पत्ति के उपायभूत होने के कारण अपोद्धार बुद्धि से उनका अलग अलग विवेचन उन्होंने किया है[3]। जैसे कि वाक्य के अन्तर्गत पदों का तथा पदों के अन्तर्गत प्रकृति प्रत्यय आदि का कोई अलग अस्तित्व नहीं होता फिर भी व्याकरणादि शास्त्रों में उनका अपोद्धार बुद्धि से अलग अलग किया गया विवेचन उपलब्ध होता है।और इस तरह काव्य में शब्द तथा अर्थ अलंकार्य हैं और उन दोनों का एकमात्र अलंकार वक्रोक्ति ही है[4]। वक्रोक्ति शब्द वक्र तथा उक्ति दो पदों के योग से निष्पन्न

1- व. जी., पृ० 3 2- वही, पृ० 7

3- 'तथाप्येवंविधो विवेकः (अलंकार्यालंकारयोः) काव्यव्युत्पत्त्युपायतया प्रतिपद्यते'-वही, पृ० 6

4- 'उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः ।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते ।।' — व. जी 1/10

होता है । वक्र का अर्थ है टेढ़ा और उक्ति का अर्थ है कथन । इस प्रकार वक्रोक्ति का अर्थ टेढ़ा कथन या टेढ़ी बात हुआ । इस वक्रोक्ति पद का उच्चारण करने से तुरन्त हमारे ध्यान में स्वभावोक्ति आ जाती है, वह इसके विपरीत स्वभाव वाली है । अतः जब हम 'टेढ़ी बात' कहते हैं तो तुरन्त ध्यान में आता है कि कोई 'सीधी बात' भी है । वस्तुतः लोकमें जब हम साधारण ढंग से बातचीत करते हैं तो वह बिल्कुल साफ और सीधी होती है । किसी अपरिचित व्यक्ति के मिलने पर हम उससे यही पूछते हैं कि 'आप कहाँ से आ रहे हैं और आपका शुभ नाम क्या है ?' यह बिल्कुल सीधी बात है, सर्वप्रसिद्ध है । इसी तरह शास्त्रों में किसी भी बात का सीधे ढंग से प्रतिपादन उत्तम समझा जाता है क्यों कि शास्त्रगत विवेचन यदि सीधी शब्दावली में नहीं होगा तो उसका उपदेश सर्वसाधारण को ग्राह्य नहीं होगा और शास्त्र का उद्देश्य भी असफल हो जायगा। इस तरह लोकव्यवहार में तथा शास्त्र में सीधी बात अथवा स्वभावोक्ति का महत्त्व होता है । लेकिन काव्य में स्वभावोक्ति का कोई महत्त्व नहीं । वहाँ तो वक्रोक्ति का ही साम्राज्य होता है । वहां यदि किसी अपरिचित व्यक्ति से 'आप कहाँ से आ रहे हैं ? और आपका शुभ नाम क्या है ?' इस ढंग से पूछा जाय तो वह कवि की अशक्ति अथवा उस वाक्य की अकाव्यता का [illegible] द्योतक होगा । वहां तो पूछेंगे- 'आपने अत्यधिक उमड़ती हुई विरह-व्यथा वाले किस देश को शून्य कर दिया है ? और कौन से पुण्यशाली अक्षर आपके शुभ नाम की सेवा करते हैं ?'[1] यही स्पष्ट ही वक्रोक्ति है, यह सर्व साधारण के वश की बात नहीं । इसे रसिक ही समझ सकता है इसका आस्वादन कर इससे आनन्द उठा सकता है, इस उक्ति के चमत्कार का अनुभव कर सकता है और काव्य मर्मज्ञ ही इसका प्रयोग भी कर सकता है । लोक व्यवहार के कथन में अथवा स्वभावोक्तिमें ऐसा कोई चमत्कार नहीं जो इस वक्रोक्ति अथवा काव्य की उक्ति में है । इसी लिए कुन्तक ने वक्रोक्ति को लोक एवं शास्त्र में प्रसिद्ध कथन से व्यतिरेकी विचित्र कथन कहा है । — 'वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा।'[2] तथा 'वक्रोक्ति[illegible] योऽसौ शास्त्रादिप्रसिद्ध शब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकी'[3] एवं 'अतिक्रान्तप्रसिद्धव्यवहारसरणिः'[4] इत्यादि । आचार्य दण्डी ने

1- 'कतमः प्रविजृम्भितविरहव्यथः शून्यतां नीतो देशः स्मानि च पुण्यभाञ्जि भवन्त्यभिख्याक्षराणि ?'-हर्षचरित 1, पृ. 40-41.
2- व. जी., पृ० 22
3- वही, पृ० 14
4- वही पृ० 195

भी काव्य को शास्त्र से भिन्न शक्ति वाला ही माना है । यह उनके वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति रूप से वाङ्मय के विभाजन से तथा शास्त्र में केवल स्वभावोक्ति के ही साम्राज्य की घोषणा से स्पष्ट है[1] । इस प्रकार यह निश्चय होता है कि वक्रोक्ति लोक-व्यवहार एवं शास्त्रादि में प्रसिद्ध कथन से व्यतिरेकी कथन को कहते हैं । अभी अपरिचित व्यक्ति से मिलने पर लोक एवं काव्य के जिन दो कथनों को ऊपर उद्धृत किया गया है उन पर विचार करने से यह स्पष्ट प्रतीति होती है कि लोक व्यवहार वाले कथन में वक्ता का कोई चातुर्य नहीं है जब कि दूसरे में वक्ता के चातुर्य की साफ ही भंगिमा झलकती है । दूसरे कथन से सुस्पष्ट है कि वक्ता निश्चय ही अत्यन्त वाक्पटु है । और इसी लिए कुन्तक ने वक्रोक्ति को 'वैदग्ध्यभंगीभणिति'[2] कहा है । विदग्ध का अर्थ होता है निपुण, सयाना, चतुर, और इसी विदग्ध शब्द से भाव अर्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय करके वैदग्ध्य शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है निपुणता, सयानापन या चतुराई । भङ्गी का अर्थ है भंगिमा, विच्छित्ति, सौंदर्य । इस प्रकार चातुर्य की भंगिमा से प्रस्तुत किया गया कथन वक्रोक्ति कहलाता है । ऊपर यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि काव्य की काव्यता इसी वक्रोक्ति के कारण होती है और चूंकि काव्य कवि का कर्म होता है अतः इस वक्रोक्ति को उपनिबद्ध करने का श्रेय कवि को ही होगा । इस वक्रोक्ति से कवि की निपुणता ही व्यक्त होगी इसी लिए कुन्तक ने वैदग्ध्य का अर्थ कवि-कर्म-कौशल किया है—'वैदग्ध्यं विदग्धभावः कविकर्मकौशलं तस्य भङ्गीविच्छित्तिः, तया भणितिः विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते[3] ।' इस वैदग्ध्यभङ्गीभणिति का महत्त्व कुन्तक से पूर्व अवन्तिसुन्दरी ने प्रतिपादित कर रखा था । इसी विचित्र उक्ति के कारण ही तो उसने वस्तुस्वभाव का आनन्त्य प्रतिपादित किया था -

' विदग्धभणितिभङ्गिनिवेद्यं वस्तुनो रूपं न नियतस्वभावम् इत्यवन्तिसुन्दरी[4] ।'

कुन्तक ने एक साथ वक्रोक्ति की अलंकारता को और भी अच्छे ढंग से प्रतिपादित किया है। वस्तुतः अलंकार उसी को कहते हैं जो कि शोभातिशय को उत्पन्न करता है । इस प्रकार

1- देखें काव्यादर्श, 2/363 तथा 2/13
2- 'वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते '-व.जी. 1/10
3- वही, पृ0 22
4- का. मी., पृ0 146

काव्य मे शब्द और अर्थ तो अलंकार्य होते है उनको कवि किसी अलग अलंकार मे अलंकृत करता है । लेकिन वक्रता के वैचित्र्य से युक्त रूप मे उनका कथन ही उनका प्रधान अलंकार होता है क्यो कि वही शोभातिशय को उत्पन्न करता है । 'वक्रतावैचित्र्ययोगितया ऽभिधानमेवानयोरलंकारः, तस्यैवशोभातिशयकारित्वात्'[1] ।वस्तुतः साधारण ढंग से सीधे सादे रूप मे प्रतिपादित किया गया शब्द और अर्थ का स्वरूप चमत्कारजनक नही होता है ।लेकिन जब उसी शब्द एवं अर्थ के स्वरूप का प्रतिपादन असाधारण ढंग से वक्रतापूर्ण कथन द्वारा कर दिया जाता है उसमे एक अपूर्व छटा आ जाती है ।शब्द और अर्थ का वह स्वरूप सौन्दर्यातिशय से युक्त हो जाता है।अतः शब्द और अर्थ के सौन्दर्यातिशय को प्रस्तुत करने के कारण केवल विचित्र कथन या वक्रोक्ति ही उनका एक मात्र अलंकार सिद्ध होता है। कवि का काव्य इसी अलंकार के कारण ही स्वभावतः ~~रसनिसृष्य~~ रसनिष्यंद से रमणीय हो जाता है । अलंकार्य तथा अलंकार का अपोद्धार बुद्धि से पृथक् विवेचन करने वाली कारिका के पूर्व उसकी अवतरणिका के रूप मे कुन्तक स्पष्ट ही कहते है कि –

'आयत्यांच तदात्वे च रसनिष्यन्द सुन्दरम् ।
येन सम्पद्यते काव्यं तदिदानीं विचार्यते ।।'[2]

और इसके तुरन्त बाद वे इस कारिका को प्रस्तुत करते है कि -

'अलंकृतिरलंकार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते ।
तदुपायतया तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता ।।'[3]

इससे स्पष्ट है काव्य को हमेशा रसनिष्यन्द से रमणीय होना चाहिए। और यह रमणीयता उसके सालंकार होने पर ही रहती है, तभी तो सालंकार ही वस्तुतः काव्य होता है और अलंकार का यहाँ अपोद्धार बुद्धि से पृथक् विवेचन इसलिए किया जा रहा है कि वह काव्यता का उपायभूत है बिना अलंकार के काव्यता नही होगी, अतः सिद्ध है कि बिना अलंकार के रसनिष्यन्दरमणीयता भी नही होगी । और चूंकि अलंकार एकमात्र वक्रोक्ति है अतः काव्य मे रसनिष्यन्द से रमणीयता वक्रोक्ति के कारण ही होती है, यह सिद्ध हो जाता है ।

1- व. जी., पृ0 22-23
2- वही, 1/7
2- [illegible], पृ0 6
3- वही, 1/6

इस प्रकार अलंकार और अलंकार्य की दृष्टि से काव्य के स्वरूप का कुछ स्वरूप-निरूपण तो कुन्तक ने किया। परन्तु उसके स्वरूप का भलीभांति निरूपण करने के लिए उन्होंने काव्य का लक्षण दिया — 'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।।'[1]

स्पष्ट ही कुन्तक ने भामह के काव्यलक्षण को एक सुविन्यस्त एवं परिमार्जित रूप में प्रस्तुत किया है । भामह ने केवल 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'[2] को ही काव्य के लक्षण रूप में प्रस्तुत किया है । और उनके शब्दार्थ-साहित्य का आशय अलंकारयुक्त शब्द एवं अर्थ के सामंजस्य से ही था । क्यों कि इस लक्षण को प्रस्तुत करने के पूर्व वे केवल शब्दालंकार-वादियों तथा केवल अर्थालंकारवादियों दोनों का खण्डन कर अपना मत प्रस्तुत करते हैं कि हमें तो शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों ही अभीष्ट हैं[3] । साथ ही इन शब्दों और अर्थों का एक मात्र अलंकार उन्होंने भी वक्रोक्ति को ही माना था —

'वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते ।'[4] तथा

'वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः'[5] । अतः इतना तो सुनिश्चित ही है कि कुन्तक पूर्णतया भामह के ही काव्यलक्षण को स्वीकार करते हैं । लेकिन इतना होने के बाद भी भामह का लक्षण सर्वथा सुबोध नहीं था साथ ही तद्विदाह्लादकारित्व जैसे महत्वपूर्ण तत्त्व का कोई विवेचन नहीं किया गया था, अतः कुन्तक को उनके लक्षण का परिष्कार करना आवश्यक था । कुन्तक ने अपने काव्यलक्षण में प्रयुक्त प्रत्येक पद की बड़ी ही सुस्पष्ट एवं मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत की है । इसके पहले कि इस व्याख्या का गम्भीर विवेचन किया जाय, पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्य-लक्षण पर थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है - भामह के अतिरिक्त वामन ने भी शब्द और अर्थ को, जो कि गुणों एवं अलंकारों से संस्कृत होते हैं काव्य स्वीकार किया —

'काव्य शब्दोऽयं गुणालंकार संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते'[6] ।

1- व.जी. , 1/17
2- भामह काव्या0 1/16
3- भामह काव्या0, 1/14 तथा 15 -'शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयन्तु नः '।।
4- भामह काव्या0, 5/66
5- वही, 2/36
6- का.सू.वृ. 1/1/1 पर वृत्ति

काव्य को ग्राह्य उन्हों ने भी अलंकार के कारण ही माना । और उस अलंकार की सिद्धि गुणों एवं अलंकारों के उपादान तथा दोषों के परित्याग से स्वीकार की । रुद्रट ने भी शब्द और अर्थ के सम्मिलित रूप को काव्य स्वीकार किया- 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्'[1] तथा शब्द के विषय में इनका यह कथन कि 'कवि की रचना में उसी शब्द का प्रयोग करना चाहिए जो चारुत्व को उपस्थित करे'[2] एवम् अर्थ के विषय में यह कहना कि 'अर्थ का उसी प्रकार उपनिबन्धन करना चाहिए जैसा कवि-परम्परा द्वारा चिरकाल से स्वीकृत है चाहे अर्थ का वह स्वरूप वास्तविक न भी हो'[3] इन्हें भामह और वामन की कोटि में पहुँचा देते हैं क्यों कि इस प्रकार से भी विशिष्ट शब्द और विशिष्ट अर्थ की काव्यता स्वीकार करते हैं । साथ ही उसी काव्य को इन्हों ने यशःप्राप्ति का साधन भी बताया है जिसमें कि शब्दार्थों के दोषों का परित्याग और गुणों का उपादान किया गया होता है।आनन्दवर्द्धन ने भी शब्द और अर्थ के साहित्य को ही काव्य स्वीकार किया है-'शब्दार्थयोः साहित्येन काव्यत्वे'[4] ।इसके विपरीत आचार्य दण्डी ने 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली'[5] कह कर तथा राजशेखर ने 'गुणवदलंकृतंच वाक्यमेव काव्यम्'[6] कह कर केवल शब्दों की ही काव्यता का प्राधान्येन प्रतिपादन किया । इनके अतिरिक्त परवर्ती आचार्यों में से भोज, मम्मट, हेमचन्द्र, वाग्भट, विद्याधर, विद्यानाथ आदि ने शब्द और अर्थ दोनों के सम्मिलित रूप को काव्य स्वीकार किया जब कि पण्डितराज जगन्नाथ और विश्वनाथ आदि ने केवल शब्द की काव्यता स्वीकार किया । इनके मन्तव्यों की आलोचना आगे की जायेगी । यहाँ अपेक्ष्य केवल इतना है कि इन लोगों ने काव्यलक्षण में, दोषों का अभाव, गुणों का सद्भाव अलंकारों की सत्ता और रसादिक की स्थिति अनिवार्य रूप से स्वीकार की । भामह ने कहा है कि काव्य में एक भी सदोष पद का प्रयोग नहीं करना चाहिए अन्यथा वह उसी प्रकार निन्दनीय होता है जैसे कुपुत्र के कारण पिता निन्दा का भाजन बनता है -

> 'सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत् ।
> विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते।।'[7]

1- रु०, काव्या०2/1

2- 'रचयेत्तमेव शब्दं रचनाया यःकरोति चारुत्वम्।सत्यपि समानार्थत्वे वितरत्युपकारमन्येऽभिधानेषु।'(वही 2/9)

3- 'सुकविपरम्परया चिरमविगीततयान्यथा निबद्धं यत्।
वस्तु तदन्यादृगपि बध्नीयात्तत्प्रसिद्ध्यैव।।'(वही, 7/8)

4- ध्वन्या०, पृ०538

5- काव्यादर्श1/10

6- का०मी०, पृ०8।

7- भामह, काव्या०, 1/11

दण्डी ने भी इसी बात को समर्थित किया-'तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन । स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ।।'[1] वामन ने स्पष्ट रूप से काव्य को अलंकार के कारण ग्राह्य बताया और उस अलंकार की सिद्धि दोषों के परित्याग तथा गुणों एवं अलंकारों के उपादान से मानी।[2] रुद्रट ने भी दोषों से हीन एवं गुणों अथवा अलंकारों तथा रसों से युक्त काव्य को यशः प्राप्ति का साधन बताया।[3] आनन्दवर्द्धन ने भी प्रायः यही स्वीकार किया । भोज ने भी दोषों से हीन रसादिक गुणों एवं अलंकारों से युक्त काव्य को ही कीर्ति और प्रीति का हेतु बताया[4] । मम्मट,[5] हेमचन्द्र,[6] विद्यानाथ[7] तथा वाग्भट[8] आदि ने भी निर्दोष तथा गुणों एवं अलंकारों से युक्त शब्द और अर्थ को काव्य माना । अस्तु,

कुन्तक ने जिन शब्दों एवं अर्थों के सम्मिलित रूप को काव्य स्वीकार किया है वे साधारण एवं प्रसिद्ध वाचक तथा वाच्य शब्द और अर्थ नहीं है[9] । काव्य में वही वाचक

1- काव्यादर्श, 1/7

2- 'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्' 'स दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्'का. सू. वृ. 1/1/1 तथा 3.

3- रुद्र. काव्या0, 11/36 तथा 15/21

4- स. कं. 1/2

5- 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' -काव्यप्र0, 1/4

6- 'अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्' - हेम. काव्यानु0, 1/11

7- 'गुणालंकारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ - - - काव्यम् । प्र. रु. य., पृ0 42

8- 'शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंकारौ च काव्यम्' - काव्यानुशासन

9- व. जी. 1/8

शब्द कहलाने का अधिकारी होता है जो कि अनेक वाचकों के विद्यमान रहने पर भी कविविवक्षित अर्थ का एकमात्र अद्वितीय वाचक होता है :-

'शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि ।'[1]

कवि-विवक्षित विशेष का प्रतिपादन करने में समर्थ ही शब्द शब्द होता है । क्योंकि कवि द्वारा अपने विवक्षित अर्थ के प्रतिपादक ऐसे ही वाचक का प्रयोग सहृदयों को आह्लादित करने में समर्थ होता है । निदर्शनार्थ कालिदास का 'द्वयं गतं सम्प्रति शोच-नीयताम्' इत्यादि श्लोक लिया जा सकता है । यहाँ कवि ने शिव के वाचक 'कपालिनः' पद का प्रयोग किया है । यहाँ कविविवक्षित है शंकर के प्रति पार्वती के मन में घृणा उत्पन्न करना जिससे वे शिव से विवाह करने का हठ त्याग दें । और उस कविविवक्षित को यह 'कपालिनः' पद जो कि बीभत्स का व्यंजक है भलीभाँति प्रतिपादित कर देता है । अतः यह वाचक शब्द कहलाने का अधिकारी है । लेकिन यदि इसी जगह 'पिना-किनः' पद का प्रयोग कर दिया जाता तो वह निश्चय ही कवि-विवक्षित अर्थ के विपरीत अर्थ का वाचक होगा । यद्यपि है वह भी शिव का वाचक, परन्तु उसमें कविविवक्षित अर्थ को प्रतिपादित करने की सामर्थ्य नहीं है अतः इस प्रसंग में वह शब्द कहलाने का अधिकारी नहीं है । इसी तरह वही वाच्य अथवा अर्थ अर्थ कहलाने योग्य होता है जो सहृदयों को आह्लादित करने वाले अपने स्वभाव से ही सुकुमार होता है—

'अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः ।'[2] कहने का आशय यह है कि पदार्थ के अनेकों धर्म होते हैं । लेकिन एक श्रेष्ठ कवि काव्य में पदार्थ के उसी धर्म से सम्बन्ध का वर्णन करता है जिससे कि या तो उस पदार्थ के स्वभाव की महत्ता परिपुष्ट होती है अथवा वह रस के परिपोष का अंग बन जाता है और ऐसे धर्म से युक्त होने पर ही वह सहृदयों को आनन्दित करने में समर्थ होता है ।[3] इस लिए काव्य में कवि द्वारा प्रयुक्त वही वाच्य अर्थ होता है जिसके द्वारा या तो पदार्थ के स्वभाव की महत्ता प्रतिपादित होती है अथवा वह रसों को सम्यक् निष्पादित कराने में सहायक सिद्ध होता है । लेकिन इसके विपरीत यदि उसके द्वारा न तो वस्तुस्वभाव की महत्ता ही स्पष्ट हुई और न रस ही परिपुष्ट हुआ तो वह अर्थ कहलाने का अधिकारी नहीं।

1- व.जी. 1/9

3- वही, पृ० 19 'यद्यपि पदार्थस्य ---- व्यतिभावाद्यति।'

2- वही, 1/9

इस प्रकार कुन्तक द्वारा स्वीकृत काव्य में प्रयुक्त होने वाले एवं शब्दों एवं अर्थों का विशिष्ट स्वरूप स्वतः उनकी निर्दोषता और रमणीयता को सिद्ध कर देता है। इसी लिए कुन्तक स्पष्ट शब्दों में कहते हैं — 'तदेवं विचार्य विशिष्टमेव शब्दार्थयोर्लक्षणमुपादेयम्। तेन नेयार्थापार्थादयो दूरोत्सारितत्वात् पृथक् न वक्तव्याः।'[1]

इस प्रकार कुन्तक ने काव्य के शब्दों एवं अर्थों का विशिष्ट स्वरूप प्रतिपादित किया। ये दोनों सम्मिलित रूप में ही काव्य होते हैं, केवल रमणीय शब्द अथवा केवल रमणीय अर्थ ही काव्य नहीं होता क्यों कि जैसे प्रत्येक तिल में तेल रहता है उसी प्रकार शब्द तथा अर्थ दोनों में ही तद्विदाह्लादकारित्व होता है एक में नहीं।[2] परन्तु काव्य होने के लिए इनका सम्मिलित होना ही पर्याप्त नहीं है क्योंकि सम्मिलित होने पर भी तो किसी की न्यूनता अथवा थोड़ा आधिक्य सम्भव हो सकता है और वैसी स्थिति में कुन्तक इन्हें काव्य मानने को तैयार नहीं है। अतः इनमें साहित्य होना चाहिए। वस्तुतः शब्द तथा अर्थ में वाच्य-वाचक सम्बन्ध होने के कारण एक प्रकार का साहित्य तो विद्यमान ही रहता है जो कि सर्वप्रसिद्ध है। 'सहितयोर्भावः साहित्यम्'। लेकिन काव्य में कुन्तक को वह साहित्य नहीं अभीष्ट है क्योंकि उस वाच्यवाचक-लक्षण शाश्वत सम्बन्धनिबन्धन को साहित्य मानने पर एक गाड़ीवान का वाक्य भी काव्य होने लगेगा। क्योंकि वैसा शाश्वतसम्बन्धरूप साहित्य तो उसमें भी विद्यमान रहता ही है।[3] अतः जैसे शब्द और अर्थ का विशिष्ट स्वरूप उन्हें मान्य है वैसे ही वह साहित्य भी विशिष्ट रूप में ही उन्हें अभीष्ट है—'किन्तु विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम्।' और साहित्य का जितना प्रामाणिक विवेचन कुन्तक ने प्रस्तुत किया है वैसा किसी अन्य आचार्य ने नहीं। कुन्तक के विवेचन से पूर्व राजशेखर ने साहित्य शब्द का विवेचन अपनी 'काव्यमीमांसा' में इस प्रकार किया था- 'शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या'[4] अर्थात् जिस विद्या में शब्द और अर्थ का यथावत् सहभाव विद्यमान रहता है उसे साहित्यविद्या कहते हैं।

1- व. जी., पृ० 22

2- 'तस्माद् द्वयोरपि प्रतितिलमिव तैलं तद्विदाह्लादकारित्वं वर्तते।' वही, पृ० 7

3- वही पृ०26, 'किन्तु न वाच्यवाचकलक्षणशाश्वतसम्बन्धनिबन्धनं वस्तुतः साहित्यमुच्यते।' इत्यादि।

4- का. मी., पृ० 29

परन्तु यथावत् अभाव में उनका क्या आशय था यह स्पष्ट नहीं। डा0 नगेन्द्र ने 'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित' की भूमिका (पृ0 22) पर लिखा है — 'कुन्तक के पूर्ववर्ती किसी आचार्य को यह (साहित्य विवेचन का) गौरव नहीं दिया जा सकता। उनके परवर्ती आचार्यों में भी भोज तथा राजशेखर आदि कुछ गिने चुने आचार्यों ने ही इस महत्त्वपूर्ण (साहित्य) शब्द की व्याख्या की है।' लगता है डा0 साहब ने ये पंक्तियाँ बिना 'वक्रोक्तिजीवित' का सम्यक् अध्ययन किए ही लिख दी हैं। अन्यथा राजशेखर को कुन्तक का परवर्ती कदापि न कहते। कुन्तक ने अपने ग्रन्थ में कालिदास के बाद राजशेखर के ही 'बालरामायणादि' ग्रन्थों से सर्वाधिक उद्धरण प्रस्तुत किए हैं। इतना ही नहीं विचित्र मार्ग के अनुयायियों में भवभूति के साथ राजशेखर का नामतः उल्लेख (हि. व. जी.) पृ0 156 पर भी किया है। साथ ही राजशेखर का साहित्य विवेचन ऊपर उद्धृत एक वाक्य के अतिरिक्त और कुछ अधिक प्राप्त भी नहीं होता है। राजशेखर के अतिरिक्त कुन्तक के पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य ने साहित्य का विवेचन नहीं किया। कुन्तक ने साहित्य का लक्षण दिया —

'साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः॥'[1]

अर्थात् साहित्य उसे कहते हैं जहाँ पर सौन्दर्यश्लाघा के लिए अथवा 'सहृदयाह्लादकारिता' के लिए शब्दों तथा अर्थों में परस्पर होड़ लगी रहती है। दोनों में से एक की भी न्यूनता अथवा उत्कर्षयुक्तता नहीं होती। दोनों समान रूप से सहृदयों को आनन्दित करने में समर्थ होते हैं।[2] इस शब्द और अर्थ की अन्यूनानतिरिक्तता की बात कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में लेख के गुणों का वर्णन करते हुए 'परिपूर्णता' नामक गुण के लक्षण में कही थी—
'अर्थपदाक्षराणामन्यूनातिरिक्तता हेतूदाहरणदृष्टान्तैरर्थोपवर्णनाश्रान्तपदतेति परिपूर्णता'[3]।
कुन्तक का कहना है कि जैसे सभी समान गुणों वाले दो मित्र मिल कर एक दूसरे की शोभा बढ़ाते हैं उसी प्रकार जहाँ सभी समानगुणों से युक्त शब्द और अर्थ एक दूसरे की

1- व. जी., 1/17

2- वही, पृ0 26

3- अ. शा. 2/10/11

शोभा बढ़ाते है उस स्थिति को साहित्य कहते है[1] । यह सौन्दर्यशालिता के प्रति परस्पर स्पर्धा-रूप साहित्य शब्द का दूसरे शब्द के साथ तथा अर्थ का दूसरे अर्थ के साथ ही अभीष्ट है[2] । क्यो कि जब शब्द शब्दो के साथ तथा अर्थ अर्थो के साथ स्पर्धा कर सुन्दरतम रूप मे उपस्थित होगा तभी दोनो सुन्दरतम स्वरूप को उपस्थित करने मे समर्थ होगे और तभी सहृदयो को आनन्दानुभूति होगी । इस प्रकार यद्यपि दोनो का अपने सजातीयो से भी साहित्य अभीष्ट है फिर भी एक का साहित्यहीन होना दूसरे को भी साहित्यहीन बना देता है । अतः किसी मे भी साहित्यविरह नही होना चाहिए- कुन्तक कहते है कि -'परमार्थतः पुनरुभयोरप्येकतरस्य साहित्यविरहोऽप्यन्तरस्यापि पर्यवस्यति[3] ।' क्योकि यदि अर्थ बहुत ही रमणीय है परन्तु उसका सम्यक् प्रतिपादन करने मे उसका वाचक समर्थ हो नही तो वह भी निर्जीव सा ही हो जाता है । इसी तरह शब्द भी यदि बड़ा रमणीय रहा लेकिन वाक्य के लिए उपयुक्त उसे वाच्य न मिला तो वह भी दूसरे अर्थ का वाचक होकर उस वाक्य के लिए व्याधिरूप सा हो जाता है ।अतः शब्द तथा अर्थ दोनो मे ही साहित्य का होना परमावश्यक है ।

इस प्रकार जहाँ पर शब्दो तथा अर्थो मे सुकुमारादि मार्गो के अनुरूप रमणीय माधुर्य आदि गुणो की एवं वक्रता के अतिशय से युक्त अलंकारो की रचना की, तथा वृत्तियो के औचित्य से मनोहर रसो के परिपोष को प्रस्तुत करने मे होड़ लगी रहती है वह कोई अनिर्वचनीय एवं सहृदयो को आनन्दित करने मे समर्थ स्थिति साहित्य कही जाती है[4] । इस प्रकार कुन्तक के साहित्य मे अन्य आचार्यो द्वारा काव्यलक्षण मे स्वीकृत गुणो,अलंकारो एवं रसो का सद्भाव अन्तर्भूत है ।

1- 'समसर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव सङ्गतौ ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा।।' (व.जी. 1/18श्लोक)

2- '[illegible] यथायुक्ति स्वजातीयापेक्षया शब्दस्य शब्दान्तरेण वाच्यस्य वाच्यान्तरेण च साहित्यं परस्परस्पर्धित्वलक्षणमेव विवक्षितम्।अन्यथा तद्विदाह्लादकारित्वहानिः प्रसज्येत्।' पृ0 12 (व0 जी0)

3- वही, पृ0 14

4- मार्गानुगुण्यसुभगो माधुर्यादिगुणोदयः।
अलंकरणविन्यासो वक्रतातिशयान्वितः ।।
वृत्त्यौचित्यमनोहारि रसानां परिपोषणम्।
स्पर्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि।।
सा काप्यवस्थितिस्तद्विदानन्दस्पन्दसुन्दरा।
पदादिवाक्परिस्पन्दसारः साहित्यमुच्यते।। (व.जी. पृ028)

बन्ध का स्वरूपः- इस तरह जब उपर्युक्त स्वरूप वाले शब्दऔर अर्थ इस विशिष्ट साहित्य के साथ बन्ध में व्यवस्थित होते हैं तभी काव्य होता है । इस काव्य-लक्षण में बन्ध शब्द का प्रयोग बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । बन्ध से आशय है वाक्यविन्यास से । वाक्य में उपनिबद्ध हो शब्द और अर्थ काव्य होते हैं । इसीलिए 'शब्दार्थौ सहितौ' इत्यादि काव्य लक्षण में प्रयुक्त शब्द और अर्थ पद के द्विवचन का आशय शब्द जाति तथा अर्थ जाति के द्वित्व से है । अन्यथा व्यक्ति अर्थ होने पर एक पद में व्यवस्थित भी शब्द और अर्थ काव्य होने लगते हैं कुन्तक का कथन है— 'द्विवचनेनात्र वाच्यवाचकजातिद्वित्वमभिधीयते। व्यक्तिद्वित्वाभिधाने पुनरेकपदव्यवस्थितयोरपि काव्यत्वं स्यादित्याह—बन्धे व्यवस्थितौ[1] ।' बन्धकवि व्यापार से सुशोभित होने वाले उस वाक्यविन्यास को कहते हैं जो शब्द और अर्थ दोनों के सौभाग्य तथा लावण्य गुणों को परिपुष्ट करता है । अर्थात् जिसके कारण रचना सुन्दर और सहृदयों को आह्लादित करने वाली हो जाती है —

'वाच्यवाचकसौभाग्यलावण्यपरिपोषकः ।

व्यापारशाली वाक्यस्य विन्यासो बन्ध उच्यते।।— — — —

सौभाग्यं प्रतिभासंरम्भफलभूतं चेतनचमत्कारित्वलक्षणम् ।लावण्यं संन्निवेशसौन्दर्यम्[2] ।

लेकिन बन्ध में यह सौंदर्य तभी आ सकता है जब कि वह कवि के वक्र व्यापार से सुशोभित हो । वक्रोक्ति का स्वरूप निरूपण करते हुए यह स्पष्ट किया जा चुका है कि वक्रोक्ति से आशय उस वैचित्र्य- युक्त कथन से है जो लोक एवं शास्त्र में प्रसिद्ध कथन से व्यतिरेकी होताहै । कुन्तक ने कविव्यापार की इस वक्रता के मुख्यतया छः भेद प्रतिपादित किये हैं,काव्य की सबसे छोटी इकाई वर्णों से लेकर सबसे बड़ी इकाई प्रबन्ध तक इस वक्रता का साम्राज्य है । इसी लिए वर्णविन्यासवक्रता,पदपूर्वार्द्ध वक्रता,पदपरार्द्धवक्रता, वाक्यवक्रता,प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता नाम से उन्होंने छः प्रधान भेद प्रतिपादित किए हैं । इन समस्त वक्रताओं का प्राण औचित्य है[3] । इनका विस्तृत विवेचन अगले

1- व. जी . पृ० ।।

2- वही, 1/22 तथा वृत्ति

3- वही, 1/18-21

'कविव्यापारवक्रत्वप्रकाराः सम्भवन्ति षट्।

प्रत्येकं बहवो भेदास्तेषां विच्छित्तिशोभिनः ।। ' इत्यादि '

अध्याय मे किया जायगा । इस प्रकार यह निष्कर्ष निकला कि कवि-व्यापार को वर्ण-विन्यास आदि वक्रताओ से सुशोभित होने वाले, सौभाग्य एवं लावण्य गुणो को परि-पुष्ट करने वाले उस वाक्य विन्यास को काव्य कहते है जिसमे कविविवक्षित अर्थ के एकमात्रवाचक शब्दो तथा सहृदयो को आह्लादित करने वाले अपने स्वभाव से ही रमणीय अर्थों का सौन्दर्यशालिता के प्रति परस्पर स्पर्धा रूप साहित्य विद्यमान रहता है साथही वह वाक्यविन्यास काव्यतत्त्वज्ञो को आनन्दित करने मे सर्वथा समर्थ होता है । 'अतः कुन्तक के अनुसार काव्यताकी सबसे बड़ी कसौटी 'तद्विदाह्लादकारित्व' है । और उस तद्विदाह्लादकारित्व को प्रस्तुत करने का श्रेय कवि के वक्र व्यापार को है । यह तद्विदाह्लाद-कारित्व अनिर्वचनीय है केवल अनुभवैकगम्य है । यह शब्द अर्थ तथा अलंकार तीनो से स्वरूपतः भिन्न है तथा इन तीनो के उत्कर्ष से अतिशायी उत्कर्षवाला है लोकोत्तर है—

> 'शब्दवाच्यवक्रोक्ति त्रितयातिशयोत्तरम् ।
> तद्विदाह्लादकारित्वं किमप्यामोदसुन्दरम् ।।'[1]

शब्द की शब्दता अर्थ की अर्थता साहित्य के साहित्यपक्ष, कविव्यापार की वक्रता और बन्ध के बन्धत्व का निर्णायक तद्विदाह्लादकारित्व ही है । और इन सबको तद्वि-दाह्लादकारी रूप मे प्रस्तुत करने का श्रेय कविकर्मकौशल अथवा कविव्यापारवक्रता को है। बिना कवि-व्यापार की वक्रता के तद्विदाह्लादकारित्व आ ही नही सकता । वक्रकवि-व्यापार ही उसका असाधारण कारण है । इस कारण की असाधारणता को सूचित करने के हेतु ही कुन्तक एक स्थान पर उन दोनो मे अभेद स्थापित कर देते है और प्रकरणवक्रता के प्रसंग मे कहते है—'अत्र च तद्विदाह्लादकारित्वमेव वक्रत्वम्'।उनका यह कार्यकारण का अभेद-कथन इसी बात का द्योतक है कि वक्रकविव्यापार तद्विदाह्लादकारित्व का असाधारण कारण है बिना उसके तद्विदाह्लादकारित्व सम्भव नही ।'इस वक्रता के विद्यमान रहने पर बिना अर्थ की पर्यालोचना किए ही केवल बन्ध सौन्दर्य को सम्बलित गीत के समान काव्यतत्त्वज्ञो के हृदयो को आह्लादित करती है । साथ ही अर्थ का ज्ञान हो जाने पर पदार्थ और वाक्यार्थ से भिन्न पानक रस के आस्वाद की तरह सहृदयो के अन्तःकरण मे किसी अनिर्वचनीय आस्वाद की अनुभूति होती है । जब कि इस वक्रता के अभाव मे कवियो के वाक्य वैसे ही निर्जीव हो जाते है जैसे जीवित के बिना शरीर

1- व. जी. 1/23

और स्फुरण के बिना जीवित। और जब यह वक्रता विद्यमान रहती है तो वाणी उस अनिर्वचनीय सौभाग्य को प्राप्त करती है जिसे कि केवल उसके मर्म को समझने वाले ही समझ पाते है,अन्य[1] नहीं।

इस प्रकार कुन्तक के काव्यलक्षण के विवेचन से यह निष्कर्ष सामने आता है कि उन्हो ने अपने लक्षण को अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोनो से पूर्णतया बचाने का एवं काव्य के सही रूप को प्रस्तुत करने का पर्याप्त प्रयास किया है।यह ठीक भी है क्यो कि प्रत्येक आचार्य अपने लक्षण को पूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास करता ही है ।डा0 नगेन्द्र ने हिन्दी व.जी.की भूमिका मे कुन्तक के इस काव्यलक्षण को असफल घोषित किया है।उनके कथन की समीक्षा आवश्यक है अतः उसे प्रस्तुत किया जा रहा है।डा0 साहब का कहना है कि --'कुन्तक की अपनी शब्दावली सर्वथा निर्दोष नही कही जा सकती। एक तो 'बन्धे व्यवस्थितौ'का पृथक् उल्लेख अपने आप मे सर्वथा आवश्यक नही क्यो कि 'सहित'शब्द के पश्चात्[2] इसके लिए कोई विशेष अवकाश नही रह जाता।'सहित' शब्द मे व्यवस्थित भी होगा। निश्चय ही डा0साहब ने ध्यान नही दिया,अन्यथा इसका उत्तर कुन्तक स्वयं दे चुके है।साहित्य तो एक शब्द और एक ही अर्थ मे भी होता है। कुन्तक से पूर्व यह व्यवस्था मिलने लग रही थी कि साहित्य केवल बन्ध मे ही सम्भव है।केवल 'सहितौ'पद से लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित होता,अतः 'बन्धे व्यवस्थितौ' यह उल्लेख तो परमावश्यक था । और जब यह निश्चय हो जाता है कि बन्ध मे विशेष रूप से अवस्थित शब्द और अर्थ ही काव्य है तभी कुन्तक के इस कथन की भी समीचीनता सिद्ध होती है कि साहित्य का यही आशय शब्द की दूसरे शब्द के साथ तथा अर्थ की दूसरे अर्थ के साथ परस्पर स्पर्धा से है[3] । डा0साहब की दूसरी आलोचना है कि कुन्तक के काव्यलक्षण की शब्दावली व्याख्यापेक्षी है।वे कहते है कि-'वक्रकविव्यापारशाली विशेषण व्याख्या सापेक्ष(सापेक्ष्य) है।

1- व.जी. 1/37 से 40 तक अन्तरश्लोक

2- हि.व.जी. भूमिका पृ02।

3- व.जी.पृ0 12

कुन्तक की वक्रता स्वयं एक विशिष्ट प्रयोग है फिर कविव्यापार की व्यवस्था भी अपेक्षित है, पहले कवि का लक्षण फिर व्यापार का लक्षण करना पड़ेगा तब कविव्यापारशाली का आशय व्यक्त हो सकेगा ।' ऐसी आलोचना करने से पहले पता नहीं कौन सा लक्षण डा० साहब ने पा लिया था अथवा स्वयं दे दिया था जो व्याख्यासापेक्ष नहीं था । भामह के जिस लक्षण को वे सबसे अधिक सन्तोषप्रद बताते हैं क्या उसमें सहितौ पद व्याख्या-सापेक्ष नहीं ? क्या शब्द और अर्थ स्वयं व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखते ? क्या वामन की रीति और आनन्द की ध्वनि व्याख्या सापेक्ष नहीं ? क्या मम्मट आदि द्वारा काव्यलक्षण में प्रयुक्त दोष, गुण, अलंकार आदि पद व्याख्या सापेक्ष नहीं ? क्या विश्वनाथ के 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' में वाक्य और रसात्मक पद व्याख्या सापेक्ष नहीं ? क्या पण्डितराज के 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' में रमणीयादि पद स्वयं व्याख्यासापेक्ष नहीं ? क्या आधुनिक शब्दावली में प्रयुक्त होने वाला 'कलात्मक' शब्द स्वयं व्याख्यापेक्षी नहीं ? और यदि ये सभी व्याख्यासापेक्ष नहीं है तो क्या इन सभी आचार्यों को पागलपन ने आ घेरा था जो उनकी व्याख्या प्रस्तुत की । अतः निश्चित ही डा० साहब का यह आक्षेप निस्सार है । क्योंकि किसी भी वस्तु का लक्षण पहले आचार्य गण सूत्र रूप में संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं और फिर उस लक्षण में प्रयुक्त शब्दों की भलीभांति व्याख्या कर उस वस्तु के स्वरूप का सुस्पष्ट निरूपण करते हैं । केवल मम्मट के 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' काव्य लक्षण को पढ़ लेने से ही मम्मटाभिमत काव्य का सही स्वरूप किसी की समझ में नहीं आ सकता जब तक कि वह मम्मट के सम्पूर्ण ग्रन्थ को भली भांति पढ़कर दोषों, गुणों एवं अलंकारों के उनके अभिमत स्वरूप को अच्छी तरह न समझ ले । केवल 'गन्धवती पृथ्वी' कह देने से पृथ्वी का स्वरूप कोई नहीं समझ सकता जब तक कि वह गन्ध के स्वरूप को भलीभांति न समझ ले । अतः यह आक्षेप कि लक्षण की शब्दावली व्याख्यापेक्षी है, तत्त्वहीन ही प्रतीत होता है । इन बातों के अलावा डा० साहब ने एक और भी आक्षेप उठाया है । आप का कहना है कि "तद्विद का आशय भी स्पष्टीकरण की अपेक्षा करता है । काव्य काव्यमर्मज्ञ को आह्लादित करता है यह तो कोई बात नहीं हुई ।"[2]

1- हि. व. जी. भूमिका, पृ02।

2- वही, पृ0 2।

पता नहीं डा0 साहब के इस कथन का क्या आशय है ? उनका यह कथन स्वयं व्याख्या-सापेक्ष है । यदि काव्य द्वारा काव्यमर्मज्ञ के आह्लादित होने पर 'कोई बात' ही नहीं है तो पता नहीं काव्य के मर्म को न समझने वाले जिनके आह्लादित होने पर 'कोई बात' होगी। क्या काव्य के काव्यत्व का निर्णय काव्यतत्त्व से अनभिज्ञ के आह्लादित होने पर डा0साहब को मान्य है अथवा और कुछ? कुछ स्पष्ट नहीं । हाँ, डा0 साहब का ध्यान यदि 'बन्दर क्या जाने अदरक का स्वाद' अथवा 'भैंस के आगे बीन बजे भैंस खड़ी पगुराय' इत्यादि हिन्दी की लोकोक्तियों की ओर भी गया होता तो शायद ऐसा न कहते । शायद किसी गँवार अनपढ़ देहाती के सामने डा0 साहब यदि शेक्सपीयर के रूपकों को प्रस्तुत करें तो वह अंग्रेजी साहित्य के मर्मज्ञ से अधिक आनन्द प्राप्त कर सकेगा । और उस समय वह 'कोई बात' हो सकेगी । दण्डी, आनन्दवर्धन, कुन्तक, अभिनव आदि आचार्य सम्भवतः काव्य के रहस्य को नहीं समझ सके थे तभी तो बेचारों ने काव्यानन्दानुभूति की बात रसिकों सहृदयों एवं काव्यमर्मज्ञों के लिए की। दण्डी ने यह व्यर्थ ही तो काव्यता की कसौटी प्रतिपादित की कि-

'न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदङ्गैः काव्यं न दुष्यति ।
यद्युपात्तेषु सम्पत्तिराराधयति तद्विदः ।।'[1]

आनन्द ने नाहक ही 'सहृदयमनःप्रीतये' ध्वनि का स्वरूप निरूपण किया उन्हें तो 'प्राकृतजन-मनःप्रीतये' अथवा 'काव्यतत्त्वानभिज्ञमनःप्रीतये' ध्वनिस्वरूप का निरूपण करना था, तभी तो 'कोई बात' होती। खैर, यह तो रही डा0 साहब की बात इसे वे ही जानें । हमें तो सहृदय-शिरोमणि आनन्दवर्धनाचार्य की ही बात मान्य है कि - 'वैकटिका एव हि रत्नतत्त्वविदः, सहृदया एव हि काव्यानां रसज्ञा इति कस्यात्र विप्रतिपत्तिः ।'[2] अतः काव्य का परीक्षण और उससे आनन्दोपलब्धि काव्यमर्मज्ञ सहृदय ही कर सकता है । अन्य नहीं । किसी को यह शंका हो सकती है कि कुन्तक यदि 'शब्दार्थौ सहितौ बन्धे व्यवस्थितौ काव्यम्' इतना ही काव्य का लक्षण देते तो भी काम चल सकता था क्यों कि शब्द, अर्थ, साहित्य, एवं बन्ध के स्वरूप विवेचन से ही वक्रकविव्यापार और तद्विदाह्लादकारित्व का माहात्म्य एवं स्वरूप प्रकट हो जाता है । पर ऐसी शंका समीचीन नहीं होगी क्यों कि कवि का वक्रव्यापार ही तो इन सब में प्रमुख है और उसी के कारण से इन्हीं अपने स्वरूप को

1- काव्यादर्श, 1/20

2- ध्वन्या0, पृ0 519

प्राप्त करते है यह भलीभांति स्पष्ट किया जा चुका है । यहाँ तक कि साहित्य के विवेचन मे कुन्तक स्पष्ट हो कह उठते है कि साहित्य के प्राधान्य मे भी परमार्थतः प्राधान्य कविप्रतिभा की प्रौढ़िका ही होता है — 'यद्यपि द्वयोरप्येतयोस्तत्प्राधान्ये-नैववाक्योपनिबन्धः ,तथापि कविप्रतिभाप्रौढिरेव प्राधान्येनावतिष्ठते ।'[1] बन्ध के लक्षण मे कहते है कि- व्यापार मे सुशोभित होने वाला वाक्यविन्यास ही बन्ध कहलाता है । 'व्यापारशाली वाक्यस्य विन्यासो बन्ध उच्यते।'[2] अतः वक्रकविव्यापार का काव्यलक्षण मे उपादान परमावश्यक था । साथ ही इन सब के परखने की कसौटी है तद्विदाह्लाद-कारित्व' उसका माहात्म्य शब्दादिक प्रत्येक के स्वरूप विवेचन मे अत्यन्त स्पष्ट हो रहा है, अतः सर्वाधिक प्राधान्य के कारण उसका भी काव्यलक्षण मे उपादान अनिवार्य था । इस लिए इन दोनो पदो के प्रयोग को अधिक और अनावश्यक कहना समीचीन नहीं प्रतीत होता। तभी तो मम्मट ने भी काव्य का लक्षण 'तददोषौ' इत्यादि देते हुए भी काव्य को लोकोत्तर वर्णना मे निपुण कवि का कर्म कहा है— 'शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाद्यङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म' इत्यादि।[3]

<u>काव्यप्रयोजन</u>

प्रसिद्ध है कि बिना प्रयोजन के मन्दबुद्धि व्यक्ति भी किसी कार्य मे प्रवृत्त नही होता—'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' ।श्लोक वार्तिक मे स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है कि सभी शास्त्रो का अथवा किसी भी कर्म का जब तक प्रयोजन नही बताया जाता तब तक उसे कोई भी ग्रहण नहीं करता ।[4] इसी लिए प्रत्येक ग्रन्थ के आरम्भ मे ग्रन्थकार उसके अनुबन्ध चतुष्टय अर्थात् अभिधान,अभिधेय प्रयोजन और सम्बन्ध का निरूपण करते है । जहाँ तक अलंकारशास्त्र के ग्रन्थो का प्रश्न है अधिकतर ग्रन्थकारो ने अपने शास्त्रीय ग्रन्थ का प्रयोजन न बताकर काव्य के ही प्रयोजनो का निरूपण किया है और उसे ही उस ग्रन्थ का भी प्रयोजन मान लिया है ।विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ साहित्यदर्पण के प्रारम्भ मे अपने ग्रन्थ के प्रयोजन का निरूपण करते हुए इस बात का अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख किया है—

1- व.जी.पृ० 13 2- वही, पृ० 1/22 3- का.प्र.,पृ० 6

4- 'सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वाऽपि कस्यचित् ।
यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत्केन गृह्यते ॥' (श्लो०वा०1/12).

'अस्य ग्रन्थस्य काव्यांगतया काव्यफलैरेव फलवत्त्वमिति काव्यफलान्याह—'[1]

इसी प्रकार मम्मट के काव्यप्रयोजनों की व्याख्या के पूर्व प्रदीपकार ने भी कहा है—

'इहाभिधेयं ग्रन्थस्य प्रयोजनं काव्यस्य फलेन फलवत्त्वमिति प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यर्थं प्रतिपादयितुमाह-काव्यं यशसे इत्यादि'[2] किन्तु आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित'का प्रयोजन अलग बताया और काव्य का प्रयोजन अलग । जहाँ तक उनके ग्रन्थ के प्रयोजन की बात है वह है—'लोकोत्तर आह्लाद को उत्पन्न करने वाले वैचित्र्य की सिद्धि'[3] । यहाँ वैचित्र्य से आशय वक्रोक्ति से ही है अतः वक्रोक्ति की सिद्धि उनके ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित'का प्रयोजन है । जो कि काव्य का अलंकारग्रन्थ है ।लेकिन अलंकार का लाख प्रयोजन हो तो भी क्या होता है? जब तक कि उसके अलंकार्य का प्रयोजन न बताया जाय,वह बेकार ही होता है । इसी लिए कुन्तक ने काव्य के प्रयोजनों का भी अलग से निरूपण किया है। इसके पूर्व कि कुन्तक द्वारा प्रतिपादित काव्यप्रयोजनों का विवेचन किया जाय उनसे पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा मान्य काव्य-प्रयोजनों पर एक दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है । आचार्य भरत ने नाट्य अथवा काव्य के प्रयोजन रूप में,धर्म,यश,आयु,हित,बुद्धिवृद्धि और लोकोपदेश की प्राप्ति स्वीकार की है । उनका कथन है—

> 'धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम् ।
> लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ।।'[4]

तदनन्तर भामह ने भी काव्य के प्रयोजनरूप में धर्म,अर्थ,काम एवं मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय के विषय में, तथा कलाओं के विषय में निपुणता,यश और आनन्द को प्रस्तुत किया[5] । वस्तुतः काव्य का सम्बन्ध दो व्यक्तियों से होता है– एक कवि से तथा दूसरा श्रोता, सहृदय अथवा सामाजिक से । अतः काव्य का प्रयोजन प्रायः दोनों की दृष्टि में रख कर स्थापित किया गया है । यदि कवि का काव्य से कोई प्रयोजन न होता तो वह काव्य रचना में ही प्रवृत्त नहीं होता और यदि श्रोता या सहृदय का कोई प्रयोजन नहीं होगा तो वह

1- वा.व.,पृ0 7

2- का.प्र.प्र.,पृ0 5

3- 'लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्य सिद्धये।
काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते।।' व.जी. 1/2

4- ना.शा. 1/115 यद्यपि वे ना.शा. 1/108 से लेकर 1/115 तक तमाम प्रयोजनों की व्याख्या करते हैं पर वे सभी इसी में अन्तर्भूत हैं अतः इसी कारिका को उद्धृत किया गया है।विस्तार के लिए ग्रन्थ देखें।

5- 'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्।।'–भामह,काव्या0 1/2

उसे सुनेगा, पढ़ेगा, देखेगा ही क्यों ? भरत के विवेचन से तो धर्म, यश और आयु को कवि के लिए तथा हित, बुद्धिविवर्धन और लोकोपदेश को सहृदय के लिए प्रयोजन रूप मे स्वीकार किया जा सकता है । धर्म को केवल कवि के लिए इसी लिए कहा गया है क्यों कि उसके काव्य से दूसरों का हित, बुद्धि विवर्धन और लोकोपदेश की सिद्धि होने से परोपकार के द्वारा धर्मप्राप्ति होगी ही। जैसा कि रुद्रट ने कहा ही है—

'अन्योपकारकरणं धर्माय महीयसे च भवतीति ।

अधिगत परमार्थानामविवादो वादिनामत्र ।।'[1]

किन्तु भामह द्वारा प्रयुक्त 'साधुकाव्यनिबन्धनम्' पद से उनके द्वारा गिनाये गये सारे प्रयोजन केवल कवि के लिए ही होते है ऐसा अभिव्यक्त होता है । और इस प्रकार से काव्य मे मुख्य जो सहृदय है उसके प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती । सम्भवतः इसी कमी को दृष्टि मे रखते हुए अभिनव गुप्त[2] तथा विश्वनाथ[3] ने 'साधुकाव्यनिबन्धनम्' के स्थान पर 'साधुकाव्यनिषेवणम्' पाठ उद्धृत किया है । साथ ही अभिनव गुप्त ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि कवि के लिए कीर्ति तथा श्रोताओं के लिए धर्मादिक और कलाओं के विषय मे नैपुण्य एवं प्रीति प्रयोजनभूत है। और कवि के लिए भी अभिनव कहते है कि कीर्ति के द्वारा प्रीति ही सम्पादनीय होती है क्यों कि कीर्ति को स्वर्ग के फल वाली कहा गया है और स्वर्ग प्राप्ति से आनन्दोपलब्धि ही होती है 'तत्र कवेस्तावत् कीर्त्यापि प्रीतिरेव सम्पाद्या।यदाह-कीर्तिं स्वर्गफलामाहुः' इत्यादि[4] ।' इस प्रकार भामह ने भरत के काव्यप्रयोजनों मे एक अत्यावश्यक प्रयोजन 'प्रीति' अथवा आनन्दोपलब्धि को जोड़ा । भामह के अनन्तर आचार्य दण्डी सामने आते है । दण्डी ने स्पष्ट रूप से काव्य-प्रयोजन का निरूपण नहीं किया ।लेकिन उन्हे भी कीर्ति और प्रीति ही कवि के लिए काव्य-प्रयोजन रूप मे मान्य थे, ऐसा उनके ग्रन्थ की समाप्ति पर उल्लिखित श्लोक से स्पष्ट होता है । उनका कथन है कि 'व्युत्पन्नबुद्धिरमुना विधिदर्शितेन मार्गेण दोषगुणयोर्वशवर्तिनीभिः । वाग्भिः कृताभिसरणो मदिरेक्षणाभिर्धन्यो युवेव रमते लभते च कीर्तिम्।'[5]

1- रुद्रटकाव्याल0, 1/7

2- लोचन, पृ0 40

3- सा.द. पृ0 10

4- लोचन, पृ0 40

5- काव्यादर्श, 3/187

यहाँ 'सुखेन रमते' से आनन्द का ग्रहण किया जा सकता है, कीर्ति का तो स्पष्ट उल्लेख है ही । आचार्य वामन भी दण्डी की ही भाँति काव्य के प्रयोजन रूप में केवल कीर्ति और प्रीति को ही स्वीकार करते हैं —'काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थम्, प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्।'[1] उनमें प्रीति दृष्ट प्रयोजन है और कीर्ति अदृष्ट प्रयोजन है । वामन के प्रयोजन भी केवल कवि की ही दृष्टि से हैं । यह बात वामन द्वारा उद्धृत इस श्लोक से और भी पुष्ट हो जाती है—

'तस्मात्कीर्तिमुपादातुमकीर्तिञ्च व्यपोहितुम् ।
काव्यालंकारसूत्रार्थः प्रसाद्यः कविपुंगवैः ।।'[2]

वामन के अनन्तर काव्यप्रयोजन का विस्तृत विवेचन रुद्रट के काव्यालंकार में मिलता है । उन्होंने काव्यप्रयोजन का विवेचन कवि तथा श्रोता दोनों की दृष्टि से किया है । कवि काव्य से दूसरे राजादिकों के यश को अमर बनाता है, अतः परोपकार करता है और इस परोपकार से उसे धर्म की सिद्धि होती है। साथ ही देवादिकों की तथा राजाओं सुन्दर स्तुति करके अर्थ, अनर्थों की शान्ति, अतुल्य सुख अथवा जो कुछ भी उसे अभीष्ट होता है प्राप्त करने में समर्थ होता है । इस प्रकार इस काव्यरचना से पुरुषार्थों की सिद्धि होती है। तथा कवि कल्पान्तस्थायि यश को प्राप्त करता है । इस प्रकार रुद्रट के अनुसार कवि के लिए धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष रूप पुरुषार्थ-चतुष्टय की सिद्धि और अमर यश की प्राप्ति काव्यरचना के प्रयोजन हैं[3]। डा०नगेन्द्र ने 'हिन्दी-वक्रोक्ति-जीवित' की भूमिका में लिखा है कि 'कवि के लिए रुद्रट ने यश को काव्य का मुख्य का मुख्य फल माना है और श्रोता के लिए चतुर्वर्ग-फलास्वाद को[4]।' परन्तु यह कथन समीचीन नहीं प्रतीत होता, क्यों कि रुद्रट का स्पष्ट कथन है कि अविकल रूप से पुरुषार्थ-सिद्धि को भलीभाँति सम्पादित करने की इच्छा रखने वाले निपुण कवियों के द्वारा जिन्होंने कि समस्त ज्ञातव्य वस्तुओं को जान रखा है निर्मल काव्य की रचना करनी चाहिए—

'ननिति पुरुषार्थसिद्धिं साधुविधास्यद्भिरविकलां कुशलैः ।
अधिगतसकलज्ञेयैः कर्तव्यं काव्यममलमलम् ।।'[5]

1- का.सू.वृ. 1/1/5
2- वही, सूत्र 1/1/5 की व्याख्या
3- रु० काव्या० 1/4-12 तथा 1/21
4- हि.व.जी.भू. , पृ० 29
5- रु०काव्या०, 1/12

इस प्रकार रुद्रट ने प्रथम अध्याय में केवल कवियों की दृष्टि से काव्य प्रयोजन प्रतिपादित किया है।और आगे चलकर बारहवें अध्याय के प्रारम्भ में श्रोता अथवा सहृदय की दृष्टि से काव्यप्रयोजन बतलाया है और यह प्रयोजन चतुर्वर्ग के विषय में मनोरम ढंग से शीघ्र ज्ञानकी उपलब्धि बताया है । नमिसाधु का स्पष्ट कथन है —'ननुकाव्यकर्त्तो कवेः पूर्वमेव फलमुक्तम्, श्रोतृणान्तु किमायातमित्याह —

'ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे।'
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः ।।'[1]

इसप्रकार रुद्रट ने भामह के सभी प्रयोजनों को तो प्रतिपादित किया किन्तु मुख्य प्रयोजन प्रीति को भुला बैठे । रुद्रट के अनन्तर आनन्दवर्द्धन ने केवल 'सहृदयमनः-प्रीति'को ही प्रधान प्रयोजन रूप में प्रतिष्ठित किया[2] । क्यों कि काव्य के आत्मभूत तत्व ध्वनि का निरूपण ही जब से 'सहृदयमनःप्रीति'स्वतः सिद्ध हो जाता है ।इस प्रकार आनन्द ने एकमात्र सहृदयमनःप्रीति को ही प्रयोजन रूप में स्वीकार कर उसे समस्त प्रयोजनों का मौलिभूत प्रतिपादित किया । यद्यपि परवर्ती कुन्तक ,म्म० मम्मट,हेमचन्द्र आदि आचार्यों की भाँति उन्होंने उसे वाच्यतया सकल प्रयोजन मौलिभूत नहीं कहा लेकिन उन्हें अभिमत यही था-कि यह उनके विवेचन से स्पष्ट हो ध्वनित हो जाता है । ठीक भी तो है ।उन्हींके शब्दों में सहृदयजन अभिमततर वस्तु का प्रकाशन व्यंग्यत्वेन करते हैं । 'प्रसिद्धेऽपिप्रबन्धेऽयमेव विदग्धविद्वत्परिषत्सु यदभिमततरं वस्तु व्यंग्यत्वेनप्रकाश्यते न साक्षाच्छब्दवाच्यत्वेन।'[3] आनन्दवर्द्धन के अनन्तर राजशेखर का समय आता है । राजशेखर ने वैसे काव्यप्रयोजनों की व्याख्या सुस्पष्ट ढंग से तो नहीं कि फिर भी उनके विवेचन से लगता है कि उन्हें काव्य प्रयोजन के रूप में धर्म और अर्थ विषयक ज्ञान तथा हितोपदेश तो सहृदय के लिए मान्य था, क्यों कि वे साहित्य विद्या को विद्या इसलिए कहते हैं कि उससे धर्म और अर्थ का ज्ञान होता है-'आभिर्धर्माथौं यद् विद्यात् तद् विद्यानां विद्यात्वम्।'[4]

1- रुद्र०काव्या०, पृ० 149

2- ध्व०, 1/1

3- वही, पृ० 533

4- का०मी०,पृ०24—यहाँ किसी को भी यह सन्देह हो सकता है कि कहीं साहित्यविद्या से आशय साहित्यशास्त्र (Science of Poetics)से तो नहीं है।परन्तु ऐसा सोचना युक्तियुक्त नहीं।यहाँ साहित्यविद्या से आशय है कि 'साहित्यमेव विद्या साहित्यविद्या' अर्थात् जिस प्रकार से आन्वीक्षिकी,त्रयी,वार्त्ता और दण्डनीति चार विद्यायें विद्या के प्रस्थान(Branches of Knowledge)हैं वैसे ही साहित्य अर्थात् काव्य भी पाँचवीं विद्या

(शेष---

अन्यथा साहित्य विद्या विद्या नहीं न होती । साथ ही काव्य भी एक विद्यास्थान है यह सिद्ध करते हुए वे कारण बताते हैं कि वह भी सहृदय वहृदय मय होता, कवि का धर्म होता है साथ ही हितोपदेशक होता है । अतः जिन कारणों से शास्त्र विद्यास्थान है वैसे ही काव्य भी विद्यास्थान है ।— 'सहृदयहृदयमयत्वात् कविधर्मत्वात् हितोपदेशकत्वात्व।'[1] ये प्रयोजन तो सहृदय की दृष्टि में रहे। कवि की दृष्टि से उन्होंने भी यश को प्रयोजन रूप में स्वीकार किया है । अर्थाहरण के का विवेचन करते हुए वे कहते हैं कि 'यश का न मिलना भले अच्छा है लेकिन अपयश की प्राप्ति ठीक नहीं ।—'वरमप्राप्तिर्यशसो न पुनर्दुर्यशः।[2] इससे स्पष्ट है कि कवि के लिए काव्यरचना का प्रयोजन यश ही है।

आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में काव्य के प्रयोजनों का विवेचन केवल श्रोता अथवा सहृदय की ही दृष्टि से किया है । उन्हों ने काव्य के प्रधानतया तीन प्रयोजन स्वीकार किए है —

'काव्य धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय के सम्पादन का उपाय होता है। कुन्तक का कथन है—

'धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमो दितः ।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः ।।'[3]

यद्यपि धर्मादिक की सिद्धि के उपायों का वर्णन पुरुषार्थों का उपदेश करने वाले अन्य शास्त्रों में भी होता है उनके प्रतिपादन का क्रम बहुत ही कठोर होता है । शास्त्र सुनने में कटु बोलने में कठिन और समझने में भी कठिन ही होते हैं । अतः सुकुमार बुद्धि राजपुत्रादिक अथवा सहृदयजन इनका अध्ययन करने के लिए प्रवृत्त भी नहीं होते । जब कि इसके विपरीत काव्य मृदु शैली में वर्णित होता है । सुनने से हृदय आह्लादित हो उठता है । जी बार-बार उसे पढ़ने व सुनने को करता है अतः उस काव्य के माध्यम से कविजन उन राजपुत्रादिकों को धर्मादि का उपदेश देकर उन्हें सन्मार्ग पर लाते हैं उनके

(शेष)— (Branch of Knowledge) है और ऐसा ही अर्थ मानने पर राजशेखर की ऊपर उद्धृत उक्ति भी उचित प्रतीत होगी। क्यों कि साहित्य द्वारा धर्म और अर्थ के विषय में ज्ञान होता है, अतः उसका भी विद्यात्व निर्विवाद सिद्ध हो जाता है।

1- का. मी., पृ0 22

2- वही, पृ0 193

3- व. जी. 1/3

अविवेक को नष्ट कर पुरुषार्थ की ओर प्रवृत्त करते है । मानवजीवन का परमलक्ष्य पुरुषार्थ सिद्धि को ही स्वीकार किया है । काव्य द्वारा इसे सरलता के साथ प्राप्त किया जा सकता है ।अतः यह काव्य का पहला प्रयोजन हुआ।कुन्तक ने कहा है कि—

'कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम् ।
आह्लाद्यामृतवत्काव्यमविवेकगदापहम् ।।'[1] इस प्रयोजन के विषय मे स्पष्ट है कि कुन्तक ने कोई नवीन उद्भावना नही प्रस्तुत की इसका प्रतिपादन भरत, भामह, रुद्रट आदि पहले भी कर चुके थे । हाँ, कुन्तक ने शास्त्रादिक के साथ इसकी तुलना कर इसकी अच्छी व्याख्या प्रस्तुत की है । इसका प्रभाव आगे चलकर महिमभट्ट आदि पर भी पड़ा और काव्य के प्रयोजन के रूप मे विधिनिषेधविषयक व्युत्पत्ति को प्रतिष्ठित करते हुए उन्हो ने प्रायः कुन्तक की ही शब्दावली का प्रयोग किया है।[2] यह प्रयोजन तो काव्य का इस लिए बताया गया है कि इससे शास्त्र की अपेक्षा काव्य की उपादेयता कम नही है यह बात सिद्ध हो जाती है ।

2- इस पुरुषार्थ रूप मुख्य प्रयोजन के अतिरिक्त कुन्तक ने काव्य का दूसरा प्रयोजननवीन औचित्यपूर्ण व्यवहार का ज्ञान बताया है । यह प्रयोजन लोक व्यवहार को निभाने के लिए परमावश्यक है । लोक मे सुन्दर व्यवहार कैसे करना चाहिए, व्यवहार का औचित्य और अनौचित्य क्या है इसका सम्यक् ज्ञान सत्काव्य से ही होता है।इसी लिए कुन्तक ने कहा है —

'व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः ।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते ।।'[3]

काव्यो मे मुख्यतः महापुरुषो या बड़े बड़े राजाओ इत्यादि के चरित्र का वर्णन किया जाताहै । उनके साथ उनके मन्त्रियो , भृत्यो और प्रजादिको के वर्णन को अंग रूप मे प्रस्तुत किया जाता है।अतः उनके अध्ययन से यह ज्ञान हो ही जाता है कि किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए।प्राणी का प्राणी के साथ व्यवहार ही तो महत्वपूर्ण होता है। फिर काव्यानुशीलन से जिसे उचित व्यवहार का ज्ञान हो गया है उसके विषय मे कहना

1- व.जी. 1/श्लोक 7
2- व्य.वि., पृ0 96
3- व.जी. 1/4

हो गया । उचित व्यवहार विषयक प्रयोजन का यह निरूपण कुन्तक का अपना ही कहना अधिक समीचीन होगा । वैसे भरत ने 'लोकोपदेशजननं' तथा 'लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम्' कह कर, तथा राजशेखर ने 'हितोपदेशक' कह कर भले ही इसकी ओर इंगित किया हो पर यह स्पष्ट नहीं था । कुन्तक के इस विवेचन का सुस्पष्ट प्रभाव मम्मट पर पड़ा और उन्होंने 'व्यवहारविदे'[1] कह कर कुन्तक के इसी अभिमत का समर्थन किया ।

3- इन दो प्रयोजनों के अतिरिक्त कुन्तक ने समस्त प्रयोजनों का मौलिभूत प्रयोजन काव्य-मर्मज्ञों के अन्तश्चमत्कार को स्वीकार किया । काव्यामृत रस के द्वारा निष्पन्न होने वाला यह सहृदयों का चेतश्चमत्कार चतुर्वर्ग के फलास्वाद को भी तिरस्कृत कर देने वाला होता है—

> 'चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।
> काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ।।'[2]

कुन्तक ने ऊपर प्रतिपादित किया था कि काव्य चतुर्वर्ग की सिद्धि के उपाय का प्रतिपादन करता है । अतः काव्य से चतुर्वर्ग की फलप्राप्ति होती है और शास्त्रों की अपेक्षा सरस ढंग से होती है । लेकिन वह फल चूंकि कालान्तर में होने वाला है अतः उसके आनन्द की भी अनुभूति कालान्तर में ही होती है । लेकिन काव्यामृत के आस्वादन से सहृदय में एक अनिर्वचनीय आह्लाद की अनुभूति काव्य के अध्ययन काल में ही होती है जो कि उस चतुर्वर्ग फलास्वाद को भी तिरस्कृत कर देती है । इस प्रकार काव्य का यह प्रयोजन समस्त प्रयोजनों से श्रेष्ठ है । क्योंकि शास्त्रादि के द्वारा प्रतिपाद्य प्रकृष्ट प्रयोजन के रूप में जिस चतुर्वर्ग फलास्वाद को स्वीकार किया गया है वह भी इस काव्यामृतास्वादजन्य चेतश्चमत्कार के आगे तुच्छ है । यद्यपि प्रीति अथवा आनन्द को प्रयोजन रूप में भामह, दण्डी, वामन आदि ने प्रतिपादित किया पर वह प्राधान्य नहीं दे सके जो कि कुन्तक ने दिया । भरत, राजशेखर आदि ने जिस पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि को ही प्रधानप्रयोजन रूप में प्रतिपादित किया था उसे कुन्तक ने सहृदय अन्तश्चमत्कार से निम्न कोटि में रख कर सहृदयाह्लाद को काव्य में सर्वोपरि महत्ता प्रतिपादित किया की । और इन्हीं कुन्तक के ही प्रभाव से मम्मट तथा हेमचन्द्र आदि परवर्ती आचार्यों ने उस आनन्द को समस्तप्रयोजनों का मौलिभूत स्वीकार किया । मम्मट कहते हैं —

1- काव्यप्र0 1/2

2- व.जी. 1/5

'सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्' इत्यादि।[1]

इस प्रकार डा० कृष्णमूर्ति ने जो मम्मट को ही सहृदयाह्लाद को काव्य के प्रयोजनों में सर्वोपरि स्थान देने की बात प्रतिपादित की है,[2] वह सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध हो जाती है ।

हेमचन्द्र ने काव्य प्रयोजन के रूप में आनन्द, यश और कान्तातुल्य उपदेश को माना है- 'काव्यमानन्दाय यशसे कान्तातुल्योपदेशाय च।'[3] इनमें से आनन्द को उन्हों ने भी समस्त प्रयोजनों का उपनिषद्भूत स्वीकार किया है तथा सहृदय और कवि दोनों के लिए उसे बताया है—'सद्यो रसास्वादजन्मा निरस्तवेद्यान्तरा ब्रह्मास्वादसदृशी प्रीतिरानन्दः। इदं सर्वप्रयोजनोपनिषद्भूतं कवि सहृदययोः काव्यप्रयोजनम्।'[4] इस प्रकार कुन्तक ने इन तीन प्रयोजनों का विवेचन मुख्यतया सहृदयों की दृष्टि से किया है जो कि कारिकाओं में प्रयुक्त 'अभिजातानाम्' 'व्यवहारिभिः' तथा 'तद्विदाम्' पदों से सुस्पष्ट है । लेकिन जैसा कि हेमचन्द्र ने निर्देश किया है तीसरे प्रयोजन 'अन्तश्चमत्कार' को कवि की दृष्टि से भी स्वीकार किया जा सकता है क्यों कि कवि तो काव्यमर्मज्ञ होता है ही । अब रही कवि की दृष्टि से काव्य प्रयोजन की बात उसको कुन्तक ने स्पष्ट रूप से यहां प्रतिपादित तो किया नहीं किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कवि की दृष्टि से वे भी यश को ही काव्य का मुख्य प्रयोजन स्वीकार करते हैं । वक्रोक्तिजीवित के चतुर्थ उन्मेष की छब्बीसवीं कारिका की वृत्ति में उद्धृत अन्तरश्लोक से यह बात स्पष्ट है। यह बात प्रतिपादित करते हुए कि महाकवियों के नवीन उपायों से सिद्ध नीति मार्ग का उपदेश देने वाले समस्त प्रबन्धों में वक्रता हुआ ही करती है ।वे कहते हैं :-

'वक्रतोल्लेखवैकल्य - - - - - - - - - - लोक्यते ।

प्रबन्धेषु कवीन्द्राणां कीर्तिकन्देषु किं पुनः ।[5] के कारिका की द्वितीय पंक्ति से यह यह सुस्पष्ट है कि कवियों की दृष्टि से काव्य का मुख्य प्रयोजन कीर्ति अथवा यश ही उन्हें

1- व.जी. 1/5 पर वृत्ति

2- "It is Mammata belonging to the 12th Century A.D. that gives due credit to the aspect of pleasure that literature affords. He has expressly mentioned in his Vrtti (Gloss) on the second Kārikā of his Kāvyaprakāśa that aesthetic delight overtops all the other uses of poetry-" —Poona Orientalist, Vol. 8, P. 9

3- हेम.काव्या. 1/3 4- वही , पृ० 3

5- डा० डे द्वारा सम्पादित व.जी. में यह श्लोक पृ0245 पर इसी रूप में उल्लिखित है। साथ ही इसके किसी पाठ का कोई भी उल्लेख टिप्पणी में भी उन्होंने नहीं किया। अतः यहाँ क्या पाठ था यह स्पष्ट नहीं। आचार्य विश्वेश्वर ने अपने संकलन में इस स्थान (शेष -

भी मान्य है । कुन्तक के अनन्तर भोज ने केवल कवि की ही दृष्टि से आसनाश्रित कीर्ति और प्रीति को काव्य प्रयोजन रूप मे स्थापित किया[1] । चतुर्वर्ग प्राप्ति का कोई उल्लेख नही। महिमभट्ट ने शास्त्रो की भाँति विधि निषेध विषयक व्युत्पत्ति को प्रयोजन बताया जिससे पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति की ओर ही संकेत प्रतीत होता है[2] । और यह उनका विवेचन भी कुन्तक के शास्त्र और काव्य के अविवेक विनाश के भेद के विवेचन ~~भी कुन्तक के शास्त्र और काव्य के अविवेकविनाश के~~ से प्रभावित है । अभिनव भी आनन्दवर्धन के कथन का विवेचन करते हुए भामहादि की कारिकाओ को भी उद्धृत कर आनन्द को सर्वश्रेष्ठ प्रयोजन के रूप मे प्रतिपादित करते है[3] । लेकिन व्यवहार ज्ञान का वे कोई उल्लेख नही करते । मम्मट ने कुन्तक के समस्त प्रयोजनो को स्वीकार करते हुए कुछ अन्य प्रयोजन भी बताये। उनका कहना है—'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।सद्यः पर निर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।[4]' वस्तुतः मम्मट ने अपने समस्त पूर्वाचार्यो द्वारा उल्लिखित काव्य-प्रयोजनो को एकत्र करने का प्रयास किया है'अर्थकृते'और 'शिवेतरक्षतये'रुद्रट द्वारा स्वीकृत काव्य प्रयोजन है।हेमचन्द्र ने इन दोनो प्रयोजनो का खण्डन किया है।उनका कथन है कि धन अनैकान्तिक होता है तथा अनर्थ निवारण प्रकारान्तर से भी सम्भव है, यज्ञ,जप,दान, पुण्य आदि द्वारा । यहाँ तक तो हेमचन्द्र की बात समीचीन प्रतीत होती है,किन्तु

शेष— पर 'वक्रतोल्लेखवैकल्यं न सामान्येऽवलोक्यते'यह पाठ दिया है।वैसे इस पाठ से अर्थ तो जमता हुआ अवश्य प्रतीत होता है कि जब सामान्य प्रबन्धो मे वक्रता का अभाव नही रहता तो फिर महाकवियो की कीर्ति के मूलभूत प्रबन्धो मे क्या कहना ।'लेकिन जब तक कोई प्रमाण नही मिल जाता ऐसा पाठ समीचीन नही प्रतीत होता।

1— 'निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम् ।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिञ्च विन्दति।।'स0कं01/2

2— 'सामान्येनोभयमपि च तच्छास्त्रवद् विधिनिषेधविषयव्युत्पत्तिफलकम्।'व्य. वि. पृ095

3— लोचन,पृ0 40,41— 'चतुर्वर्गव्युत्पत्तेरपि चानन्द एव पार्यन्तिकं मुख्यं फलम्।'

4— का.प्र. 1/2

उन्हों ने व्यवहार ज्ञान को भी जो प्रयोजन मानने से इनकार किया है वह ठीक नहीं प्रतीत होता। उनका कहना है कि व्यवहार कौशल शास्त्रों द्वारा भी हो सकता है[1]। यदि उनके इस तर्क को माना जाय तो फिर विध विधि निषेध रूप उपदेश को श्रीमान् जी ने स्वयं प्रयोजन रूप में स्वीकार कर रखा है उसे भी हटाना पड़ेगा। यदि यह कहें कि काव्य का उपदेश सरस होता है, कान्ता तुल्य होता है, तो यही बात यहाँ भी लागू होगी। शास्त्र द्वारा व्यवहार ज्ञान होगा लेकिन शास्त्र की नीरसता एवं कठोरता के कारण जब उस ओर प्रवृत्ति ही नहीं होगी तो वह व्यवहारनिरूपण किस काम का। अतः व्यवहार ज्ञान को भी काव्य के प्रयोजन रूप में मानना ही समीचीन प्रतीत होता है। यद्यपि आगे चलकर अधिकतर आचार्यों ने इसे प्रयोजन रूप में वर्णित नहीं किया। 'साहित्यमीमांसा' में केवल सहृदय के लिए अत्यन्त सुख को ही प्रयोजनरूप में सूचित किया गया है[2]। अलंकार महोदधि में केवल त्रिवर्ग(धर्म, अर्थ और काम)को, अमन्द आनन्द, यश और कान्तातुल्यतयोपदेश को प्रयोजनरूप में प्रतिपादित किया गया है। मोक्ष को हटा दिया गया है[3]। विश्वनाथ ने चतुर्वर्ग की ही सुखपूर्वक प्राप्ति को प्रयोजन रूप में प्रतिपादित किया[4]। पण्डितराज ने भी कीर्ति' का आनन्द, गुरु, राजा एवं देवता के प्रसाद आदि को काव्य के प्रयोजन रूप में स्वीकार किया है। चतुर्वर्ग का उन्होंने स्पष्टतः नामोल्लेख तो नहीं किया। परन्तु उनके 'आदि' में यह भी अन्तर्भूत हो सकता है। लगता है उन्हें पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत सारे के सारे प्रयोजन मान्य हैं। तभी तो वे अलग से उनका कोई स्वतंत्र विवेचन नहीं करते। काव्यलक्षण करने के पूर्व इतना उल्लेख कर देते हैं कि जिस काव्य के कीर्ति आदि प्रयोजन बताये गए हैं उसका निरूपण करने जा रहे हैं —

'तत्र कीर्तिपरमाह्लादगुरुराजदेवताप्रसाद्यनेकप्रयोजनकस्यकाव्यस्य।' इत्यादि[5]।

1- 'चतुर्वर्गैकान्तिकं व्यवहारकौशलं शास्त्रेभ्योऽप्यन्यत्रनिवारणं प्रकारान्तरेणापीति न काव्यप्रयोजनतयाऽस्माभिरुक्तम्।' —हेम०काव्या०, पृ०5

2- सा०मी०, पृ०।

3- अलं०महो०, 1/5

4- सा०द०, 1/2

5- रसगंगाधर, पृ०5

काव्यहेतु

संस्कृत साहित्याचार्यों ने जिस प्रकार काव्य के लक्षण तथा प्रयोजन का सविस्तर विवेचन किया है वैसे ही काव्य के हेतुओं का भी विवेचन किया है । आचार्य कुन्तक इसके अपवाद नहीं है ।परन्तु जिस प्रकार उन्हों ने काव्यलक्षण एवं काव्यप्रयोजन का अलग से विवेचन किया है वैसे ही काव्यहेतुओं का स्वतंत्र विवेचन नहीं किया है।उनका काव्य-हेतु-विवेचन मार्ग-विवेचन में अन्तर्भूत है । उन्होंने मार्गों को ही कविप्रस्थान का हेतु कहा है—

'सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः ।'[1]

वैसे प्रायः सभी आचार्यों ने शक्ति अथवा प्रतिभा, व्युत्पत्ति अथवा निपुणता, एवं अभ्यास को काव्यहेतुओं के रूप में स्वीकार किया है यदि मतभेद रहा है तो वह केवल इनके आपेक्षिक महत्त्व को प्रस्तुत करने में । इससे पहले कि कुन्तक द्वारा विवेचित काव्य हेतुओं का निरूपण करें उनके पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत काव्यहेतुओं के विवेचन पर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है।वैसे प्रतिभा एवं प्रतिभान शब्द का प्रयोग तो भामह, दण्डी तथा वामन ने भी कर रखा था किन्तु व्युत्पत्ति और अभ्यास के लिए उन्हों ने भिन्न संज्ञायें दी थी अथवा भिन्न शब्दों द्वारा उन्हें व्यक्त किया था परन्तु शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास को प्रामाणिकता (Standardization) प्रदान करने का श्रेय रुद्रट को ही दिया जा सकता है। क्योंकि उन्हों ने ही सबसे पहले 'त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः' कहा है[2] । परवर्ती आचार्यों ने इन्हीं संज्ञाओं को यथातथ्य रूप में स्वीकार कर लिया । हाँ, व्युत्पत्ति के लिए मम्मट आदि ने निपुणता शब्द का भी प्रयोग किया है। आचार्य भामह ने काव्य का प्रधान हेतु प्रतिभा को स्वीकार किया है । बिना प्रतिभा के काव्यरचना हो ही नहीं सकती। यदि प्रतिभा नहीं है तो गुरु के उपदेश से भी काव्यरचना नहीं हो सकती —

'गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः ।'[3]

इस प्रकार उन्हों ने यद्यपि काव्य का प्रमुख हेतु प्रतिभा को ही स्वीकार किया किन्तु व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी वे आवश्यक मानते है[4] । उनका कहना है कि कवि को चाहिए कि वह

1- व.जी. 1/24
2- रुद्र. काव्या०, 1/14
3- भामह काव्या०, 1/5
4- वही, 1/9 तथा 10

व्याकरण, छन्द, कोश, अर्थशास्त्र, इतिहास, लोकव्यवहार, तर्कशास्त्र तथा कलाओं का सम्यक् मनन करके शब्द और अर्थ का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर काव्यतत्त्वज्ञों की उपासना कर एवं अन्य कवियों की रचनाओं को देखकर काव्यरचना में प्रवृत्त हो । स्पष्ट ही इस उक्ति में व्युत्पत्ति और अभ्यास का निर्देश किया गया है । परन्तु भामह की दृष्टि में सापेक्षिक महत्त्व प्रतिभा का ही है। प्रतिभा का क्या स्वरूप उन्हें मान्य था इसका वे कोई निर्देश नहीं करते ।आचार्य दण्डी ने सहज प्रतिभा, नानाविध व्युत्पत्ति(श्रुत)और प्रगाढ़ अभियोग (अभ्यास)तीनों को काव्य का हेतु स्वीकार किया है—

'नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतञ्च बहु निर्मलम् ।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः ।।'[1]

लेकिन दण्डी तो प्रतिभा के अभाव में भी केवल व्युत्पत्ति और अभ्यास के बल पर ही काव्यरचना की सामर्थ्य को स्वीकार करते है[2] । लेकिन उस व्युत्पत्ति एवं अभ्यास के बल पर सम्पन्न होने वाली रचना को हम आजकी भाषा में 'कामचलाऊ'कह सकते है । क्यों कि कवित्व तो बिना प्रतिभा के सम्भव ही नहीं है । इस बात को दण्डी साफ शब्दों में कहते है —

'कृशेकवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमाः विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते।'[3]

स्पष्ट है कि कवित्व प्रतिभा में ही निहित है । उसके अभाव में कवि व्युत्पत्ति और अभ्यास के बल पर केवल सहृदयगोष्ठियों में विहार करने लायक बन जाता है, परन्तु स्थायी एवं अमर काव्य की रचना के हेतुभूत वास्तविक कवित्व का तो उसमें अभाव ही रहता है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि दण्डी के भी प्रतिभा ही काव्य की प्रधान कारणभूता है।आचार्य दण्डी ने प्रतिभा को 'पूर्ववासनागुणानुबन्धि'कहा है । 'न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।'[4] इससे स्पष्ट है कि वे प्रतिभा को प्राक्तन जन्म का संस्कार रूप ही मानते है । यह सहज है एवं ईश्वरीय देन कही जा सकती है ।इसी लिए दण्डी ने नैसर्गिक प्रतिभा कहा है ।अर्थात् प्रतिभा स्वाभाविक हुआ करती है ।स्वभावानुसारिणी होती है।आचार्य दण्डी के अनन्तर वामन ने भी व्युत्पत्ति,अभ्यास और प्रतिभा को ही काव्य के कारण रूप में स्वीकार किया । पर उनका विवेचन सबसे पृथक् रहा ।

1- काव्यादर्श 1/103
2- वही, 1/104 तथा 105
3- वही, 1/105
4- काव्यादर्श, 1/104

उन्हों ने काव्यहेतुओं को काव्यांग नाम से अभिहित किया । काव्यांग उन्हों ने तीन स्वीकार किये-लोक, विद्या और प्रकीर्ण। 'लोको विद्या प्रकीर्णन्च काव्यांगानि।'[1] उनके लोक और विद्या में अन्य आचार्यों द्वारा स्वीकृत व्युत्पत्ति का, तथा प्रकीर्ण में प्रतिभा और अभ्यास का अन्तर्भाव है । लोक से उन्होने लोकवृत्त का ग्रहण किया है, विद्या से व्याकरण कोश, छन्दशास्त्र, कलाशास्त्र, कामशास्त्र, दण्डनीति और इतिहासादि का ग्रहण किया है[2] । स्पष्ट ही ये दोनों व्युत्पत्ति को ही प्रस्तुत करते हैं । प्रकीर्ण के अन्तर्गत उन्हों ने लक्ष्यज्ञता अर्थात् काव्यों के परिचय, अभियोग अर्थात् काव्यरचना के लिए उद्यम्, वृद्धसेवा, अवेक्षण तथा प्रतिभा और अवधान का ग्रहण किया है[3] । स्पष्ट ही लक्ष्यज्ञता, अभियोग, वृद्धसेवा अवेक्षण एवं अवधान अभ्यास रूप है । प्रतिभा प्रतिभा है ही । प्रतिभा को उन्हों ने जन्मान्तरागत संस्कार विशेष कहा है और उसे कवित्व का बीज माना है। विना उसके काव्य निष्पन्न ही नहीं होता और यदि निष्पन्न भी हो गया तो उपहासास्पद हो जाता है।— 'कवित्व-बीजं प्रतिभानम्। कवित्वस्यबीजं कवित्वबीजं, जन्मान्तरागतसंस्कारविशेषः कश्चित्, यस्माद्विना - काव्यं न निष्पद्यते, निष्पन्नं वाऽवहासायतनं स्यात्।[4] इस प्रकार यद्यपि कवित्व का बीज वामन भी प्रतिभा को ही मानते है परन्तु उससे पहले लोक एवं विद्या रूप व्युत्पत्ति का विस्तृत विवेचन कर साथ ही प्रतिभा को अभ्यास के साथ प्रकीर्ण के अंग रूप में प्रस्तुत कर उचित प्रतिष्ठा नहीं देते । यद्यपि परवर्ती आचार्य मम्मट का विवेचनपूर्णतया वामन पर ही आधारित है परन्तु उन्हों ने शक्ति का प्रथम एवं स्वतंत्र रूप में ग्रहण कर तदनन्तर निपुणता के अन्तर्गत लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षण को प्रस्तुत कर फिर काव्यज्ञ की शिक्षा से अभ्यास का वर्णन कर प्रतिभा को समुचित स्थान प्राप्त कराया है[5]। यहाँ तक कि वामन और मम्मट की शब्दावली भी पर्याप्त मेल रखती है । लगता है मम्मट का विवेचन वामन के विवेचन का ही परिष्कृत एवं संक्षिप्त रूप है । निदर्शनार्थ शक्ति का लक्षण यहाँ प्रस्तुत है— 'शक्तिः कवित्व-बीजरूपः संस्कारविशेषः, यां बिना काव्यं न प्रसरेत्, प्रसृतं वाऽउपहसनीयं स्यात्[6] ।'

1- का0सू0, वृ0, 1/3/1
2- वही, 1/3/2 तथा 3
3- वही, 1/3/11
4- वही, 1/3/16 तथा वृत्ति
5- 'शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।'- का0प्र0 1/3
6- वही, 1/3 पर वृत्ति ।

इस प्रकार यद्यपि वामन भी भामह तथा दण्डी की भाँति प्रतिभा को कवित्व का बीज मानते हैं पर उनके विवेचन से लगता है कि व्युत्पत्ति को वे अधिक प्राधान्य देते हैं। क्यों कि उसी का सर्वप्रथम एवं विस्तृत विवेचन है ।आचार्य रुद्रट ने शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास को हेतु रूप में स्वीकार किया है।[1] उन्हों ने शक्ति उसे माना जिसके विद्यमान रहने पर कविके सुसमाहित चित्त में अर्थ का अनेकधा स्फुरण होता है और जिसके कारण शीघ्र ही अर्थ को प्रतिपादित करने में समर्थ पदों का ज्ञान हो जाता है, अर्थात् जिसके कारण अनेक प्रकार के हृदयंगमशब्दों एवं अर्थों का ज्ञान होता है वह शक्ति हुई।[2] इसी का दूसरा नाम प्रतिभा है। रुद्रट ने प्रतिभा दो प्रकार की मानी- एक है सहजा जो कि संस्कार रूप है पुरुष के साथ ही जन्म लेती है और दूसरी है उत्पाद्या, जिसे व्युत्पत्ति आदि के द्वारा उत्पन्न किया जाता है। इनमें रुद्रट ने सहजा को ही श्रेष्ठतर स्वीकार किया है ।[3]व्युत्पत्ति से उनका आशय वही है जो कि वामन आदि का रहा है, छन्द, व्याकरण, कला, लोक पद पदार्थ इत्यादि का ज्ञान और उससे उत्पन्न उचित अनुचित का विवेक ही व्युत्पत्ति है। वैसे संसार में कोई भी ऐसा शब्द अथवा अर्थ नहीं है जो कि काव्य का अंग न हो और जिसका ज्ञान कवि के लिए आवश्यक न हो।[4] तथा किसी सज्जन एवं श्रेष्ठ कवि के समीप में रात दिन काव्यरचना का अभ्यास ही अभ्यास है । इन तीनों के कारण ही कवि उस काव्य की रचना करने में समर्थ होता है जिससे उसका यश चिरस्थायी होता है[5]। इस प्रकार रुद्रट ने प्राचीन आचार्यों द्वारा स्वीकृत प्रतिभा को एक नया स्वरूप प्रदान किया जहाँ दण्डी तथा वामन आदि ने उसे केवल सहज संस्कार एवं कवित्व का बीज मान रखा था। वहाँ रुद्रट ने उसे उत्पाद्य भी कह कर उसके द्विविध रूप का प्रतिपादन किया।और इस तरह यदि किसी के पास सहज प्रतिभा नहीं भी हो तो वह व्युत्पत्ति एवं अभ्यास के बल पर भी प्रतिभा को उत्पन्न कर सकता है और काव्य रचना कर सकता है । इस प्रकार ये दण्डी के ही मत के समर्थक प्रतीत होते है, इनकी उत्पाद्या प्रतिभा केवल व्युत्पत्ति और अभ्यास ही तो है।

1- 'त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः '-रु.का. 1/14

2- वही' 1/15

3- वही, 1/16-17

4- वही, 1/18-19

5- वही, 1/20-21

फिर सहजा को प्रशस्यतर बताकर उसमें निम्नकोटि में उत्पादया को स्थित कर व्युत्पत्ति और अभ्यास के बल पर की गई रचना को निम्नकोटि का सिद्ध करना नहीं तो और क्या है ? आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्यहेतुओं का कोई स्वतंत्र विवेचन नहीं किया वस्तुतः उनके ग्रन्थ का उद्देश्य भी प्राधान्येन ध्वनि को सिद्ध स्थापना करना था ।परन्तु उनके विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति को वे काव्य का हेतु मानते हैं । उनके ग्रन्थ में अभ्यास की कोई स्पष्ट चर्चा सामने नहीं आती।लेकिन उससे यह आशय निकाल लेना कि अभ्यास उन्हें काव्यहेतु रूप में मान्य न रहा होगा समीचीन नहीं प्रतीत होता।वस्तुतः काव्य करने के पूर्व अभ्यास तो कविजन करते ही हैं । आपेक्षिक दृष्टि से महत्व प्रतिभा और व्युत्पत्ति का ही होता है। अतः प्रसंगतः इन्हीं दोनों का विवेचन आनन्द ने किया है। उनकी दृष्टि में कवित्व के लिए प्रतिभा परमावश्यक है बिना प्रतिभा के कोई सुकवि नहीं हो सकता।यह बताते हुए कि 'रसों के उनके द्वारा निरूपित विरोध एवं अविरोध के विषय को अच्छी तरह जान कर सुकवि काव्यरचना में मोहित नहीं होता' वे सुकवि का पर्याय देते हैं प्रतिभातिशययुक्त ।'सुकविः काव्यविषये प्रतिभातिशययुक्तः काव्यं कुर्वन्न क्वचिन्मुह्यति।'[1] इसी तरह अलंकारों के विषय में वे कहते हैं कि जो प्रतिभावान्कवि होता है उसके पास अलंकार स्वयं ही अहमहमिका में अपने सहज स्वाभाविक रूप में ही उपस्थित हो जाते हैं — 'अलंकारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभानवतः कवेरहम्पूर्विकया परापतन्ति।'[2] इसी तरह यह प्रतिपादित करते हुए कि यदि कवि में प्रतिभा गुण विद्यमान है तो काव्यार्थ का कभी भी विराम नहीं हो सकता वे कहते हैं —'यदि स्यात् प्रतिभागुणः, तस्मिंस्त्वसति न किंचिदेव कवेर्वस्त्वस्ति।'[3] इस प्रकार इन उद्धरणों से यह बात सुस्पष्ट हो है कि आनन्दवर्धन की दृष्टि में भी कवि का कवित्व प्रतिभा के कारण ही है । यदि कवि के पास प्रतिभा नहीं तो उसके पास कुछ भी नहीं है । जो अर्थ काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित है उस अर्थतत्व को प्रवाहित करती हुई महाकवियों की वाणी उनके स्फुरित होते हुए लोकोत्तर प्रतिभावैशिष्ट्य को भी अभिव्यक्त करती है । जिसके कारण इस विविध

1- ध्वन्या०, 3/3 पर वृत्ति ।
2- वही, पृ० 220, 222
3- वही, पृ० 537

कवि परंपरा[1] से कालिदास इत्यादि दो तीन अथवा चार पाँच महाकवि गिने जाते है । लेकिन यह बात नहीं है कि वे व्युत्पत्ति को महत्त्व नहीं देते ।शक्ति के साथ व्युत्पत्ति भी कवि के लिए आवश्यक है । वह सोने के साथ सुहागे का काम करती है ।लेकिन कवित्व की मूल भूता प्रतिभा ही है । अगर अव्युत्पत्तिकृत दोष है तो वह शक्ति से तिरस्कृत कर दिया जाता है शक्ति उसे दबा देती है, लेकिन जो अशक्तिकृत दोष होता है वह शीघ्र प्रतिभासित हो उठता है[2]। आनन्दवर्द्धन का कहना है।इस प्रकार प्रकृष्टतर प्रतिभा ही है । कवि का कवित्व उसी मे निहित है।परन्तु प्रतिभा का क्या स्वरूप उनके मान्य था यह स्पष्ट नहीं ।अभिनव ने व्याख्या करते हुए प्रतिभा का लक्षण दिया—'प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा'[3] अर्थात् अपूर्ववस्तु की रचना करने मे समर्थ प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि को प्रतिभा कहते है ।राजशेखर ने अनागत पदार्थ का बोध कराने वाली बुद्धि को प्रज्ञा कहा है- 'अनागतस्य प्रज्ञातो प्रतीतिः।'[4]आचार्य राजशेखर का काव्य हेतु विवेचन पूर्वाचार्यों की अपेक्षा विलक्षण है ।वे अपना मत उद्धृत करने के पहले अपने पूर्ववर्तीश्यामदेव तथा मंगल नामक आचार्यों के मतो का उल्लेख करते है।श्यामदेव के अनुसार चित्त की एकाग्रता एव समाधि ही काव्य का प्रमुख कारण है क्यो कि समाहित चित्त ही अर्थों का ज्ञान कर सकता है।इसके विपरीत मंगल का मत है कि निरन्तर अभ्यास ही काव्य का मुख्य कारण है क्यो कि वह सर्वत्र निरतिशय एवं सर्वगामी कौशल को प्रस्तुत करता है[5]। राजशेखर इन दोनो मतो से सहमत नहीं वे समाधि को आभ्यन्तर तथा अभ्यास को बाह्य प्रयत्न मानते है ।इन दोनो के द्वारा कवि की शक्ति उद्भासित होती है । और केवल वही कविशक्ति ही काव्य का हेतु है— 'सा केवलं काव्ये हेतुः 'इति यायावरीयः[6]।' लेकिन राजशेखर की यह शक्ति प्रतिभा और व्युत्पत्ति से भिन्न है । शक्ति ही प्रतिभा और व्युत्पत्ति को जन्म देती है।उनके अनुसार जो शब्द एवं अर्थ समूह को तथा अलंकारनिबन्ध एवं कथन प्रकार आदि को हृदय मे प्रतिभासित

1- वही, 1/6 तथा वृत्ति।अभिनव का कथन है—'अभिव्यक्तेन स्फुरता प्रतिभाविशेषेण निमित्तेन महाकवित्वगणनेति यावत्।'- लोचन, पृ093

2-आनन्दवर्द्धन का कहना है- 'अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः ।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते।।'-ध्वन्या0पृ0316

3-लोचन, पृ092

4- का.मी ,पृ053-54

5- वही,पृ055,56

6- वही, पृ0 57

करती है वह प्रतिमा है[1]। जिसके पास प्रतिमा नहीं होती उसके लिए दिखाई पड़ते हुए भी समस्त पदार्थ परोक्ष हुए होते हैं लेकिन जिसके पास प्रतिमा होती है उसके न देखने पर भी सारे पदार्थ प्रत्यक्ष होते हैं। यह प्रतिमा दो प्रकार की होती है- एक कारयित्री जो कि कवि का उपकार करती है और दूसरी होती है भावयित्री जो कि समालोचक का उपकार करती है। कवि का उपकार करने वाली प्रतिमा पुनः सहजा, आहार्या और औपदेशिकी भेद से तीन प्रकार की होती है। सहजा प्रतिमा वह होती है जो जन्मान्तर के संस्कार की अपेक्षा रखती है। वह इस जन्म के थोड़े से ही संस्कार से उत्पन्न हो जाती है। आहार्या प्रतिमा इसी जन्म के संस्कार से पैदा होती है, उसके लिए अधिक संस्कार की आवश्यकता पड़ती है। और औपदेशिकी प्रतिमा मन्त्र तन्त्र इत्यादि उपदेशों से पैदा होती है। उसका उपदेश काल भी यही जन्म होता है और संस्कारकाल भी। राजशेखर तीनों प्रकार की प्रतिमा का होना श्रेयस्कर मानते हैं[2]। वे 'अधिकस्याधिकफलम्' सिद्धान्त के समर्थक हैं। उनका दृष्टिकोण सर्वत्र समन्वयवादी ही प्रतीत होता है। उचित और अनुचित के विवेक को वे व्युत्पत्ति कहते हैं —'उचितानुचित विवेको व्युत्पत्तिः' इति यायावरीयः[3]।' उन्होंने अन्य आचार्यों के नाम से बहुज्ञता को व्युत्पत्ति बता कर उसे मानने में अपना असामरस्य प्रकट किया है[4]। लेकिन यहाँ राजशेखर का मत समीचीन नहीं प्रतीत होता है, जब तक कि कवि के अन्दर बहुज्ञता नहीं होगी वह उचित और अनुचित का विवेक करेगा ही कैसे? इस लिए व्युत्पत्ति के विषय में रुद्रट का ही कथन समीचीन है जो कि बहुज्ञता और उसके द्वारा उचितानुचितविवेक, दोनों का समन्वय प्रस्तुत करते हैं[5]। आनन्दवर्धन ने प्रतिमा को व्युत्पत्ति से श्रेयसी बताया था तथा मंगल ने व्युत्पत्ति को प्रतिमा से श्रेयसी बताया था। राजशेखर ने दोनों का समन्वय किया और बताया कि प्रतिमा और व्युत्पत्ति दोनों मिलकर ही श्रेयस्कर होती है।—'प्रतिभाव्युत्पत्ती मिथः समवेते श्रेयस्यौ इति यायावरीयः[6]।' और कवि उन्हों ने उसी को कहा जो कि प्रतिमा और व्युत्पत्ति दोनों से युक्त होता है—'प्रतिभाव्युत्पत्तिमांश्च कविः

1- 'या शब्दग्राममर्थसार्थमलंकारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथा विधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा'—का. मी. पृ057
2- वही, पृ0 60-62
3- वही, पृ075
4- 'बहुज्ञता व्युत्पत्तिः' इत्याचार्याः।' वही, पृ074
5- रुद्रटका0, 1/18
6-का. मी., पृ0 75-78

कविरित्युच्यते।'[1] इस प्रकार राजशेखर ने प्रतिभा और व्युत्पत्ति को समान महत्त्व दिया । दोनो को सम्मिलित रूप मे काव्य का हेतु स्वीकार किया ।साथ ही शक्ति को प्रतिभा से भिन्न स्वीकार किया । पर शक्ति का क्या स्वरूप था यह स्पष्ट नहीं । वह निश्चय ही अन्य आचार्यों द्वारा स्वीकृत कवित्वबीज रूप संस्कार विशेष से भिन्न नहीं है । क्यों कि वही राजशेखर की प्रतिभा और व्युत्पत्ति की जन्मदात्री है।[2] और यही कारण है कि राजशेखर केवल उसी शक्ति को ही काव्य का एकमात्र हेतु प्रतिपादित करते है ।राजानक कुन्तक नेकवि स्वभाव को ही काव्य के प्रमुख हेतु रूप मे उपन्यस्त किया है ।जिस कवि का जैसा स्वभाव होता है उसी के अनुरूप उसका काव्य होता है।इस बात को तो राजशेखर भी स्वीकार करते है कि जिस स्वभाव का कवि होता है उसी के अनुरूप उसका काव्य होता है,जैसा चित्रकार होता है वैसे ही उसका चित्र भी होता है ।—'स यत्स्वभावः कविस्तदनुरूपं काव्यम्।यादृशाकारश्चित्रकारस्तादृगाकारमस्यचित्रमिति प्रायोवादः।[3] वस्तुतः राजानक कुन्तक कश्मीरनिवासी थे।कश्मीर शैवाद्वैत दर्शन को मानने वाले थे।उनका काव्यविषयकचिन्तन उस शैवाद्वैत से ही प्रभावित है।और इस दृष्टि से कुन्तक का काव्यहेतु विवेचन भी अत्यन्त प्रामाणिक एवं तर्कसंगत प्रतीत होता है । शैवाद्वैत की मान्यता है कि शक्ति और शक्तिमान् मे अभेद होता है ।अग्नि और उसकी शक्ति दाहकत्व दोनो अभिन्न है । शक्ति शिव का स्वभाव ही है । इसीलिए शिव से अभिन्न है । शिवदृष्टि का स्पष्ट कथन है कि —

'न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी ।
शिवः शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुमीहते ।
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते[4] ।।'

आचार्य कुन्तक इसी दार्शनिक भित्ति पर काव्यहेतुओं का निरूपण करते है । जैसा कवि का स्वभाव होता है वैसी ही उसकी सहज शक्ति उत्पन्न होती है क्यो कि शक्ति और शक्तिमान् मे अभेद होता है । और जैसी कवि की शक्ति होती है वह उसीके अनुरूप व्युत्पत्ति प्राप्त करता है । और इस तरह जैसी उसकी शक्ति एवं व्युत्पत्ति होती है उन्ही दोनो

1- का.मी.पृ0 80

2- 'शक्तिकर्तृके हि प्रतिभाव्युत्पत्तिकर्मणी'
शक्तस्य प्रतिभाति शक्तश्च व्युत्पद्यते।'-वही,पृ057

3- वही, पृ0 160

4- शि.दृ.-पृ0 2/2-3

के अनुरूप वह काव्य रचना का अभ्यास करता है । यदि कवि सुकुमार स्वभाव का होगा तो उसी के अनुरूप उसकी सुकुमार शक्ति भी होगी । उस सुकुमार शक्ति के द्वारा वह सौकुमार्य से रमणीय व्युत्पत्ति प्राप्त करेगा।और इस प्रकार वह उस सुकुमार शक्ति एवं सौकुमार्य रमणीय व्युत्पत्ति के द्वारा तदनुरूप सुकुमार मार्ग से ही काव्यरचना का अभ्यास करेगा[1]।इसी तरह विचित्र स्वभाव वाले कवि की विचित्र शक्ति होगी।उससे वह विचित्र व्युत्पत्ति प्राप्त करेगा और उन दोनो से विचित्र मार्ग से काव्य रचना का अभ्यास करेगा। और इसी तरह मध्यम स्वभाव वाले कवि की मध्यम प्रकार की शक्ति,उसके द्वारा मध्यम प्रकार की व्युत्पत्ति और उन दोनो के द्वारा मध्यममार्ग से काव्यरचना का अभ्यास होगा[2]। इस प्रकार यद्यपि कुन्तक की दृष्टि मे भी काव्य के कारणभूत शक्ति,व्युत्पत्ति और अभ्यास ही है।तथापि प्राधान्य शक्ति अथवा स्वभाव का है।वस्तुतः शक्ति और स्वभाव दोनो तो अभिन्न ही है।इस बात पर कोई ऐसी विप्रतिपत्ति कर सकता है कि शक्ति के आन्तरिक होने से उसका स्वाभाविकत्व मानना तो ठीक है लेकिन व्युत्पत्ति और अभ्यास तो आहार्य है।वे कैसे स्वाभाविक हो सकते है।आचार्य कुन्तक ने इसका इस प्रकार समाधान किया है। वे कहते है कि काव्य रचना की चर्चा तो दूर रही दूसरे विषयो मे भी प्रायः यही देखा जाता है कि किसी भी अनादिवासना के अभ्यास से अधिवासित चित्तवाले व्यक्ति के व्युत्पत्ति और अभ्यास उसके स्वभावानुसारी ही होते है । वस्तुतः उन दोनो की सफलता ही स्वभाव के अभिव्यंजन मे होती है । स्वभाव उन दोनो का उपकार्य होता है और वे दोनो उसके उपकारक।स्वभाव उन्हे जन्म देता है और वे दोनो स्वभावको परिपुष्ट करते है । चेतनो की बात तो दूर रही अचेतन पदार्थो का स्वभाव भी अपने स्वभाव से लगाव रखने वाले अन्य पदार्थ के सन्निधान से अभिव्यक्त हो उठता है । जैसे चन्द्रकान्त मणियो को जब उनके स्वभाव के अनुरूप चन्द्रमा की किरणो का स्पर्श प्राप्त होता है तो वे सहज ही जल को प्रवाहित करने लगती है[3]। अतः यह सिद्ध होता है कि स्वभाव के अनुरूप व्युत्पत्ति और अभ्यास भी होते है।इस कवि शक्ति का ही दूसरा नाम कविप्रतिभा है।सुकुमारमार्ग का स्वरूपनिरूपण करते समय यह बताते हुए कि उसमे जो कुछ भी वैचित्र्य होता है वह सब

1- सुकुमार स्वभावस्य कवेस्तथाविधैव सहजा शक्तिः समुद्भवति शक्तिशक्तिमतोरभेदात्।तया च तथाविधसौकुमार्यरमणीयां व्युत्पत्तिमाबध्नाति।ताभ्यां च सुकुमारवर्त्मनाभ्यासतत्परः क्रियते।"
व. जी. पृ० 46

2- वही, पृ० 46

3- वही, पृ० 47

केवल प्रतिभाजन्य होता है वे प्रतिभा और शक्ति को पर्याय रूप में प्रस्तुत करते हैं—'प्रतिभोद्भवं कविशक्तिसमुल्लसितमेव, न पुनराहार्यं यथाकथंचित् प्रयत्नेन निष्पाद्यम्।'[1] इसी तरह विचित्रमार्ग का निरूपण करते समय भी यह बताते हुए कि उसमें प्रतिभा के प्रथम विलास के समय ही शब्द और अर्थ के अन्तर्गत कोई अपूर्व वक्रता स्फुरित होने लगती है वे प्रतिभा का पर्याय कविशक्ति ही देते हैं—'प्रतिभाप्रथमोद्भेदसमये प्रतिभायाः कविशक्तेः, प्रथमोल्लेखावसरे।'[2] इसी तरह उन्होंने अनेकों स्थलों पर प्रतिभा और शक्ति को पर्याय रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रतिभा का लक्षण उन्होंने दिया है—'प्राक्तनाद्यतनसंस्कारप्रौढा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः'[3]

1- आचार्य कुन्तक द्वारा प्रस्तुत की गयी कारिका है—

'यत् किंचनाऽपि वैचित्र्यं तत्सर्वं प्रतिभोद्भवम्।
सौकुमार्यपरिस्पन्दस्यन्दि यत्र विराजते ॥' इस कारिका का डा० नगेन्द्र ने (हि.व.जी.भू., पृ051) विचित्र अर्थ प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि—'इस श्लोक का अर्थ है- सुकुमार मार्ग वह है जहाँ प्रतिभा से उद्भूत जितना भी वैचित्र्य है वह सब सुकुमार स्वभाव से प्रवाहित होता हुआ शोभित रहता है। एक विद्वान ने इस श्लोक के प्रथम चरण को पृथक् कर उसकी किंचित् भिन्न व्याख्या की है: 'जो कुछ भी वैचित्र्य है वह सभी प्रतिभा से उद्भूत है', यह व्याख्या यद्यपि हमारे अभिप्राय की पुष्टि के लिए अधिक अनुकूल पड़ती है तथापि प्रसंगानुमोदित न होने से यथावत् मान्य नहीं है।' वस्तुतः डा० साहब का ही अर्थ असमीचीन है। और जिस अज्ञातनामा विद्वान् के अर्थ को उन्होंने अमान्य ठहराया है वही समीचीन है। साथ ही कुन्तक के अभिप्राय को व्यक्त करने में वही अर्थ समीचीन भी है। सम्भवतः डा०साहब ने स्वयं कुन्तक की इस कारिका की वृत्ति पर ध्यान नहीं दिया है अन्यथा ऐसा अर्थ कदापि न करते और एक विद्वान् के सही अर्थ की यों ही आलोचना न कर बैठते। कुन्तक की स्पष्ट व्याख्या है कि 'वह सुकुमार मार्ग ऐसा होता है- जिसमें जो कुछ भी वैचित्र्य अर्थात् वक्रोक्तियुक्तता होती है वह सब आलंकारिक प्रतिभोद्भूत अर्थात् कविशक्ति के द्वारा समुल्लसित होता है न कि आहार्य अर्थात् यथाकथंचित् प्रयत्न के द्वारा निष्पाद्य होता है—'स च कीदृशः -यत्र यस्मिन् किंचनापि किमप्यल्पमपि वैचित्र्यं विचित्रभावो वक्रोक्तियुक्तत्वम् तत्सर्वमलंकारादि प्रतिभोद्भवं कविशक्तिसमुल्लसितमेव न पुनराहार्यं यथाकथंचित् प्रयत्नेन निष्पाद्यम्।' (व.जी. पृ048)

2- वही, पृ0 58

3- वही, पृ0 49

अर्थात् पूर्वजन्म और इस जन्म के संस्कारों के परिपाक से प्रौढ़ कोई अपूर्व कविशक्ति प्रतिभा कहलाती है। शब्द अर्थ अलंकार सभी कुछ तो इसी प्रतिभा से प्रभावित होते है । यदि कवि प्रतिभा दरिद्र है तो वह यदि काव्य मे रमणीय शब्द की सृष्टि करेगा तो अर्थ किसी काम का न होगा यदि अर्थ रमणीय रहा तो शब्द निस्तेज होगा कभी भी वह शब्दार्थ साहित्य को प्रस्तुत नही कर पायेगा और उसकी रचना से काव्यमर्मज्ञ आह्लाद की अनुभूति न कर सकेंगे। इसी लिए साहित्य आदि के प्राधान्य मे भी प्राधान्य कवि प्रतिभा का ही होता है—'तथाऽपि कविप्रतिभाप्रौढिरेव प्राधान्येनावतिष्ठते।'[1] कवि व्यापार की वक्रता प्रतिभा के ही कारण सम्भव है। कविके प्रतिभा विलास के आगे व्युत्पत्ति विलास तिरस्कृत हो जाता है—'पदार्थ परस्पर्धमहिम्नैव कविशक्तिसमुन्मीलितः तथाविधो यत्र विजृम्भते येन विविधमपि व्युत्पत्तिविलसितं काव्यान्तरगतं तिरस्कारास्पदं सम्पद्यते।'[2] वाक्य की वक्रता कविप्रतिभा के आनन्त्य के कारण ही अनन्तक प्रकार की होती है—'यस्मात् कविप्रतिभानन्त्यान्नियतत्वं न सम्भवति।'[3] इस प्रकार कवि प्रतिभा अथवा कविशक्ति ही काव्यरचना का प्रधान कारण है। यही व्युत्पत्ति और अभ्यास की जन्मदात्री है। शक्ति स्वाभाविक होती है। दण्डी ने भी प्रतिभा को नैसर्गिक कहकर उसकी स्वाभाविकता को ही स्वीकार किया था । कुन्तक ने प्रतिभा को सहज और पूर्वजन्म तथा इस जन्म के संस्कार परिपाक से प्रौढ मानकर एक विस्तृत दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। जैसे यह सम्पूर्ण जगत् केवल शक्ति का परिस्पन्द है वैसे ही यह काव्य सृष्टि भी कविशक्ति का ही परिस्पन्द है । इस प्रकार कुन्तक का यह विवेचन दार्शनिक भित्ति पर पूर्णतया आधारित होने के कारण अन्य आचार्यों के विवेचन की अपेक्षा युक्ततम एवं तर्कसंगत है । आचार्य दण्डी ने 'पूर्ववासनागुणानुबन्धि' कह कर तथा वामन ने जन्मान्तरागत संस्कार विशेष' कहकर जहाँ इस प्रतिभा को केवल जन्मान्तर का ही संस्काररूप मान रखा था, कुन्तक ने इसे 'प्राक्तन एवं अद्यतन संस्कार के परिपाक से प्रौढ बता कर और भी अधिक प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया । प्राक्तन संस्कार बिना अद्यतन संस्कार के प्रस्फुटित कैसे होगा? और यही कारण है कि आगे चल कर मम्मट ने इसे केवल संस्कारविशेष ही कहा । राजशेखर की सहजाप्रतिभा को भी ऐहिक संस्कार की कुछ आवश्यकता पड़ती ही है। साथ ही कुन्तक ने रुद्रट तथा राजशेखर इत्यादि की भाँति प्रतिभा को केवल शब्द, अर्थ, अलंकार, कथन प्रकार आदि को ही प्रतिभासित करने वाली कह कर उसे किसी इयत्ता

1- व.जी., पृ० 13
2- वही, पृ० 50
3- वही, पृ० 41

तृतीय अध्याय

कुन्तक के अनुसार वक्रता के भेद

कुन्तक के अनुसार वक्रता के भेद

पिछले अध्याय में यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि आचार्य कुन्तक के अनुसार किसी काव्य का काव्यत्व वक्रोक्ति अथवा कविव्यापारवक्रता के कारण ही सम्भव होता है। उन्हों ने स्पष्ट रूप से निरूपित किया है कि अलंकार युक्त को ही काव्यता होती है और यह अलंकार एक मात्र वक्रोक्ति ही है[1]। सहृदयाह्लादकारी रूप में लोकोत्तर ढंग से किसी वस्तु का प्रतिपादन करना ही वक्रोक्ति अथवा कविव्यापारवक्रता है । यह वक्रता समग्र काव्य में विद्यमान रहती है । इसी लिए इसके भेद प्रभेदों का विवेचन करते हुए कुन्तक ने बड़े ही वैज्ञानिक ढंग से काव्य की लघुतम इकाई वर्ण से लेकर महत्तम स्वरूप प्रबन्ध तक इसका विवेचन किया है। कविव्यापारवक्रता के कुन्तक ने प्रधानतया छः भेद स्वीकार किये हैं[2]। काव्य की सबसे छोटी इकाई वर्ण है उन वर्णों के लोकोत्तर विन्यास में काव्य में अपूर्व तद्विदाह्लादकारित्व की सृष्टि होती है, अतः कवि व्यापार की प्रथमवक्रता वर्णों के विन्यासमें होती है। अतः वक्रता का पहला प्रकार वर्णविन्यासवक्रता है । वर्णों के अनन्तर उनके समूह रूप पद सामने आते हैं । लेकिन पदों के दो भाग होते हैं -एक प्रकृति और दूसरा प्रत्यय । इसीलिए कुन्तक ने पदवक्रता के पदपूर्वार्द्धवक्रता तथा पदपरार्द्धवक्रता रूप दो भिन्न वक्रता प्रकार निरूपित किए हैं । ये दोनों प्रकृतिवक्रता तथा प्रत्ययवक्रता के नामान्तर समझे जा सकते हैं। पदों के अनन्तर उनके समुदायभूत वाक्य का स्वरूप सामने आता है । अतः चतुर्थ वक्रता वाक्यवक्रता स्वीकार की गई तदनन्तर वाक्यों के समूह भूत प्रकरण की पाँचवी वक्रता मानी। और अन्तवक्रता प्रकरणों के समुदायभूत प्रबन्ध की स्वीकार की गई । इस प्रकार कुन्तक द्वारा किया गया वक्रताभेदविवेचन वैज्ञानिक ढंग से विकासक्रम पर आधारित है। उन्हों ने प्रधानतया ये ही छः भेद प्रतिपादित किए। वैसे इनके अनेक भेदोपभेद सम्भव हैं । और उनका यथासम्भव कुन्तक ने निर्देश भी किया है। अब इन वक्रताओं के प्रत्येक भेद का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है ।

1- 'तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता'— व.जी. 1/6
तथा
'तयोः पुनरलंकृतिः वक्रोक्तिरेव' वही, 1/10

2- द्रष्टव्य व.जी. 1/18-21

(1) वर्णविन्यासवक्रता

अकारादि स्वर एवं ककारादि व्यंजन वर्ण कहे जाते है । जब कविजन वर्णो के विन्यास को प्रसिद्ध प्रस्थान से व्यतिरेकी वैचित्र्य द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत करते है कि उस वर्ण-विन्यास द्वारा शब्द-सौंदर्य अतिशययुक्त हो सहृदयो को आह्लादित करने मे अत्यन्त समर्थ हो जाता है वही वर्णविन्यासवक्रता होती है ।इस वक्रता के अन्तर्गत ही कुन्तक ने प्राचीन आचार्यो द्वारा स्वीकृत अनुप्रास तथा यमकादि शब्दालंकारो एवं उपनागरिका आदि वृत्तियो का ग्रहण कर लिया है।उनका स्वयं का स्पष्ट कथन है कि —

'एतदेव वर्णविन्यासवक्रत्वं चिरन्तनेष्वनुप्रास इति प्रसिद्धम्।'[1]

तथा 'यमकं नाम कोऽप्यस्याः प्रकारः परिदृश्यते।'[2]

एवम् 'वर्णच्छायानुसारेण गुणमार्गानुवर्तिनी ।
वृत्तिवैचित्र्ययुक्तेति सैव प्रोक्ता चिरन्तनैः [3]।'

वर्णो की यह वक्रता वर्णो की विविध आवृत्तियो पर आधारित है।आचार्य कुन्तक ने वर्णो की संख्या एवं उनके स्वरूप के आधार पर इस वक्रता का द्विविध विभाजन किया है।वर्णो की संख्या के आधार पर उन्हो ने इसके तीन भेद प्रतिपादित किए—

(1) जहाँ थोड़े-थोड़े व्यवधान से एक ही वर्ण बार-बार उपनिबद्ध किया जाता है। यह प्रथम प्रकार है ।

(2) जहाँ दो वर्णो की थोड़े-थोड़े व्यवधान से बार-बार आवृत्ति की जाती है।वह दूसरा प्रकार होता है ।

(3) जहाँ बहुत से वर्ण थोड़े-थोड़े व्यवधान से बार-बार उपनिबद्ध किए जाते है, वहाँ तीसरा प्रकार होता है । निश्चय ही इस विभाजन का आधार वैयाकरणो द्वारा स्वीकृत एकवचन द्विवचन और बहुवचन रूप संख्या भेद ही है ।

वर्णो के स्वरूप के आधार पर भी कुन्तक ने इस वक्रता के तीन भेद प्रतिपादित किए—

(1) जहाँ पर क से लेकर म पर्यन्त स्पर्श वर्ण अपने वर्ग के अन्तिम ङकारादि वर्णो से संयुक्त हो कर थोड़े-थोड़े व्यवधान से पुनः पुनः आवृत्त होते है ।वहाँ इस वक्रता का पहला प्रकार होता है[4]।

1- व.जी.पृ0 30
2- वही, 2/6
3- वही,2/3
4- वही,2/1 तथा वृत्ति

(2) जहाँ पर द्वित्वविशिष्ट अथवा द्विधा उच्चरित न, त तथा न इत्यादि वर्णों की अल्प व्यवधान से पुनः पुनः आवृत्ति होती है। वहाँ दूसरा प्रकार होता है।

(3) जहाँ पर अवशिष्ट अन्य व्यंजन रेफादिक से संयुक्त रूप से अल्प व्यवधान से पुनः पुनः आवृत्त होते हैं। वहाँ तीसरा प्रकार होता है।[1]

इस प्रकार वक्रता का यह द्वितीय त्रिविध विभाजन वर्णों के स्वरूप पर आधारित है। यहाँ कुन्तक ने समस्त व्यंजनों को तीन श्रेणियों में बाँट दिया है। आचार्य रुद्रट[2] ने इसी वर्णस्वरूप के आधार पर मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता और भद्रा—पाँच वृत्तियाँ तथा उद्भट ने[3] केवल परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या —तीन ही वृत्तियाँ स्वीकार की थीं। और यही कारण है कि कुन्तक ने उन वृत्तियों का भी अन्तर्भाव इसी वक्रता में किया। आचार्य आनन्दवर्धन[4] ने भी वर्णों के स्वरूप के आधार पर वर्णों का विभाजन रस व्यंजकता की दृष्टि से किया है। मम्मट[5] विश्वनाथ[6] आदि ने भी वर्णों का ऐसा विभाजन माधुर्यादि गुणों की व्यंजकता की दृष्टि से किया है। वर्णविन्यासवक्रता के इस द्विविध विभाजन में कुन्तक ने वर्णों की पुनः पुनः आवृत्ति थोड़े व्यवधान से प्रतिपादित की थी। लेकिन कहीं-कहीं पर यदि एक, दो अथवा बहुत से वर्णों की बिना व्यवधान के ही अनियत स्थान पर आवृत्ति होती है तो वहाँ भी यह सहृदयाह्लादकारिणी होते हुए वर्णविन्यासवक्रता को प्रस्तुत करती है।[7] यह भी कुन्तक स्वीकार करते हैं। वर्णों की इस आवृत्ति में सम्भवतः उन्हें स्वरों का असादृश्य भी मान्य है। जैसा कि उनके उदाहरणों से स्पष्ट है। साथ ही उनके इस कथन से कि 'यदि इस प्रकार अव्यवधान से वर्णों की आवृत्ति होने पर स्वरों का परस्पर असादृश्य रहा तो अन्य ही वक्रता उद्भासित होती है',[8] यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। अन्यथा जब वे कहते हैं कि कहीं कहीं व्यवधान से भी इन विशिष्ट वर्णों की आवृत्ति होने पर यह वक्रता होती है—'अपि शब्दात् क्वचिद् व्यवधानेऽपि'[9] तो वह कथन अनावश्यक ही सिद्ध हो जाता है क्यों कि वक्रता के प्रथम विभाजन से इसका फिर कोई भेद ही नहीं होगा क्योंकि वह वक्रता भी तो एक, दो अथवा अनेक वर्णों की अल्प व्यवधान से पुनः पुनः आवृत्ति होने पर ही होती है। और यदि

1- व.जी. 2/2 तथा वृत्ति
2- रुद्र. काव्या. 2/19-31
3- का. सा. सं. 1/4-6
4- ध्व. 3/3-4
5- का. प्र. 8/9-10
6- सा. द. 8/3, 5-6
7- व.जी. 2/3 तथा वृत्ति
8- वही, पृ0 83
9- वही, पृ0 82

स्वरों का साम्य भी उन्हें यहाँ न मान्य होता तो वे इसे यमकाभास भी न कहते । उनका कहना है कि ऐसे स्थलों पर यमक नहीं बल्कि यमकाभास होता है[1] । यहाँ पर यमक का व्यवहार इसी कारण नहीं हो सकता कि इसका स्थान नियत नहीं होता जब कि यमक में पाद, पादादि, पादमध्य, पादान्त इत्यादि स्थान नियत हुआ करते हैं । यह तो विभाजक तत्व तभी होगा जब स्वर तथा व्यंजन दोनों की ही सदृशरूप में अनियत स्थान पर आवृत्ति होगी । साथ ही जब कुन्तक स्वरों के असादृश्य में भी वक्रता मानते हैं तो वहाँ भी यमकाभास ही होगा क्योंकि यमक में स्वर और व्यंजन दोनों का ही सादृश्य अनिवार्य होता है जब कि यहाँ स्वरों के असादृश्य में ही चमत्कार स्वीकार किया गया है । 'वा स्वराणामसादृश्यात् परा पुष्णाति वक्रताम्'[2] । लेकिन हाँ, कुन्तक ने नियत स्थान पर आवृत्त होने वाले उस यमक को भी इस वक्रता का एक अन्य प्रकार घोषित किया है । उस यमक की अलंकारता उन्हें तभी मान्य है जब कि वह प्रसाद गुण से युक्त एवं श्रुतिरमणीय होता है[3]। और यही कारण है कि इसके उदाहरण रूप में उन्होंने 'शिशुपालवध' चतुर्थ सर्ग के तथा 'रघुवंश'-वसन्तवर्णन के कुछ ही यमकों को स्वीकार किया है—
'उदाहरणान्यत्र शिशुपालवधे चतुर्थे सर्गे समर्पकाणि कानिचिदेव यमकानि, रघुवंशे वा वसन्त-वर्णने।'[4]

इस प्रकार वर्णविन्यासवक्रता के कतिपय भेदों का निरूपण कर तथा प्राचीन आचार्यों द्वारा स्वीकृत अनुप्रास यमकादि शब्दालंकारों एवं उपनागरिका आदि वृत्तियों का उसमें अन्तर्भाव कर कुन्तक उसे वक्रता की यथार्थता का प्रतिपादन करते हुए उसके कुछ नियामक तत्वों का उल्लेख इस प्रकार करते हैं । इस वक्रता का सबसे प्रधान नियामक तत्व औचित्य है । वर्णों की आवृत्ति में अथवा उनके प्रयोग में कहीं भी औचित्य की हानि हुई नहीं कि वह वर्णविन्यास वक्रता की कोटि से च्युत हो जाता है । इसी लिए कुन्तक जब वर्णों की श्रेणियों को विभाजित करते हैं अथवा वर्णों के स्वरूप के आधार पर वक्रता के भेदों का निरूपण करते हैं तो बताते हैं कि उन वर्णों को प्रस्तुत वर्ण्यमान पदार्थ के औचित्य से सुशोभित होने वाला होना चाहिए[5]। न कि केवल व्यसन के कारण ही उपनिबद्ध होकर प्रस्तुत

1- व.जी. पृ० 83
2- वही, 2/3
3 वही, 2/6-7
4- वही, पृ० 87
5- वही, 2/2

के औचित्य को म्लान करने वाला होना चाहिए । आशय यह है कि यदि रौद्रादि परुष रसों का प्रस्ताव है तो वहाँ परुष वर्णों का प्रयोग करना चाहिए। यदि शृङ्गारादि कोमल रसों का प्रस्ताव है तो वहाँ कोमल वर्णों का प्रयोग करना चाहिए। और इस औचित्य की सुरक्षा तभी हो सकती है जब कि वक्रता अत्यन्त आसक्तिपूर्वक विरचित नहीं होगी । बिना प्रयत्न के सहज प्रतिभाजन्य होगी । यदि आसक्ति या मोह के कारण प्रयत्नपूर्वक उसकी रचना की जायगी तो निश्चित ही वर्ण्यमान के औचित्य की हानि होगी और ऐसी दशा में शब्द और अर्थ का परस्पर स्पर्धा रूप जो साहित्य है वह सम्पन्न न हो सकेगा और वह रचना काव्य कहलाने की अधिकारिणी नहीं होगी।साथ ही वर्णविन्यास अत्यधिक कठोर सुकुमार वर्णों से भी संवलित नहीं होना चाहिए उसमें श्रुतिपेशल वर्णों का प्रयोग होना चाहिए तथा जिन वर्णों की अनेक बार आवृत्ति की जा चुकी है । उनका परित्याग कर नवीन वर्णों की आवृत्ति की जानी चाहिए । तभी सहृदयों को आनन्दोपलब्धि होगी और तभी वर्णविन्यासवक्रता [1] वक्रता कहलाने की अधिकारिणी होगी । लेकिन कुन्तक के इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि यदि शृंगाररस का प्रकरण चल रहा है और उसमें पहले कुछ कोमल वर्णों की आवृत्ति की गई है तो उनका परित्याग कर कठोर वर्णों की आवृत्ति कर दी जाय,क्योंकि ऐसा करने पर रस के प्रतिकूल वर्णों का प्रयोग करने से रसभंग हो जायगा।अतः शृंगार रस के प्रकरण में उसी रस के व्यंजक कोमल वर्णों की ही हेर फेर से आवृत्ति करनी चाहिए जिससे सहृदयजन उद्विग्न न हो और रस की भी सम्यक् निष्पत्ति हो। ऐसा ही नियम अन्य रसों एवं प्रकरणों में भी अभीष्ट है । गुणों एवं भावों के अनुकूलता से इस वक्रता के अनेकों भेद सम्भव हो सकते हैं । उनको किसी संख्या द्वारा नियत कर सकना सम्भव नहीं ।

(2) पदपूर्वार्द्धवक्रता

इस प्रकार वर्णों की वक्रता का विवेचन करने के अनन्तर वर्णों के समुदाय रूप पदों की वक्रता का विवेचन अवसरप्राप्त है । व्याकरण को समस्तविद्याओं का मूल स्वीकार किया गया है । पदों का ज्ञान व्याकरणशास्त्र से ही होता है फिर साहित्यशास्त्रियों की दृष्टि में तो व्याकरण का महत्व अक्षुण्ण रहा है । सहृदयशिरोमणि आनन्दवर्द्धन का कथन है कि-

---

1- 'नातिनिर्बन्धविहिता नाप्यपेशलभूषिता ।
पूर्वावृत्तपरित्याग-नूतनावर्तनोज्ज्वला ।'
— व.जी., 2/4

'प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम् ।'[1]
आनन्दवर्धन की पदध्वनियों का विवेचन जैसे व्याकरणमूलक है वैसे ही कुन्तक का पदवक्रता-विवेचन भी व्याकरणमूलक ही है ।आचार्य पाणिनि का सूत्र है –'सुप्तिङन्तम्पदम्'[2] 'अर्थात् सुबन्त एवं तिङन्त की पद संज्ञा होती है । जबतक किसी प्रातिपदिक में सुप् प्रत्यय तथा किसी भी धातु मे तिङ् प्रत्यय नही लग जाते तब तक वह प्रयोग के योग्य नही होता । क्यों कि प्रयोग के योग्य पद ही हुआ करता है । कुन्तक ने पदवक्रता का विवेचन जो पदपूर्वार्द्ध और पदपरार्द्ध के रूप में किया उसका आधार यही है । पदपूर्वार्द्ध को ही प्रकृति तथा पदपरार्द्ध को ही प्रत्यय भी कहते है । कभी-कभी कवि काव्य में प्रकृति के विचित्र प्रयोग मे अपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि कर देता है और कभी प्रत्यय के विचित्र प्रयोग से। अतः इन दोनों का ही स्वतंत्र विवेचन आवश्यक होने के कारण कुन्तक ने पदवक्रता को पद-पूर्वार्द्धवक्रता तथा पदपरार्द्धवक्रता दो भागों में विभक्त कर दिया । कुन्तक ने इस वक्रता के प्रधानतया अधोलिखित प्रकार प्रतिपादित किए है—

(क) रूढिवैचित्र्यवक्रता :-

सामान्यतया रूढि शब्द का अर्थ प्रसिद्धि लिया जाता है ।'विवेकिका' में आशाधर भट्ट ने बताया है शब्द की तीन वृत्तियाँ होती है -शक्ति भक्ति और व्यक्ति । जो संकेतग्रह का कारण होती है उस वृत्ति को शक्ति कहते है । यह शक्ति तीन प्रकार की होती है – योग,रूढि और योगरूढि । जिसके संकेत मे प्रसिद्धि का प्राधान्य होता है उसे रूढि कहते है – 'संकेतप्रसिद्धि प्राधान्या रूढिः'[3] ।''वृत्तिवार्तिक' मे भी अभिधा के एक भेद रूप मे रूढि को स्वीकार किया गया है और बताया गया है कि समुदाय की अखण्डशक्ति या सामूहिक शक्ति से ही एक अर्थ का प्रतिपादन करने वाली अभिधा रूढि है । –'अखण्डशक्ति मात्रैकार्थ-प्रतिपादकत्वं रूढिः'[4]। यही अभिमत साहित्यकौमुदी[5] ,साहित्यसार[6] तथा काव्यदर्पण[7] आदि में भी व्यक्त किया गया है ।आचार्य कुन्तक भी शब्द की किसी नियत अर्थ का बोध करानेवाली वृत्ति को रूढि स्वीकार करते है । वह कभी नियतसामान्य की बोधक होती है और कभी

1- व्य. पृ० 132-133.
2- अष्टाध्यायी, 1.1.14
3- विवेकिका, पृ०4, 5
4- वृत्ति. पृ० 1
5- सा. कौ. , पृ० 11
6- सा. सा. 2/8
7- का. द. पृ० 44

नियतविशेष को । वह शब्द का धर्म रूप है । लेकिन चूँकि धर्म और धर्मी में अभेदोपचार दिखाई पड़ता है अतः यहाँ रूढ़ि से आशय रूढ़िप्रधान शब्द से है[1] । अर्थात् रूढ़िवक्रता को से आशय उस शब्द की वक्रता से है जिसमें रूढ़ि प्रधान होती है । इस प्रकार जहाँ रूढ़िप्रधान शब्द के द्वारा वाच्य पदार्थ के किसी लोकोत्तर तिरस्कार अथवा प्रशंसनीय उत्कर्ष को प्रति-पादित करने की इच्छा से कवि रूढ़ि शब्द द्वारा किसी ऐसे धर्म की प्रतीति कराता है जिसकी कि रूढ़ि शब्द द्वारा सम्भावना भी नहीं की जा सकती थी वहाँ पर अथवा उस पदार्थ में विद्यमान धर्म के अत्यधिक उत्कर्ष की जहाँ प्रतीति कराता है वहाँ पर रूढ़िवैचित्र्यवक्रता होती है[2]। कुन्तक ने इस बात को अत्यधिक स्पष्ट कर दिया है कि 'प्रतीति कराता है' इस क्रियाका अभिप्राय यही है कि ऐसे स्थलों पर शब्द का व्यापार वाचक रूप में नहीं होता बल्कि अन्य वस्तु की तरह केवल द्योतक रूप में होता है और यहाँ वे ध्वनिकार द्वारा समर्थित व्यंग्यव्यंजक भाव के साथ अपनी सहमति व्यक्त करते हैं[3] । कुन्तक ने वक्ता की दृष्टि से इस वक्रता के दो भेद निरूपित किए हैं[4] । पहला भेद तो वह होता है जहाँ कवि रूढ़िवाच्य पदार्थ को ही स्वयं वक्ता के रूप में अपने उत्कर्ष अथवा अपकर्ष का प्रतिपादन करने के लिए उपनिबद्ध करता है—जैसे, 'रामोऽस्मि सर्वं सहे'[5] में वक्ता स्वयं राम हैं । कवि उनके स्वयं के लोकोत्तर तिरस्कार का प्रतिपादन करना चाहता है और इसी लिए उसने स्वयं राम से 'रामोऽस्मि' कहलाया है। इससे 'राम' द्वाराभिधेय असाधारण क्रूरता की राजर्षि राम में सम्भावना भी नहीं की जा सकती थी उसकी प्रतीति होती है । राम की उस क्रूरता के विषय में क्या कहा जाय जोकि उन्हें ऐसे वर्षाकाल के विविध उद्दीपनविभावों के विभव को सहन करने में समर्थ बनाए हुए है और जो कि जनकनन्दिनी जानकीकी दुःसह विरहव्यथा के कारण विषम समय में भी निर्लज्ज की तरह उन्हें अपने प्राणों की रक्षा करने में समर्थ बनाये हुए है ।इस प्रकार रूढ़िवक्रता का यह पहला प्रकार हुआ जहाँ कि वक्ता स्वयं रूढ़िद्वारा वाच्य पदार्थ ही हुआ करता है।इसका दूसरा प्रकार वहाँ होता है जहाँ वक्ता स्वयं रूढ़ि वाच्य अर्थ नहीं होता बल्कि उससे भिन्न कोई वक्ता होता है जैसे- '[illegible] न राघवः' इत्यादि में[6]।

1- व.जी. पृ0 88
2- वही, 2/8-9
3- वही, पृ0 89
4- वही, पृ0 89
5- महानाटक, 5/7
6- वाल.रामा 1/36

यहाँ कवि ने रावण के किसी ऐसे अनिर्वचनीय दोष की प्रतीति कराई है जिसके आगे उसके अनेक गुण तिरोहित हो जाते है और वह वर के अयोग्य सिद्ध होता है । परन्तु यहाँ वक्ता स्वयं सत्कर्षरावण नही बल्कि मन्दानन्द है ।अतः यह दूसरा प्रकार रहा । कुन्तक और आनन्दवर्धन के विवेचन मे यही अन्तर है कि कुन्तक ऐसे स्थलो पर धर्म की प्रतीयमानता स्वीकार करते है जब कि आनन्द धर्मविशिष्ट धर्मी की प्रतीयमानता स्वीकार करते है । इसी 'रामो स्मि सर्व सहे 'पर जिसे कि उन्हो ने 'अर्थान्तर संक्रमितवाच्यध्वनि'के उदाहरण रूप मे प्रस्तुत किया है,उनका व्याख्यान है कि 'यहाँ पर रामशब्द के द्वारा व्यंग्यधर्मान्तर मे परिणत संज्ञी की प्रतीति होती है केवल संज्ञी दाशरथि राम की नही [1]।कुन्तक ने प्रतीयमान धर्म के बाहुल्य के कारण इस वक्रता की विविध प्रकारता का निर्देश किया है[2]। इस वक्रता का परम रहस्य यही होता है जिसके कारण शब्द मे सामान्यनिष्ठता का परित्याग कर कवि-विवक्षित-विशेष को प्रतिपादित करने की सामर्थ्य आ जाती है ।

(ख) पर्यायवक्रता

पर्याय शब्द का प्रयोग प्रायः समानार्थवाचक शब्दो के लिए किया जाता है । 'अमरकोश' के अनुसार पर्याय का अर्थ क्रम होता है[3]।'न्यायकोश' मे उद्धृत किया गया है कि प्रवृत्ति निमित्त के समान होने पर विभिन्न आनुपूर्वी का होना पर्याय कहलाता है । जैसे घड़ा रूप अर्थ घट,कलश तथा कलश इत्यादि शब्दो का प्रवृत्तिनिमित्त है लेकिन इनमे प्रयुक्त वर्णो की आनुपूर्वी भिन्न भिन्न है अतः ये सभी पर्याय हुए ।'पर्यायः समानप्रवृत्ति निमित्तकत्वे सति विभिन्नानुपूर्वीकत्वम्'यथा घटः,कलशः,कलशः इति पर्यायः[4] ' 'शब्दकल्पद्रुम कोश' मे विजयरक्षित के अनुसार उद्धृत किया गया है कि 'क्रम से एक अर्थ के वाचक शब्द पर्याय कहे जाते है[5]। कुन्तक को भी यही अभीष्ट है । उनका कहना है कि पर्याय प्रधान शब्द को पर्याय कहा जाता है।पर्याय से आशय क्रम से ही है । कुन्तक का कहना है कि शब्द की पर्यायप्रधानता यही होती है कि कभी तो वह विवक्षित वस्तु के

1- 'अत्र राम शब्दः ।अनेन हि व्यंग्यधर्मान्तरपरिणतः संज्ञी प्रत्याय्यते, न संज्ञिमात्रम्।
—ध्व.पृ0 169

2- एषा च रूढिवैचित्र्यवक्रता प्रतीयमान धर्मबाहुल्यात् बहुप्रकारा भिद्यते । ,व जी.पृ091

3- पर्यायोऽवसरे क्रमे '3/3/146

4- न्यायकोश, पृ॰452

5- 'क्रमैकार्थवाचकाः शब्दाः पर्यायाः' इति विजयरक्षितः ।' श.क.भाग 3 पृ0 73

वाचक रूप में प्रवृत्त होता है और कभी उससे भिन्न दूसरा वाचक प्रवृत्त होता है ।[1]
जैसे पिनाकी और कपाली दोनों पद पर्याय हैं । दोनों का ही अर्थ शंकर है । इनमें पिनाकी पद से तो लोकोत्तर पिनाक धनुष को धारण करने वाले भगवान शंकर का उत्कर्ष ध्वनित होता है । जब कि 'कपाली' पद से उनकी हेयता ध्वनित होती है क्योंकि कपाली पद बीभत्स रस के आलम्बन विभाव के वाचक रूप में घृणा का व्यंजक है । 'जिसने नरमुण्ड धारण कर रखा है ऐसा घृणास्पद शंकर' यह अर्थ कपाली पद से ध्वनित होता है । अतः जब हमें भगवान शंकर की उत्कृष्टता का प्रतिपादन करना अभीष्ट होगा उस समय हमारी विवक्षित वस्तु का वाचक 'पिनाकी' पद ही होगा 'कपाली' नहीं । लेकिन जब शंकर की हीनता, चाहे वह आभासतः ही क्यों न हो, प्रतिपादित करनी होगी तो उस समय विवक्षित अर्थ का वाचक कपाली पद ही होगा पिनाकी नहीं । अतः जहाँ कवि असाधारण ढंग से पर्यायों का प्रयोग कर उनके द्वारा चमत्कार की सृष्टि करता है वहाँ पर्यायवक्रता होती है। जिन पर्यायों के प्रयोगजन्य वैचित्र्य से यह वक्रता प्रस्तुत होती है उन पर्यायों का स्वरूप कुन्तक के अनुसार इस प्रकार है —

(1) जो पर्याय अभिधेय वस्तु का अत्यधिक अन्तरंग होता है अर्थात् जिस प्रकार से विवक्षित वस्तु को वह व्यक्त करने में समर्थ होता उस विशिष्ट प्रकार से दूसरा पर्याय नहीं। अतः ऐसे पर्याय के प्रयोग से यह वक्रता प्रस्तुत होती है ।[2] उदाहरणार्थ 'किरातार्जुनीयम्' में जब किरातवेषधारी शिव तथा अर्जुन दोनों के साथ ही बाण छोड़ने पर वाराह विद्ध हो जाता है और अर्जुन अपना बाण निकालने लगते हैं तभी शिव का दूत अर्जुन से उस बाण को अपने सेनापति का बाण बताकर वापस दे देने को कहता है । पर अर्जुन उसे झूठा कहते हैं । दोनों में संवाद होता है इसी प्रसंग में आये हुए 'नाभियोक्तुमनृतं त्वमिष्यसे'[3] इत्यादि श्लोक में आया हुआ 'वज्रिणः' पद इस पर्याय वक्रता को प्रस्तुत करता है । इस स्थल पर इन्द्र के वाचक असंख्य पर्यायों में से कोई भी पर्याय कविविवक्षित अर्थ को उस रूप में प्रस्तुत करने में असमर्थ था जैसा कि यह पद । इससे उस दूत के सेनापति के बाणों की लोकोत्तरता प्रतीत होती है क्योंकि उनके पास रहने वाले बाण सतत वज्रधारी

1- 'पर्यायप्रधानः शब्दः पर्यायोऽभिधीयते। तस्य चैतदेव पर्यायप्रधानत्वं यत् स कदाचिद् विवक्षिते वस्तुनि वाचकतया प्रवर्तते कदाचिद् वाचकान्तरमिति।' व.जी. पृ० 92
2- 'अभिधेयान्तरतमः' 2/10
3- किरात. 11/58

इन्द्र के भी पराक्रम को निषिधी है । अतः वह एक तपस्वी के त्राण के लिए झूठ बोले यह कदापि सम्भव नहीं ।

(2) दूसरा वह पर्याय वक्रता को प्रस्तुत करने में समर्थ होता है जो कि सहज सौकुमार्य से रमणीय भी अपने वाच्य पदार्थ के उत्कर्ष को असाधारण ढंग से परिपुष्ट करता हुआ सहृदय-हृदयों को आह्लादित करने में समर्थ होता है।[1]

(3) तीसरा वह पर्याय वक्रता की सृष्टि करता है जो श्लिष्टता आदि के सौन्दर्य से युक्त हो स्वयं अथवा अपने विशेषणभूत अन्य पद के द्वारा वाच्यार्थ को अलंकृत करने में समर्थ होता है[2]। कुन्तक ने स्पष्ट रूप से इस तीसरे पर्याय की वक्रता का निरूपण करते हुए निर्देश किया है कि ध्वनिकार के अनुसार यही वक्रता शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यंग्य पदध्वनि अथवा वाक्य ध्वनि का विषय है[3] और उदाहरणस्वरूप में 'ध्वन्यालोक' के ही उद्धरणों को प्रस्तुत किया है ।

(4) इस वक्रता को प्रस्तुत करने वाला चतुर्थ पर्याय वह होता है जो अपनी सहज सौन्दर्य-सम्पदा से ही सहृदयों को अत्यधिक आह्लादित करने में समर्थ होता है[4]। आशय यह कि उसी अर्थ को यद्यपि प्रकारान्तर से भी प्रस्तुत किया जा सकता है लेकिन जो चमत्कार इस सहज सुन्दर पर्याय में आ जाता है वह अन्य से नहीं । जैसे 'कृष्णकुटिलकेशी' के स्थान पर 'यमुनाकल्लोलवक्रालका' पर्याय का प्रयोग सहृदयों को अत्यन्त आह्लाद प्रदान करता है ।

(5) पाँचवे प्रकार का वह पर्याय इस वक्रता को प्रस्तुत करता है जिसके प्रयोग द्वारा कवि वर्ण्यमानपदार्थ की किसी ऐसे अर्थ की पात्रता को व्यक्त करता है जिसकी कि उसमें सम्भावना भी नहीं की जा सकती।[5] जैसे 'रघुवंश' के दिलीप-सिंह-संवाद के अवसर पर सिंह द्वारा 'अलं महीपाल तव श्रमेण' इत्यादि श्लोक में राजा के लिए प्रयुक्त 'महीपाल' पर्याय पद । जो राजा सम्पूर्ण पृथ्वी का पालन करने में समर्थ है वही प्रयत्नपूर्वक परिपालनीय गुरु की गाय की रक्षा करने में असफल होगा ऐसी सम्भावना भी नहीं की जा सकती लेकिन

1- 'तस्यातिशयपोषकः' 2/10 (व.जी.)

2- रम्यच्छायान्तरस्पर्शात् तदलङ्कर्तुमीश्वरः । स्वयं विशेषणेनापि 2/10-11 (वही)

3- एष एव च शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यंग्यस्य पदध्वनेर्विषयः ।
बहुषु चैवंविधेषु सत्सु वाक्यध्वनेर्वा । व.जी. पृ095

4- 'स्वच्छायोत्कर्षपेशलः' ।- 2/11 (वही)

5- असम्भाव्यार्थपात्रत्वगर्भं यश्चाभिधीयते। -2/11 (वही)

यहाँ पर राजा की उसी असामर्थ्यता को प्रकट करने के अभिप्राय से प्रयुक्त किया गया, 'महीपाल' पद चमत्कार को प्रस्तुत करता है ।

(6) इस वक्रता को प्रस्तुत करने वाला छठा पर्याय-प्रकार वह होता है जो या तो रूपकादि अलंकारों से उपस्कृत हो अत्यन्त मनोहारी होता है अथवा उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों को स्वयं ही उपस्कृत करने के कारण रमणीय होता है[1] ।

इस प्रकार जहाँ उक्त विशेषणों से विशिष्ट पर्यायों के प्रयोग से वैचित्र्य की सृष्टि होती है वहाँ पर्यायवक्रता होती है ।

(ग) उपचारवक्रता

वात्स्यायन का कथन है कि 'सहचरणादि निमित्त से वैसा न होने पर भी वैसा कथन करना उपचार है—'सहचरणादिनिमित्तेनातद्भावेऽपि तद्वदभिधानमुपचारः[2] ।' इस कथन से यह बात स्पष्ट होती है कि भिन्न वस्तुओं में ऐक्य का प्रतिपादन करना अथवा भेद प्रतीति का स्थगन कर देना उपचार है । यद्यपि गौतम का सूत्र है कि —'सहचरण-स्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मण-मञ्च-कट-राज-सक्तु-चन्दन-गंगा-शाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः[3] ।' इसके अनुसार सहचरण, स्थान, तादर्थ्य इत्यादि अनेक निमित्तों से असद् में सद् का उपचार होता है । किन्तु साहित्यशास्त्र में अधिकतर सादृश्यातिशय के कारण ही अत्यन्त भिन्न वस्तुओं में भेद ज्ञान के तिरोध को उपचार कहा गया है। विश्वनाथ का कथन है—

'उपचारो हि नामात्यन्तं विशकलितयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम्[4] ।'

प्रदीपकार के अनुसार सादृश्यसम्बन्ध से प्रवृत्ति को उपचार कहते हैं अथवा सादृश्यातिशय की महिमा से भिन्न वस्तुओं की भेद प्रतीति के तिरोध को उपचार कहते हैं[5] । कुन्तक के अनुसार जिसमें उपचार प्रधान रहता है उसे उपचारवक्रता कहते हैं । एक स्थान पर उन्होंने स्वयं कहा है कि सादृश्यादि सम्बन्ध का आश्रयण कर के अन्य धर्म का अध्यारोप उपचार कहलाता है—'उपचारः सादृश्यादिसम्बन्धं समाश्रित्य धर्मान्तराध्यारोपः[6] ।' मुख्यरूप से कुन्तक ने उपचार-

---

1- अलंकारोपसंस्कारमनोहारिनिबन्धनः —2/12 तथा वृत्ति (व.जी.)
2- न्या. दर्शन भा. पृ० 45 (3) न्या. द. 2/2/61
4- सा. द., पृ० 37
5- 'उपचारश्च सादृश्यसम्बन्धेन प्रवृत्तिः । सादृश्यातिशयमहिम्ना भिन्नयोर्भेदप्रतीतिस्थगनं वा ।'
का. प्र. प्र. पृ० 43
6- व.जी., पृ० 119

वक्रता के दो भेद किए हैं । उपचारवक्रता का प्रथम प्रकार वह होता है जहाँ पर किसी अतिशययुक्त व्यापार को प्रतिपादित करने की इच्छा से थोड़ी सी भी समानता के विद्यमान रहने पर अन्य वस्तु के साधारण धर्म का अत्यधिक दूर वाले अन्य पदार्थ पर आरोप किया जाता है।[1] अत्यधिक दूरीसे आशय देश अथवा काल की दूरी से नहीं है बल्कि स्वभाव की भिन्नता से है।जैसे चेतन और अचेतन , मूर्त और अमूर्त,घन और द्रव पदार्थों में विरुद्ध स्वभाव के कारण दूरी है।इस प्रकार जहाँ अचेतन पर चेतन के धर्म का अमूर्त पर मूर्त के धर्म का अथवा घन पदार्थ में द्रव पदार्थ के धर्म का आरोप किया जाता है वहाँ यहवक्रता होती है ।[2] जैसे 'गगनञ्चमत्तमेघं'आदि में मत्तता रूप चेतन धर्म का अचेतन मेघ पर आरोप किया गया है।यह वक्रता पदार्थों में अत्यधिक दूरी अर्थात् विरुद्ध स्वभाव के विद्यमान रहने पर ही सम्भव है।यदि ऐसी दूरी नहीं होगी तो यह वक्रता भी नहीं होगी ।जैसे 'गौर्वाहीकः'आदि में यह वक्रता नहीं स्वीकार की जायगी ।

दूसरे प्रकार की उपचारवक्रता रूपक और अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकारों का मूल है ।बिना उपचार वक्रता के उनमें रमणीयता आ ही नहीं सकती है अतः यह इन अलंकारों की जीवितभूता है।[3] पहली वक्रता से इस वक्रता का भेद केवल यही है कि पहली वक्रता में स्वभाव की भिन्नता के कारण थोड़े से भी साम्य का आश्रयण कर अतिशयिता को प्रतिपादित करने के लिए एक पदार्थ पर दूसरे पदार्थ के धर्ममात्र का अध्यारोप किया जाता है जब कि दूसरी वक्रता में केवल धर्म का ही आरोप नहीं होता बल्कि अभेदोपचार के कारण तत्त्व का ही अध्यारोप कर दिया जाता है।जैसे 'मुखकमलम्'इत्यादि रूपक के स्थलों में मुख पर कमल के सामान्य धर्म का आरोप न कर कमल का ही आरोप कर दिया जाता है ।

(च) विशेषणवक्रता

'विशिष्यतेऽनेनेति विशेषणम्'।जिसके द्वारा किसी पदार्थ की विशिष्टता बताई जाय अथवा पदार्थों के भेदक धर्म को विशेषण कहते हैं। उसे विशेषण कहते हैं। विशेषण दो प्रकार के होते हैं–क्रियाविशेषण–जो क्रिया की विशिष्टता का प्रतिपादन करते हैं और कारकविशेषण–जो कारक का वैशिष्ट्य बताते हैं ।इन दो प्रकार

1- व.जी.,2/13
2- द्रष्टव्य,वही पृ0 100.
3- वही,2/14 तथा वृत्ति

जहाँ कहीं कवि क्रिया अथवा कारक के ऐसे विशेषणों का प्रयोग इस ढंग से करता है कि उनके प्रभाव से काव्य में एक अपूर्व सौंदर्य आ जाता है वहाँ विशेषणवक्रता होती है।[1] इन विशेषणों के द्वारा काव्य में उत्कर्ष तभी आता है जब कि उनके माहात्म्य से रसों अलंकारों अथवा पदार्थों के स्वभाव का लोकोत्तर ढंग से सौन्दर्य अभिव्यक्त होता है। यह विशेषणवक्रता वर्णनीयपदार्थ के औचित्य के अनुरूप होने के कारण समस्त श्रेष्ठ काव्यों की प्राणभूता दिखाई पड़ती है क्यों कि इसीके द्वारा रस अपने परिपोष की पराकाष्ठा को पहुँचाया जाता है । क्रियाविशेषण वक्रता का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

'सञ्चारवारणपतिर्विनिमीलिताक्षं
स्वेच्छाविहारवनवासमहोत्सवानाम्।'[2]

यहाँ कवि ने जो 'विनिमीलिताक्षं' क्रियाविशेषण का प्रयोग किया है उससे गजराज का स्वाभाविक सौंदर्य अत्यधिक परिपुष्ट होकर चमत्कारी हो गया है। अतः निश्चित रूप से क्रिया-विशेषण की वक्रता यहाँ विद्यमान है। कुन्तक का स्पष्ट निर्देश है कि कवि को वैसे ही विशेषण का प्रयोग करना चाहिए जिसके प्रभाव से रस, स्वभाव एवं अलंकार लोकोत्तर सौंदर्य से सम्पन्न हो जाय।[3]

(ड) संवृतिवक्रता

संवृति का अर्थ है संवरण, छिपाना। किसी वस्तु को छिपाना भी एक कला है । जहाँ इसी संवरण अथवा छिपाने से वैचित्र्य की सृष्टि होती है वहाँ संवृतिवक्रता होती है । जो वक्रता संवरण के कारण होती है अथवा जिसमें संवरणप्रधान रहता है उसे संवृति-वक्रता कहते हैं । किसी वैचित्र्य का प्रतिपादन करने के लिए कविजन किन्हीं अपूर्वनामक-भूत सर्वनामा-दिकों के द्वारा वस्तु का संवरण करते हैं।[4] कुन्तक ने इसके अनेक प्रकार बताये हैं । वे इस प्रकार हैं —

1- व. जी. 2/15

2- उद्धृत व. जी. पृ० 104

3- 'स्वमहिम्ना विधीयन्ते येन लोकोत्तरश्रियः ।
रसस्वभावालंकारास्तद् विधेयं विशेषणम् ।। व. जी पृ० 105

4- व. जी. 2/16

(1)कविजन कभी-कभी किसी ऐसी अतिशययुक्त वस्तु का, जिसका कि वर्णन साक्षात् ढंग से भी किया जा सकता है उसका साक्षात् कथन न कर किसी सामान्यवाची सर्वनामादि के द्वारा यह सोचकर संवरण कर देते हैं कि कहीं साक्षात् कथन कर देने पर उसका सौंदर्य सीमित न हो जाय । वे उसके सौंदर्य को असीम ही रखना चाहते हैं ।[1]

(2) कभी-कभी किसी ऐसी अतिशययुक्त वस्तु का जो कि अपने स्वभावप्रकर्ष की पराकाष्ठा को पहुँची हुई होती है कविजन उसकी अनिर्वचनीयता को प्रतिपादित करने के लिए सर्वनामादि के द्वारा संवरण कर देते हैं । इन दोनों ही प्रकारों में वस्तु का तो सर्वनामादि के द्वारा संवरण कर दिया जाता है लेकिन उसके कार्य का कथन करने वाले एवं उसके अतिशय का प्रतिपादन करने वाले अन्य वाक्य के द्वारा उसकी प्रतीति करा दी जाती है।[2]

(3) इसका तीसरा प्रकार वह होता है जहाँ कविजन अत्यन्त सुकुमारवस्तु को बिना उसके कार्य का कथन किए ही केवल संवरणमात्र से ही अपूर्व सौकन्य सौन्दर्य की पराकाष्ठा को पहुँचा देते हैं[3]।

(4)चौथा प्रकार वह होता है जहाँ पर किसी वस्तु की स्वानुभवैकगम्यता एवं अनिर्वचनीयता का प्रकाशन करने के लिए उस वस्तु का संवरण कर दिया जाता है। जैसे- 'तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति' में 'किमपि' पद के द्वारा नायक की प्रियतमा के वचनों की स्वानुभवैकगम्यता एवं अनिर्वचनीयता प्रकाशित होती है।[4]

(5)पाँचवाँ प्रकार वह होता है जहाँ किसी वस्तु की परानुभवैकगम्यता एवं वक्ता की अनिर्वचनीयता प्रकाशित करनेके लिए उस वस्तु का सर्वनामादि के द्वारा संवरण कर दिया जाता है।उदाहरणार्थ जब भीष्म पितामह ने आजीवन ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा की उस समय कामदेव को क्या अनुभव हुआ उसे वक्ता की वाणी द्वारा प्रकट करने की असमर्थता को प्रकाशित करने के लिए कवि ने कह दिया--

'मन्मथः किमपि तेन निदध्यौ।' यहाँ किमपि पद के द्वारा वस्तु का संवरण कर देने से चमत्कार आ गया है।[5]

1- द्रष्टव्य व.जी.पृ० 105-106

2- द्रष्टव्य वही,पृ० 106

3- ,, वही पृ० 107

4- '' वही पृ० 107

5- ,, वही पृ० 107-108

(6) छठवाँ प्रकार वह होता है जहाँ स्वभावतः अथवा कवि की विवक्षा से किसी अत्यन्त दोष युक्त वस्तु की महापातक के समान अकथनीयता को प्रकाशित करने के लिए उस वस्तु का संवरण कर दिया जाता है ।उदाहरणार्थ -जिस समय वटु वेषधारी शिव पार्वती के समक्ष शिव की निन्दा करते है उस समय पार्वती का यह कथन कि -'निवार्यतामालि किमप्ययं वटुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः '[1] इस वक्रता को प्रस्तुत करता है ।यहाँ 'किमपि' द्वारा संवरण की गई वस्तु की महापातक के सदृश अकथनीयता व्यक्त होती है।[2]

इस प्रकार कुन्तक ने संवृतिवक्रता के ये ही छः मुख्य प्रकार निरूपित किए है ।निश्चय ही कुन्तक का यह संवृतिवक्रता विवेचन अत्यन्त मनोवैज्ञानिक है।कवि अथवा सहृदय का कौशल मानव मनकी गहराइयों तक पहुँचने में है ।कुन्तक ने जिन परिस्थितियों में संवरणप्रवृत्ति का प्रतिपादन किया है वह निश्चय ही उनकी मानवमन के सूक्ष्म निरीक्षण की विलक्षण क्षमता का परिचायक है एवं कुन्तक के विवेचन की मनोवैज्ञानिकता का परमप्रमाण है ।

(ब) पदमध्यान्तर्भूतप्रत्ययवक्रता

इस प्रकार कुन्तक ने अभी तक प्रातिपदिकरूप प्रकृति की वक्रताओं का यथासम्भव विवेचन किया । लेकिन संस्कृतव्याकरण में कृदादि(शतृ शानच् आदि)तथा नुमादि आगम रूप कुछ ऐसे प्रत्यय है जो कि सुबादि विभक्तियों के पूर्व ही प्रयुक्त होते है ।अतः कुन्तक ने उन प्रत्ययों का विवेचन पदपूर्वार्धवक्रता के ही अन्तर्गत किया है और उन्हें पदमध्यवर्ति प्रत्ययवक्रता नाम से अभिहित किया है । इस वक्रता के उन्होंने ने मुख्यतः दो प्रकार निरूपित किए है । पहला प्रकार वह है जहाँ पद के मध्य में आने वाले कृत् कृत् आदि प्रत्यय अपने उत्कर्ष से वर्त्तमान पदार्थ के औचित्य की शोभा को प्रस्फुरित करते हुए अपूर्व वक्रता को प्रस्तुत करते है[3] -जैसे-

'स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घनाः ' में 'वेल्लत्' पद में प्रयुक्त शतृ प्रत्यय इस वक्रता को प्रस्तुत करता है । शतृ प्रत्यय वर्तमानकाल का वाचक होता है । अतः यहाँ पर वर्त्तमान पदार्थ के औचित्य की तात्कालिक स्वभाव की रमणीयता से युक्त किसी ऐसी विच्छित्ति की प्रतीति होती है जो कि अतीत और अनागत के सौन्दर्य से सर्वथा रहित केवल तात्कालिक ही है।

1- कु.स.5/85 2- इण्ट.व.जी.पृ0 108

3- व.जी. 2/17

इसका दूसरा प्रकार वह होता है जहाँ पर सुमादि आगमों के निवास से सुन्दर प्रत्यय रचना अथवा वाक्यविन्यास में किसी अपूर्व कान्ति को उत्पन्न कर देते हैं।[1] उदाहरणार्थ-

'याचालम्भो न खलु सुभगम्मन्यभावः करोति'[2] इत्यादि में 'सुभगम्मन्यभावः' पद में प्रयुक्त मुमागम सन्निवेश सौन्दर्य को प्रस्तुत करते हुए पदवक्रता को प्रस्तुत करता है।

(छ) वृत्तिवैचित्र्यवक्रता

वैयाकरणों ने पाँच प्रकार की वृत्तियाँ स्वीकार की हैं—कृत्, समास, तद्धित, एकशेष और सनाद्यन्त।[3] कुन्तक के अनुसार जहाँ पर अव्ययीभाव प्रमुख समास, तद्धित तथा सुब्धातु वृत्तियों की अपने सजातीयों की अपेक्षा सौकुमार्य का उत्कर्ष विद्यमान होने के कारण औचित्यानुसारी सौन्दर्य समुल्लसित होता है वहाँ वृत्तिवैचित्र्यवक्रता होती है।[4] उदाहरणार्थ—

'अहो चलते शोभामधिमधु ललानाम्भवरसः।' में अधिमधु शब्द में 'मधौ इति अधिमधु' इस विग्रह में 'अव्ययं विभक्ति-' इत्यादि के द्वारा किया गया अव्ययीभाव समास इस वक्रता को प्रस्तुत करता है। क्यों कि वह 'वसन्त काल में' इस प्रकार समय प्रतिपादन करते हुए भी विषयसप्तमी को प्रतीति कराता है। साथ ही 'नवरसः' शब्द की छाया में लतारूपी नायिकाओं के वसन्त रूपी नायक के विषय में अभिनव अनुराग की शोभा की प्रतीति कराते हुए अपूर्व वैचित्र्य को उद्योतित करता है।

(ज) भाववक्रता

भाव का अर्थ है धात्वर्थ अथवा क्रिया। क्रिया साध्यरूप हुआ करती है। किसी व्यापार को निष्पादित कराना उसका प्रयोजन होता है। वाक्यपदीय का कथन है कि—

'यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते।

आश्रितक्रमरूपत्वात् तत् क्रियेत्यभिधीयते॥'[5] लेकिन कभी कभी कविजन भाव की उस साध्यता का तिरस्कार कर उसे सिद्ध रूप में प्रस्तुत करते हैं क्योंकि किसी भी पदार्थ को साध्य रूप में प्रस्तुत करने पर उसकी पूर्ण निष्पन्नता सिद्ध नहीं होती लेकिन जब उसी को सिद्ध रूप में वर्णित कर दिया जाता है तो उसकी पूर्ण निष्पन्नता सिद्ध हो जाती है

1- व.जी. 2/18

2- मे.दू. 91

3- "कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः।" ल.सि.कौ., पृ. 252.

4- व.जी. 2/19

5- उद्धृत न्यायकोश, पृ. 220.

जिससे वर्ण्यमान पदार्थ का अभीष्ट परिपोष हो जाता है और वाक्य में अपूर्व चमत्कार आ जाता है । अतः जहाँ इस प्रकार की भाव की प्रसिद्ध साध्यता का परित्याग कर उसे सिद्ध रूप में वर्णित कर वैचित्र्य की सृष्टि की जाती है वहाँ भाववैचित्र्यवक्रता होती है।[1] उदाहरणार्थ कवि मदनव्यथा से पीड़ित किसी नायिका का वर्णन करते हुए कहता है —

'केयूरायितमंगदैः परिणतं पाण्डिम्नि गण्डस्थिया '[2]

यहाँ पर 'परिणत कर होना' और 'केयूर की तरह आचरण करना' क्रियायें हैं जो कि साध्य रूप में न कही जा कर 'क्त' प्रत्यय द्वारा सिद्ध रूप में कही गई है । इससे मदनव्यथा का अत्यधिक प्राबल्य अभिव्यक्त होता है अर्थात् अंगद केयूर की तरह आचरण कर रहे हैं ऐसी बात नहीं है वे तो कभी से केयूर बन चुके हैं उसके कपोल कभी से पीले पड़ चुके हैं अतः यहाँ भाव का सिद्ध रूप में वर्णन करने से अपूर्व चमत्कार आ गया है ।अतः भाववैचित्र्य वक्रता है ।

(ख) लिङ्गवैचित्र्यवक्रता

वैयाकरणों के अनुसार शब्द की साधुता के प्रयोजक धर्म को लिङ्ग कहते हैं । और वह धर्म प्राकृतगुणगत अवस्था रूप होता है ।पुंस्त्व नपुंसकत्व आदि उसके विशेष होते हैं । कहने का आशय यह कि सभी के त्रिगुणात्मक प्रकृति का कार्य होने के कारण शब्द भी त्रिगुणात्मक प्रकृति के कार्य हुए, और इसी लिए गुणगत विशेष के कारण शब्दों में भी लिङ्ग-विशेष की कल्पना की गई है । गुणों का यह वैशिष्ट्य इस प्रकार स्वीकार किया गया है विकृत सत्त्वादिक यदि तुल्य रूप में विद्यमान रहते हैं तो नपुंसकत्व होता है, और जब सत्त्व का आधिक्य होता है तो पुंस्त्व होता है और जब रजोगुण का आधिक्य होता है तो स्त्रीत्व होता है । इस प्रकार लिंग यद्यपि शब्द का धर्म होता है जैसा कहा भी जाता है कि यह शब्द पुल्लिंग है,यह स्त्रीलिंग है यह नपुंसक लिंग है इत्यादि । फिर भी अभेदोपचार से उसे अर्थ के विशेषण रूप में भी प्रयुक्त किया जाता है ।[3] उसके तीन प्रकार हैं —

1- व.जी. 2/20

2- उद्धृत वही,पृ0112

3- द्रष्टव्य न्यायकोश ,पृ0 650

'वैयाकरणास्तु-शब्दसाधुता प्रयोजको धर्मः (लिंगम्) स च प्राकृतगुणगतावस्थाविशेषः [illegible] तद्विशेषाः पुंस्त्वनपुंसकत्वादि, इत्याहुः ।तथा द्रष्टव्य वैयाकरणभूषणसार, पृ0224 (श्री पंडित वासुदेव शर्मत्रिपाठी द्वारा सम्पादित-श्री संवत् 1942 मार्ग सु. 10—

'सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्था नपुंसकत्वम्, आधिक्यं पुंस्त्वम्, रजसः स्त्रीत्वम् [illegible] [illegible] तटादिशब्दाः त्रिलिङ्गाः ।'

स्त्रीलिंग, पुल्लिंग और नपुंसकलिंग । शब्दशक्तिप्रकाशिका का कथन है--

'स्त्रीलिंगमथ पुल्लिंगं क्लीबलिंगमिति त्रिधा ।

शब्दसंस्कारसिद्ध्यर्थं भाषया नाम भिद्यते ।।'

जहाँ कहीं कविजन इन लिंगो के विचित्र प्रयोग से काव्य में अपूर्व चमत्कार की सृष्टि कर देते है वहाँ लिङ्ग-वैचित्र्यवक्रता होती है ।कुन्तक ने मुख्य रूप से इसके तीन प्रकार निरूपित किए है :-

(1) सामानाधिकरण्य प्रायः समान लिङ्गो का ही होता है । किन्तु जहाँ कहीं पर काव्य में भिन्न लिंगो के सामानाधिकरण्य से कोई अपूर्व शोभा समुल्लसित होती है वहाँ प्रथम प्रकार की लिङ्ग-वैचित्र्यवक्रता होती है[1] । उदाहरणार्थ --

'इत्यत्र जगति को नु बृहत्प्रमाणकर्णः

करी ननु भवेद् ध्वनितस्य पात्रम् ।।'[2] में प्रयुक्त 'पात्रम्' पद के नपुंसक लिंग और ' कर्णः करी 'के पुल्लिंग के सामानाधिकरण्य से इस वाक्य में एक अपूर्व वैचित्र्य आ गया है ।

(2)कुन्तक का कहना है कि स्त्री नाम ही सुकुमार एवं हृदयहारी होता है-- 'नामैव स्त्रीति पेशलम्'।आचार्य अभिनव ने भी कुन्तक की इस उक्ति का समर्थन किया है 'स्त्रीति नामापि मधुरम् ।'इसका प्रमुख कारण यही है कि स्त्रीलिंग के प्रयोग से काव्य में नायिका व्यवहार की प्रतीति होने से रसादि की योजना के योग्य दूसरी ही विच्छित्ति आ जाती है । अतः जहाँ कहीं पर कविजन दूसरे लिंगो के सम्भव होने पर भी उनकी उपेक्षा करके सौकुमार्य के कारण केवल स्त्री लिंग के प्रयोग से ही अपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि करते है,वहाँ दूसरे प्रकार की लिङ्ग-वैचित्र्यवक्रता होती है[3] । उदाहरणार्थ 'तट' शब्द 'तटः,तटी,तटम्' तीनो ही लिङ्गों में प्रयुक्त हो सकता है लेकिन-- 'यथेयं ग्रीष्मव्यतिकरवती'[4]इत्यादि श्लोक में कवि ने 'तटी तारं ताम्यत्यतिशयमयात्'एक का स्त्रीलिंग का प्रयोग इसी लिए किया है कि उससे भावी नायक के व्यवहार की प्रतीति होती है जिससे रचना में अपूर्व रमणीयता आ गई है ।

(3) लिङ्ग-वैचित्र्यवक्रता का तीसरा प्रकार वह होता है जहाँ पर कवि वर्ण्यमान पदार्थ के औचित्य के अनुसार किसी विशिष्ट लिंग की ही योजना करके काव्य में अपूर्व चमत्कार ला देता है[5]। उदाहरणार्थ कालिदास का यह श्लोक लिया जा सकता है --

---

1-व.जी. 2/21

2- उद्धृत वही,पृ0 35

3- वही, 2/22

4- उद्धृत वही,पृ0 114

5 - व.जी. 2/23

'त्वं रक्षसा भीरु यतोऽपनीता, तन्मार्गमेताः कृपया लता मे ।
अदर्शयन् वक्तुमशक्नुवन्त्यः शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः ॥'[1]

पुष्पक विमान से सीता के साथ लंका से लौटते हुए राम की यह उक्ति है । यहाँ पर कवि ने वृक्षादिकों के द्वारा मार्गप्रदर्शन की बात न कह कर लताओं के द्वारा ही मार्गप्रदर्शन कराया है और यही उचित भी है ।कहाँ भीरु सीता और कहाँ क्रूर राक्षस रावण ? इसको सोचकर साथ ही सीता के अन्वेषण में व्याकुल राम की दशा को देखकर इन लताओं का ही कृपा करना उचित है क्योंकि स्त्रियाँ स्वभाव से ही आर्द्रहृदय हुआ करती है ।

क्रियावैचित्र्यवक्रता :

इस प्रकार कुन्तक ने सुबन्त पद के प्रातिपदिक रूप पूर्वार्द्ध की वक्रताओं का यथाविधि विवेचन किया अब शेष बचता है सुबन्त तथा तिङन्त पदों का धातुरूप पूर्वार्द्ध ।उसकी वक्रता क्रिया के वैचित्र्य पर ही निर्भर होती है । अतः क्रियावैचित्र्य के जितने प्रकार हो सकते है उतने ही इस धातुवक्रता के प्रकार होंगे । कुन्तक ने क्रियावैचित्र्य के पाँच प्रकार निरूपित किए है । इन पाँचों प्रकारों की विचित्रता तभी स्वीकार की जायगी जब कि वे वर्ण्यमान पदार्थ के औचित्य से रमणीय होंगे[2] । वे प्रकार है —

(1) कर्ता की अत्यधिक अन्तरंगता :

क्रियावैचित्र्य को प्रस्तुत करने वाली पहले प्रकार की क्रिया वह होती है जो कि कर्ता की अत्यधिक अन्तरंग होती है[3] । उदाहरणार्थ —

'किं शोभिताऽहमनयेति पिनाकपाणेः
पृष्टस्य पातु परिचुम्बनमुत्तरं वः ।'[4] श्लोक देखा जा सकता है ।

रतिक्रीडा के समय स्वच्छता से मुस्कराती हुई पार्वती जी ने भगवान शंकर के मस्तक से चन्द्रलेखा को खींचकर अपने मस्तक पर लगाकर उनसे पूछा कि क्या इससे मैं अच्छी लग रही हूँ । इस पर शंकर भगवान ने कुछ शब्दों से उत्तर देने के बजाय उन्हें चूम लिया ।अब यहाँ उत्तर रूप कर्ता की जितनी अन्तरंग चुम्बन रूप क्रिया है उतनी अन्य क्रिया नहीं हो सकती ।क्योंकि भगवान शंकर के द्वारा पार्वती की लोकोत्तरशोभा का प्रतिपादन चुम्बन से भिन्न किसी अन्य क्रिया द्वारा सम्भव ही नहीं था।

1- रघुवंश 13/24
2- प्रस्तुतौचित्यचारवः - व.जी. 2/25
3- कर्तुरत्यन्तरंगत्वं - वही, 2/28
4- कु.सं. 5/33

(2) अन्य कर्ताओं से विचित्रता — दूसरे प्रकार की यह क्रिया इस वक्रता को प्रस्तुत करती है जिसके कारण उसका कर्ता अपने सजातीय अन्य कर्ताओं से विचित्र प्रतीत होने लगता है।[1] आशय यह कि जिस क्रिया का सम्पादन अन्य कर्ता नहीं कर सकते थे उसी क्रिया को संपादित करने के कारण कर्ता अन्य सजातीयों से विचित्र हो जाता है । और चूंकि कर्ता का यह वैचित्र्य क्रिया के कारण है अतः इसे भी क्रियावैचित्र्यवक्रता ही स्वीकार किया जायगा ।उदाहरणार्थ आनन्दवर्द्धन का—

'स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः ।

त्रायन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः ।'[2] श्लोक लिया जा सकता है । यहाँ यद्यपि कर्ता नखों के अन्य सजातीय भी छेदन क्रिया में निपुण है लेकिन 'दुखियों की पीड़ा' के छेदन में नहीं । अतः विष्णु के इन नखों का अन्य नखों से वैचित्र्य स्पष्ट समुल्लसित होता है जो कि 'प्रपन्नार्तिच्छेदन'रूप क्रिया के वैचित्र्य के कारण ही है ।

(3) अपने विशेषण की विचित्रता[3]— जहाँ क्रिया का वैचित्र्य उसके विशेषण के कारण समुल्लसित होता है वहाँ तीसरे प्रकार की क्रियावैचित्र्यवक्रता होती है ।उदाहरणार्थ —

अग्राहि मण्डनविधिर्विपरीतभूषा

विन्यासहासितसखीजनमंगनाभिः ।[4] श्लोक का ग्रहण किया जा सकता है । आशय यह कि कामिनियों के चन्द्रोदय हो जाने पर अपने प्रियतमों से मिलने की उतावली में विपरीत आभूषण धारण कर लिये जिससे सखियों को हँसी आ गई । अब यहाँ पर 'मण्डन विधिग्रहण'रूप क्रिया में उसके विशेषण 'विपरीतभूषाविन्यासहासितसखीजनम्' के कारण ही वैचित्र्य आ गया है,जो सहृदयाह्लादकारी है ।

(4)उपचार के कारण मनोज्ञता:

उपचार का अर्थ है सादृश्यादि सम्बन्ध का आश्रयण कर अन्य धर्म का आरोप ।आशय यह कि जहाँ कहीं किसी क्रिया में उपचार के कारण अर्थात् सादृश्यादि सम्बन्ध के बल पर धर्मान्तर का आरोप होने से रमणीयता आ जाती है वहाँ भी क्रियावैचित्र्यवक्रता होती है।[5]

1- 'कर्त्रन्तरविचित्रता,—व.जी. 2/24
2- धन्या0 पृ0 4
3- 'स्वविशेषणवैचित्र्यम्'—व.जी. 2/24
4- उद्धृत वही, पृ0 119
5- 'उपचारमनोज्ञता'- वही2/24

उदाहरणार्थ —

'तरन्तीवांगानि स्खलदमललावण्यजलधौ'[1] का ग्रहण किया जा सकता है । अब यहाँ तैरना चेतन पदार्थ का धर्म है लेकिन सादृश्य वश अंगों के तैरने की उत्प्रेक्षा की गई है । अतः 'तैरने' रूप क्रिया का वैचित्र्य स्पष्ट ही उपचार के कारण सहृदयाह्लादकारी है ।

(5) कर्मादि की संवृत्ति - जहाँ कहीं वर्ण्यमान पदार्थ के औचित्य के अनुसार अतिशय की प्रतीति कराने के लिए क्रिया के कर्ता, कर्म आदि का 'किम्' इत्यादि सर्वनामों के द्वारा संवरण कर दिया जाता है वहाँ भी क्रियावैचित्र्यवक्रता होती है।[2] जैसे-

'नेत्रान्तरे मधुरमर्पयतीव किंचित्'[3] इत्यादि में अर्पण रूप क्रिया के कर्म का 'किमपि' के द्वारा संवरण किया गया है जिससे सातिशयता की प्रतीति होती है।

वस्तुतः क्रियावैचित्र्य के तीसरे, चौथे और पाँचवें प्रकार का क्रमशः विशेषण' उपचार और संवृतिवक्रताओं में कोई विशेष भेद नहीं। क्यों कि इनमें प्राधान्य उन्हीं का है ।और रमणीयता भी उन्हीं के कारण है । अतः कुन्तक द्वारा इनका पृथक् किया गया उल्लेख केवल इसी बात का सूचक है कि सभी वक्रता प्रकार एक दूसरे पर आश्रित है । एक की वक्रता दूसरे की वक्रता की पोषक है।

इस प्रकार कुन्तक ने मुख्यतया इतने ही प्रकार पदपूर्वार्द्धवक्रता के निर्दिष्ट किए हैं। और अन्त में कहा है कि यह लोकिड्.मात्र प्रदर्शन ही किया गया है । इसी के आधार पर अन्य वैचित्र्य लक्ष्य ग्रन्थों में देखे जा सकते हैं ।

(3) पदपरार्द्ध अथवा प्रत्ययवक्रता

अभी तक सुबन्त तथा तिङन्त पदों के पूर्वार्द्धभूत प्रातिपादिक तथा धातु की वक्रताओं का यथासम्भव विवेचन किया गया । अब पद के परार्द्ध अथवा प्रत्यय की वक्रताओं का विवेचन किया जा रहा है।

(क) कालवैचित्र्यवक्रताः अभी पद पूर्वार्द्ध की क्रियावैचित्र्यवक्रता का विवेचन किया गया है अतः क्रिया के बाद अवसरप्राप्त है काल की प्र वक्रता क्यों कि काल क्रिया का परिच्छेदक

1- उद्धृत वही, पृ० 119-120

2- 'कर्मादिसंवृतिः' वही, 2/25

3- उद्धृत वही, पृ० 121

हुआ करता है । जैसा कि वाक्यपदीय का कथन है -[1]

'क्रियाभेदाय कालस्तु संख्या सर्वस्य भेदिका'

वर्तमान, भूत तथा भविष्य इत्यादि जिनके कि वाचक वैयाकरणो द्वारा स्वीकृत लट् इत्यादि प्रत्यय होते है उन्हे काल कहते है । वह अतीत आदि के व्यवहार का कारण होता है[2]। जहाँ पर वर्ण्यमान पदार्थ के औचित्यातिशय को उत्पन्न करने के कारण कोई भी काल अत्यधिक एवं अपूर्व रमणीयता को प्राप्त कर लेता है वहाँ कालवैचित्र्य-वक्रता होती है[3]। इसको उदाहरण रूप मे कुन्तक ने -'समविसमणिव्विसेसा'[4] आदि प्राकृत श्लोक को उद्धृत किया है जिसकी संस्कृतछाया इस प्रकार है -

'समविषमनिर्विशेषाः समन्ततो मन्दमन्दसंचाराः ।

अचिराद् भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामपि दुर्लङ्घ्याः ।।'

यह किसी विरही की उक्ति है । यहाँ कवि ने 'भविष्यंति' मे भविष्यत्काल के वाचक जिस 'लृट्' प्रत्यय का प्रयोग किया है वह एक अपूर्व रमणीयता को प्रस्तुत करता है। क्योंकि उसमे उस विरही की भावी वर्षाकाल की उत्प्रेक्षा मे ही जब ऐसी दशा है तो उसके वर्तमान होने पर क्या दशा होगी ? ऐसी प्रतीति होती है जिससे वक्ता की विरहवेदना की अत्यन्त असह्यता अभिव्यक्त होती है ।

(ख) कारकवक्रता

क्रिया के हेतु को कारक कहते है । काशिका का कथन है -

'कारकशब्दश्च निमित्तपर्यायः। कारकं हेतुरित्यनर्थान्तरम्। कस्य हेतुः ? क्रियायाः।'[5]

इसी बात को भोज ने स्वीकार किया है -'क्रियानिमित्तं कारकम्'[6] किसी भी क्रिया का सम्पादन बिना कारक के सम्भव नही है । इसीलिए उसे क्रिया का हेतु स्वीकार किया गया है। और यह सम्पादन बिना क्रिया के साथ साक्षात् सम्बन्ध हुए सम्भव नही। अतः

1- वाक्यपदीय (2) अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः । ल.सं.पृ0 8

3- औचित्यान्तरतम्येन समयो रमणीयताम्।
   याति यत्र भवत्येषा कालवैचित्र्यवक्रता।। -व.जी. 2/26

4- गा.स.,7/73

5- काशिका-1/4/23

6- शृ.प्र. पृ0 42

जिसका क्रिया के साथ साक्षात् होता है और जो क्रिया का हेतु होता है उसे कारक कहते है । अतः कारक छः प्रकार के माने गए है —कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण[1] ।कुन्तक के अनुसार जहाँ काव्य मे कारको के परिवर्तन (विपर्यास) से लोकोत्तर सौदर्य समुपस्थित होता है वहाँ कारकवक्रता होती है।यह कारको का परिवर्तन मुख्य कारक पर गौणता का आरोप कर गौण रूप मे प्रस्तुत करने से तथा गौण कारक पर मुख्यता का आरोप कर मुख्य रूप मे प्रस्तुत करने से होता है[2] । और इस प्रकार से जो करणभूत अचेतन पदार्थ है उन पर भी स्वातंत्र्य का आरोप कर कर्त्ता रूप मे प्रस्तुत करनेपर यह कारक विपर्यास असामान्य आह्लाद की सृष्टि करता है[3] ।उदाहरणार्थ-

'पाणिः सम्प्रति मे हठात् किमपरं स्प्रष्टुं धनुर्धावति ।'[4]

यहाँ पर मै हाथ से(पाणिना)धनुष ग्रहण करना चाहता हूँ 'ऐसा कहने के बजाय वैचित्र्य की सृष्टि करने के लिए 'मेरा हाथ धनुष ग्रहण करने के लिए हठात् दौड़ रहा है 'ऐसा कहा गया है।इस प्रकार यहाँ करणभूत पाणि के ऊपर जो कर्तृत्व का आरोप किया गया है वह अत्यधिक चमत्कारक हो उठा है ।

(ग)सङ्ख्यावक्रता

एकत्व द्वित्व बहुत्वादि के हेतु को संख्या अथवा वचन कहते है[5] । यह कारक की परिच्छेदक होती है।जहाँ कहीं पर कविजन काव्य मे वैचित्र्य की सृष्टि करने के लिए संख्याओ अथवा वचनो का निर्धारित विपर्यास प्रस्तुत करते है वहाँ सङ्ख्यावक्रता होती है[6]। यहाँ पर संख्याविपर्यास दो प्रकार से सम्भव होता है—एक तो जहाँ पर एकवचन अथवा द्विवचन इत्यादि का प्रयोग न करके भिन्न वचनो का प्रयोग किया जाता है । जैसे —

1- 'कर्ता कर्म च करणं च सम्प्रदानं तथैव च ।
अपादानाधिकरणमित्याहुः कारकाणि षट्।।उद्धृत न्या.को.पृ0 194

2- द्रष्टव्य व.जी. 2/27-28

3- द्रष्टव्य,वही पृ0125

4- महानाटक 4/78

5- एकत्वादिहेतुर्गुणविशेषः सङ्ख्या— न्यायकोश

6- व.जी 2/29

वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ।'[1] में 'अहम्' एकवचन का प्रयोग न कर ताटस्थ्य की प्रतीति कराने के लिए 'वयम्' बहुवचन का प्रयोग किया गया है । और दूसरा संख्या विपर्यास का प्रकार यह है जहाँ वैचित्र्य की प्रतीति कराने के लिए भिन्न वचनों का सामानाधिकरण्य प्रस्तुत कर दिया जाता है।[2] जैसे -

'फुल्लेन्दीवरकाननानि नयने पाणीसरोजाकराः ।'[3] में द्विवचन और बहुवचन का समानाधिकरण्य चमत्कार को प्रस्तुत करता है। क्योंकि इसमें यह प्रतीति होती है उसके दो ही नेत्रों का ऐसा वैभवविलास है कि उसमें दो कमलोंका तो क्या विकसित कमलों केअनेक काननों का भी वैभव टक्कर नहीं ले सकता । इसी प्रकार उसके दो हाथ क्या है कमलों के समूह है । आशय यह कि उसके दो हाथों की तुलना में दो एक कमलों की बात तो दूर रहो असंख्य कमलों के समूह भी उनके आगे बेकार से है इत्यादि ।

(च) पुरुषवक्रता

संस्कृत में पुरुष तीन प्रकार के होते है-प्रथम पुरुष , मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुष। काव्य में कहीं कहीं वैचित्र्य को प्रस्तुत करने के लिए पुरुषों का विपर्यास प्रस्तुत किया जाता है अर्थात् मध्यम अथवा उत्तम पुरुष का प्रयोग न करके वैचित्र्य हेतु उनसे भिन्न प्रथम पुरुष का प्रयोग किया जाता है वहाँ पुरुषवक्रता होती है ।[4] जैसे वटु-वेषधारी भगवान शंकर का पार्वती से यह कथन कि -

'अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने न चेद्रहस्यं प्रतिवक्तुमर्हसि ।'[5] इस वक्रता को प्रस्तुत करता है । यहाँ 'अहं प्रष्टुमनाः' न कह कर जो 'अयं जनः प्रष्टुमनाः' कहा गया है उससे ताटस्थ्य की प्रतीति होती है, जिसके कारण वाक्य में अपूर्व चमत्कार आ गया है ।

1- अभि.शा. 1/24
2- व.जी. पृ0126
3- उद्धृत वही, पृ0126
4- वही, 2/39 तथा वृत्ति
5- कु.सं. 5/44

(ङ०) उपग्रहवक्रता

संस्कृत मे धातुओ का दो पदो मे प्रयोग होता है – आत्मने पद तथा परस्मै पद। कुछ धातुये आत्मने पदी, कुछ परस्मैपदी और कुछ उभयपदी हुआ करती है ।इन्ही धातुओ के लक्षण के अनुसार नियतपदाश्रित प्रयोग को पूर्वाचार्यों ने उपग्रह कहा है।[1] अतः जहाँ कविजन वर्ण्यमान पदार्थ के औचित्य के अनुरुप काव्यसौन्दर्य को प्रस्तुत करनेके लिए दोनो पदो मे से किसी एक पद का नियमपूर्वक प्रयोग करते है वहाँ उपग्रहवक्रता होती है।[2] जैसे –

'तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोः

कर्णान्तमेत्य बिभिदे निबिडोऽपि मुष्टिः।'[3] मे 'बिभिदे'आत्मनेपद का प्रयोग इस वक्रता को प्रस्तुत करता है । राजा दशरथ ने शिकार करते हुए मृगो के ऊपर शरसन्धान किया तो परन्तु कातर हरिणियो के चंचल नेत्रो को देख उन्हे प्रियतमा के प्रौढ हाव भावो का ध्यान आ गया और उनकी कान तक पहुँची हुई मुट्ठी शिथिल हो गई।स्पष्ट ही यहाँ कर्मकर्तृ के कारण आने वाला आत्मनेपद चमत्कारक है। मुट्ठी खोलने की चेष्टा नहीं की गई, वह अपने आप खुल गई।

(च) प्रत्ययविहितप्रत्ययवक्रता

संस्कृत मे तरप्,तमप् आदि कुछ ऐसे प्रत्यय है जो कि तिङ् आदि प्रत्ययो के बाद जुड़कर पद बनाते है । जहाँ पर ऐसे ही प्रत्ययो के प्रयोग से काव्य मे अपूर्व रमणीयता आ जाती है वहाँ प्रत्ययवक्रता होती है[4] । जैसे -

'वन्दे वृथायवि तावाई कवियो वन्देतरां ते पुनः'[5] मे 'वन्देतराम्'पद मे तिङ् प्रत्यय के बाद किया गया 'तरप्'प्रत्यय चमत्कारजनक है। इसी प्रकार उपसर्ग तथा तथा निपात आदि से किए गए प्रत्यय भी इसी वक्रता के अन्तर्गत आते है ।

1- व.जी.पृ० 128

2- वही,2/31

3- रघुवंश,9/58

4- व.जी.2/32

5- उद्धृत वही,पृ०129

उपसर्गनिपातवक्रता

इस प्रकार पद पूर्वार्द्ध तथा पदपरार्द्ध की वक्रताओं का यथासम्भव दिग्दर्शन कराया गया । वस्तुतः ऐसा प्रकृति प्रत्यय का विभाजन केवल नाम और आख्यात पदों में ही सम्भव है क्योंकि वे व्युत्पन्न होते हैं ।लेकिन पद के दो अन्य प्रकार भी हैं – उपसर्ग और निपात ये दोनों पद प्रकार अव्युत्पन्न होने के कारण विभाग-रहित होते हैं इनके अवयव नहीं होते । अतः उनकी वक्रताओं का विवेचन कुन्तक ने अलग से किया है । उनका कहना है कि जहाँ पर उपसर्ग तथा निपात पदों के द्वारा श्रृंगार आदि रसों का प्रकाशन वाक्य के अद्वितीय प्राण रूप में प्रतिष्ठित होता है वहाँ अन्य प्रकार की पदवक्रता होती है[1] । उदाहरणार्थ कालिदास का अधोलिखित श्लोक लिया जा सकता है -

'मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम् ।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु[2] ।।'

यह शकुन्तला के विषय में दुष्यन्त की उक्ति है।वे शकुन्तला से पहली बार मिले थे। प्रथम मिलन पर नायिका के मुखचन्द्र के सौन्दर्य की जो अपूर्व छटा उनके मानसपटल पर अंकित हुई उसका स्मरण कर और अवसर पाकर भी ऐसे सौन्दर्यशाली मुख का चुम्बन न कर सकने का पश्चाताप इसमें प्रयुक्त 'तु' पद के द्वारा द्योतित होता है । जिससे वाक्य में अपूर्व सौन्दर्य आ गया है। अतः यहाँ निपातवक्रता स्पष्ट ही समुल्लसित होती है ।

इस प्रकार कुन्तक ने नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात (चारों प्रकार के पदों की वक्रताओं का यथासम्भव विवेचन) किया यद्यपि पद की ये वक्रताएँ वाक्य के एकदेश की ही जीवितभूत होती हैं फिर भी सम्पूर्णवाक्य के वैचित्र्य को प्रस्तुत करती हैं[2] । कवि व्यापार की वक्रता का एक भी प्रकार सहृदयों को आह्लादित करने में सर्वथा समर्थ होता है ।फिर भी जहाँ वक्रता के अनेक प्रकार परस्पर एक दूसरे की शोभा बढ़ाते हैं वहाँ वे तो एकदमनिर्वचनीय विचित्र कान्ति को पैदा कर देते हैं ।कुन्तक का कथन है —

'परस्परस्य शोभायै बहवः पतिताः क्वचित् ।
प्रकारा जनयन्त्येतां चित्रच्छायामनोहराम्[4] ।।'

1- व.जी. 2/33
2- अभि.शा. 3/78
3- व.जी. पृ0131
4- वही, 2/34

(4) वाक्यवक्रता

अभी तक वर्णों की तथा उनके समूहभूत पदों की वक्रता का विवेचन किया गया। अब पदों के समुदाय भूत वाक्य की वक्रता का विवेचन अवसरप्राप्त है । वाक्य का लक्षण विभिन्न आचार्यों द्वारा भिन्न भिन्न दिया है । आचार्य रुद्रट के अनुसार 'परस्पर अपेक्षित व्यापार वाले तथा एक वस्तु का प्रतिपादन करने वाले शब्दों का अनाकांक्ष अर्थात् आख्यात से युक्त, समुदाय वाक्य होता है[1] । नमिसाधु का कथन है कि बिना आख्यात के शब्द समुदाय साकांक्ष हुआ करता है[2]। नैय्यायिकों ने केवल पदसमूह को वाक्य स्वीकार किया है। 'वाक्यं पदसमूहः'[3]। हां, उन्होंने उसके प्रमाण वाक्य तथा अप्रमाण वाक्य रूप से दो भेद स्वीकार किए हैं । जो वाक्य आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से युक्त होता है वह प्रमाणवाक्य होता है और जो आकांक्षा आदि से रहित होता है वह अप्रमाणवाक्य[4] । साहित्यदर्पणकार ने नैयायिकों के केवल प्रमाणवाक्य को ही वाक्य स्वीकार किया है[5]। राजशेखर के अनुसार विवक्षित अर्थ को गुम्फित करने वाला पदों का सन्दर्भ वाक्य होता है।[6] भोजराज ने एक अर्थ के प्रतिपादक पद समूह को वाक्य कहा है । साथ ही 'आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्' लक्षण में आख्यात ग्रहण को अनुचित बताया है।[7] परन्तु कुन्तक ने वाक्य को पदसमुदायभूत तो स्वीकार किया साथ ही 'आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्' इस लक्षण को भी माना । और कहा कि अव्यय कारक और विशेषण से युक्त आख्यात वाक्य होता है इस प्रकार जिसका ज्ञान होता है उस श्लोकादि की वक्रता को वाक्यवक्रता कहते हैं।[8]

1- रुद्र. काव्या. 2/7

2- 'यस्मादाख्यातं बिना शब्दसमुदायः साकांक्षो भवति –न. सा. पृ०।।

3- त. सं. पृ० 24

4- द्रष्टव्य वही, पृ० 25

5- 'वाक्यं स्याद् योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः ।' सा. द. 2/1

6- पदानामभिविवक्षितार्थग्रन्थनाकरः सन्दर्भो वाक्यम्,–का. मी. पृ० 76

7- 'एकार्थपरः पदसमूहो वाक्यम्'- शृ. प्र. पृ० 101 तथा द्रष्टव्य पृ० 104-105

8- देखें, व. जी., पृ० 40

वाक्यवक्रता के ही प्रसंग में कुन्तक ने पदार्थवक्रता अथवा वस्तुवक्रता का भी विवेचन किया गया है । वस्तुतः वाक्य की वक्रता से आशय वाक्यार्थ की वक्रता से है । और वाक्यार्थ का बोध बिना पदार्थ का बोध हुए सम्भव नहीं है अतः कुन्तक ने वाक्यवक्रता का विवेचन करने के पूर्व सर्वप्रथम पदार्थवक्रता अथवा वस्तुवक्रता का विवेचन प्रस्तुत किया है। अतः यहाँ भी पहले वस्तुवक्रता के ही स्वरूप को स्पष्ट किया जा रहा है ।

वस्तुवक्रता

कुन्तक ने वस्तुवक्रता के दो रूप प्रस्तुत किए हैं—एक सहज और दूसरा आहार्य । वर्णनीय पदार्थ का अपने सातिशयी स्वभाव की महिमा के सौन्दर्य से युक्त रूप में वर्णन पहली वस्तुवक्रता होती है जब कि वह वर्णन केवल किसी वक्रताविशिष्ट शब्द का ही विषय होता है[1]। वक्रता विशिष्ट शब्द द्वारा किया जाने वाला यह वर्णन वाच्य रूप में ही नहीं होता बल्कि व्यंग्य रूप में भी होता है[2]। इस वस्तुवक्रता को प्रस्तुत करते समय कवि बहुत से उपमादि अलंकारों का उपयोग नहीं करता क्यों कि उससे पदार्थ के सौकुमार्यातिशय के म्लान हो जाने का भय रहता है । इसमें सहज सौंदर्य का ही साम्राज्य विराजमान रहता है । यहाँ जैसे वस्तुवर्णन को कुन्तक ने वस्तुवक्रता कहा है उसे ही अन्य आचार्यों ने स्वभावोक्ति अलंकार कहा है । कुन्तक स्वभावोक्ति की अलंकारता का खण्डन कर उसे अलंकार्य सिद्ध करते हैं । इस विषय का विस्तृत विवेचन अगले अध्याय में किया जायगा । इस वस्तुवक्रता के अन्तर्गत किए जाने वाले वर्णनीय पदार्थों में कुन्तक ने स्त्रियों के प्रथमतर नवयौवन के आगमनादि तथा सुकुमार बसन्त आदि ऋतुओं के प्रारम्भ परिपोष और परिसमाप्ति आदि पदार्थों का नामोल्लेख किया है[3]। इन सबके वर्णन में कविजन अधिक रूपकादि अलंकारों की योजना नहीं करते । उसमें पदार्थों का सहज सौकुमार्य ही प्रधान एवं सहृदयाह्लादकारी होता है और इसी लिए कुन्तक ने उसका स्मरण भी वस्तुवक्रता (वस्तु का सौंदर्य) नाम से किया है।

1- 'उदारस्वपरिस्पन्दसुन्दरत्वेन वर्णनम्।
वस्तुनो वक्रशब्दैकगोचरत्वेन वक्रता।।-व.जी. 3/1

2- 'वाच्यत्वेनेति नोक्तं, व्यंग्यत्वेनापि प्रतिपादनसम्भवात्।-वही, पृ० 134

3- वही, पृ० 136

वर्णनीय पदार्थ की दूसरी वक्रता कवि के सहज एवं आहार्य कौशल से सुशोभित होने वाली तथा अभिनव उल्लेख के कारण लोकातिक्रान्तता को प्रस्तुत करने वाले वस्तु के निर्माण में होती है[1] । कहने का अभिप्राय यह है कि कवि जिन पदार्थों का वर्णन करता है वे सत्ताहीन नहीं हुआ करते । उनकी सत्ता रहती है। लेकिन कवि अपने सहज तथा आहार्य कौशल से सत्तामात्र से परिस्फुरित होने वाले पदार्थों में किसी ऐसे अपूर्व अतिशय का आधान कर देता है कि उनकी वास्तविक स्थिति तिरोहित हो जाती है तथा उनके स्वभाव का कोई ऐसा माहात्म्य झलकने लगता है जो कि तत्काल ही नवीन रूप में उल्लिखित सा प्रतीत होने लगता है ।अतः वस्तु सौंदर्य को प्रस्तुत करने के कारण कुन्तक ने उसे भी वस्तुवक्रता कहा है। इस प्रकार वस्तु की वक्रता सहजा और आहार्या भेद से दो प्रकार की होती है । लेकिन जो दूसरे प्रकार की आहार्यावक्रता है वह वर्णनीय पदार्थ की सौन्दर्यरूपा होते हुए भी अलंकार से व्यतिरिक्त कुछ नहीं होती ।बिना अलंकारवैचित्र्य के वह वस्तुवैचित्र्य भलीभांति परिपुष्ट ही नहीं हो सकता।[2]

इस प्रकार कुन्तक ने प्रसंगतः वाक्यवक्रता के अन्तर्गत ही वस्तुवक्रता को प्रस्तुत किया है ।परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वस्तुवक्रता ही वाक्यवक्रता है जैसा कि डा० नगेन्द्र ने स्वीकार किया है ।दोनों का ऐक्य स्थापित करने वाले उनके कथन हैं –
(1) 'इस प्रकार वाक्य की वक्रता सामान्यतः पदार्थ अथवा अर्थ की वक्रता है।'[3]
(2) 'वाक्य अथवा वाच्य अथवा वस्तु की वक्रता सामान्यतः एक ही बात है।'[4]
लेकिन डा० साहब का यह ऐक्य स्थापित करना समीचीन नहीं प्रतीत होता ।क्योंकि वस्तुवक्रता अभिधेय की या पदार्थ अथवा वाच्य की वक्रता है । जब कि वाक्यवक्रता अभिधा, कथन अथवा उक्ति की वक्रता है । यदि डा० साहब वस्तुवक्रता के विवेचन के अनन्तर वाक्यवक्रता की अवतरणिका रूप में कहे गये कुन्तक के वाक्य पर ध्यान देते

1- अपरा सहजाहार्य कविकौशलशालिनी।
   निर्मितिर्नूतनोल्लेखलोकातिक्रान्तगोचरा।। -व.जी. 3/2
2- 'तदेवमाहार्या येयं सा प्रस्तुतविच्छित्तिविधायिन्यलंकारव्यतिरेकेण नान्या काचिदुपपद्यते।
   -व.जी. पृ० 140
3- भा.का. भू.(भाग 1) पृ० 267
4- वही, पृ० 267

तो शायद ऐसा ऐक्य न स्थापित करते । कुन्तक का स्पष्ट कथन है कि शब्द की वक्रता का पहले(द्वितीय उन्मेष में)तथा अर्थ की वक्रता का यहां(तृतीय उन्मेष की प्रथम द्वितीय कारिकाओं में)प्रतिपादनकर अब वाक्य की वक्रता का प्रतिपादन
शब्दस्य पूर्वमभिधेयस्य चेह वक्रतामभिधायेदानीं वाक्यस्य वक्रत्वमभि
करने जा रहे हैं 'तदेवमभिधानुमुपक्रमते।1' तदनन्तर वे वाक्यवक्रता को प्रस्तुत करते हैं। और वाक्यवक्रता का विवेचन समाप्त कर वर्णनीय वस्तु के विषयविभाग के पूर्व वस्तु-वक्रता और वाक्यवक्रता के भेद को वे और भी स्पष्ट कर देते हैं कि वाक्यवक्रता अभिधा की वक्रता है जब कि वस्तुवक्रता अभिधेय की वक्रता है —

'एवमभिधानाभिधेयाभिधानलक्षणस्य काव्योपयोगिनस्त्रितयस्य स्वरूपमुल्लिख्य वर्णनीयस्य वस्तुनो विषयविभागं विदधाति।2

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वाक्यवक्रता और वस्तुवक्रता एक नहीं है । वाक्यवक्रता अलंकार रूप है जब कि वस्तुवक्रता अलंकार्य है । लेकिन डा0 साहब ने इन दोनों में जो ऐक्य स्थापित किया उसी भ्रमवश वाक्यवक्रता के सही स्वरूपविवेचन को प्रस्तुत करने में भी वे असमर्थ रहे। तृतीय उन्मेष की तृतीय और चतुर्थ कारिका में ही कुन्तक ने वाक्यवक्रता के मुख्य स्वरूप का विवेचन किया है परन्तु डा0साहब ने भ्रमवश उसका अपने विवेचन में कहीं उल्लेख तक नहीं किया3 । अस्तु,अब कुन्तकाभिमत वाक्यवक्रता का स्वरूप स्पष्ट किया जा रहा है —

वाक्यवक्रता

कवि की कोई लोकोत्तर निपुणता जिसका कि प्राण कोई अनिर्वचनीय ढंग का कथन होता है, वाक्यवक्रता कहलाती है । वाक्य की यह कवि कौशल रूप वक्रता सुकुमारादि मार्गों में स्थित शब्दों,अर्थों,गुणों एवं अलंकारों के अपूर्व सौंदर्य से पृथक् ही होती है । जिस प्रकार से चित्र में मनोहारिणी आधारभित्ति,रमणीय रेखा विन्यास सुन्दर रंग और कमनीय कान्ति से भिन्न ही समस्त उक्त पदार्थों का जीवितभूत चित्रकार का कौशल प्रधान रूप से प्रकाशित होता है,वैसे ही वाक्य में मार्गादिक से व्यतिरिक्त केवल सहृदयहृदयसंवेद्य समस्त प्रस्तुत पदार्थों की प्राणभूत कवि कौशल रूप वाक्य की

1-व.जी. पृ0 144
2- वही, पृ0 148
3- द्रष्टव्य,भा.का.भू.पृ0 267 वाक्यवक्रताविवेचन

वक्रता उद्भासित होती है[1] । यह कवि का कौशल वस्तु स्वभाव की रमणीयता को प्रस्तुत करने में अथवा श्रृंगारादि रसों के स्वरूप को भलीभांति उपनिबद्ध करने में या कि विविध अलंकारवैचित्र्य की रचना करने में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व होता है बिना इसके इन सब की रचना ही सम्भव नहीं। इसी लिए वह रस, स्वभाव तथा अलंकार सभी का प्राणभूत दिखाई पड़ता है। इसी तरह वर्णों एवं पदों की वक्रता का भी एकमात्रकारण कवि कौशल ही होता है। क्योंकि वस्तु-स्वभाव, अलंकार एवं वक्रता प्रकार आदि का स्वरूप तो कल्प के आरम्भ से ही एक-सा है लेकिन कवि अपने कौशल से उनको ऐसे अभिनव एवं विलक्षण ढंग से प्रस्तुत करता है कि उनका सहृदयों को आह्लादित करने में समर्थ दूसरा ही स्वरूप प्रकाशित हो उठता है । जैसा कि किसी ने कहा है –

'आसंसारं कविपुंगवैः प्रतिदिवसगृहीतसारोऽपि।
अद्याप्यभिन्नमुद्र इव जयति वाचां परिस्पन्दः ।।[2]

इस श्लोक का वाच्यार्थ सुसंगत है कि सृष्टि के आरम्भ से ही श्रेष्ठ कवियों ने अपनी अपनी प्रतिभा के माहात्म्य से प्रतिदिन जिसके सार का ग्रहण किया है लेकिन इतने पर भी जिसकी मुद्रा आज तक बन्द ही है, अभी तक सील टूटी ही नहीं है वह वाणी का परिस्पन्द सर्वोत्कर्षयुक्त है । लेकिन फिर भी इस वाच्यार्थ में कविकौशल का लोकोत्तर विलास स्पष्ट ही परिस्फुरित होता है । क्यों कि कवि ने ऐसा कथन प्रधान रूप से अपने अभिप्राय को ध्वनित करने के लिए ही प्रस्तुत किया है । अर्थात् अन्य महाकवियों ने सृष्टि के प्रारम्भ से ही प्रतिदिन इसके तत्त्व का ग्रहण किया लेकिन वस्तुतः कोई इसके तत्त्व तक पहुंच ही नहीं सके इसी लिए कोई इससे कुछ भी ग्रहण नहीं कर सका अब तो इसका परमार्थ मेरी प्रतिभा से उद्घाटित होगा, अब इसकी सील मैं तोड़ूंगा, इस प्रकार अपने लोकोत्तर व्यापार की सफलता के कारण वाणी का परिस्पन्द सर्वातिशायी है।

1- मार्गस्थ वक्रशब्दार्थगुणालंकारसम्पदः ।
अन्यद् वाचकवक्रत्वं तथाभिहितजीवितम् ।।'
मनोज्ञफलकोल्लेखवर्णच्छायाश्रियः पृथक्।
चित्रस्येव मनोहारि कर्तुः किमपि कौशलम् ।।'- व.जी. 3/3-4

2- उद्धृत व.जी. पृ0 145

इस प्रकार यद्यपि यह कविकौशल रस, स्वभाव, अलंकार सभी का ही प्राणभूत है फिर भी अलंकार का वैचित्र्य इसके अभाव में कथमपि सम्भव नहीं है[1]। आचार्य दण्डी ने भी इस कविकौशल को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया है उन्हों ने काव्य के काल कलाविरोध आदि अनेक दोष उद्भावित किये हैं परन्तु उनका कहना है कि कविकौशल से वे दोष अपनी दोषता का परित्याग कर गुण बन जाते हैं ——

'विरोधः सकलोऽप्येष कदाचित् कविकौशलात् ।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते[2] ।।'

अतः अलंकारवैचित्र्य के पृथक रूप से प्रतिभासित होने पर भी कविकौशल लक्षण वाक्य-वक्रता में ही उसका अन्तर्भाव कुन्तक ने समीचीन समझा है । इसी लिए उन्होंने यह कहा कि -

'वाक्यस्यवक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा ।
यत्रालंकार वर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति[3] ।।'

अलंकारों का विवेचन अगले अध्याय में किया जायगा । यह वाक्यवक्रता किसी अनिर्वचनीय ढंग के कथन में ही होती है जो कि कविकौशल रूप होता है । यह वाक्यवक्रता औचित्य गुण से सुशोभित होने वाले एवं अपने स्वाभाविक महत्त्व से युक्त भी अपने अन्य वक्रता प्रकारों को और भी अधिक उत्तेजित करने में समर्थ होती है । सृष्टि के प्रारम्भ से भी स्थित रस, स्वभाव और अलंकार इसी कविकौशल रूप वाक्यवक्रता से सहृदयों को आह्लादित करने वाली नूतनता को प्राप्त कर लेते हैं[4]। कुन्तक ने इसे समग्रसाहित्य का सर्वस्वकल्प कहा है ।

1- द्रष्टव्य, व.जी. पृ0 146

2- काव्यादर्श - 3/179

3- व.जी. 1/20 तथा उद्धृत वही, पृ0 147

4- 'वक्रतायाः प्रकाराणामौचित्यगुणशालिनाम्।
एतदुत्तेजनायालं स्वस्पन्दमहतामपि ।।
रसस्वभावालंकारा आसंसारमपि स्थिताः।
अनेन नवतां यान्ति तद्विदाह्लाददायिनीम्।।'- व.जी. पृ0 148

(5) प्रकरणवक्रता

वर्णों, पदों एवं वाक्यों की वक्रता का विवेचन करने के अनन्तर वाक्यों के समूहभूत प्रकरण की वक्रताओं का विवेचन अवसर प्राप्त है। प्रकरण से आशय प्रबन्ध के एकदेश से है जो कि वाक्यों का समूहरूप होता है[1]। भोजराज के अनुसार प्रबन्ध का अंगभूत अवांतर वाक्यप्रकरण होता है—

'प्रबन्धांगमवान्तर वाक्यं प्रकरणम् ।'[2]

यह प्रकरणवक्रता सहज एवं आहार्य रमणीयता से मनोहारिणी होती है । जहाँ कवि स्वाभाविक एवं व्युत्पत्युपार्जित सौकुमार्य से युक्त किसी प्रकरण का इस ढंग से विन्यास करता है कि उसका वैचित्र्य सहृदयों को अत्यधिक आह्लादित करने में समर्थ हो जाता है वहाँ प्रकरणवक्रता होती है।[3] कुन्तक ने चतुर्थ उन्मेष के प्रारम्भ में इस वक्रता के नौ प्रकार निरूपित किए हैं । पाण्डुलिपि के अधिक स्वच्छ न होने के कारण डा0 डे उसे सम्पूर्ण रूप से सम्पादित नहीं कर सके, जिससे कुछ कठिनाई सामने आती है, फिर भी तृतीय उन्मेष की अपेक्षा पाठ पर्याप्त स्पष्ट होने के कारण प्रकरणवक्रता के सही स्वरूप का परिचय प्राप्त करने में अधिक कठिनाई नहीं है । ये प्रकरणवक्रता प्रकार अधोलिखित हैं —

(1) प्रकरणवक्रता के प्रथम प्रकार को प्रस्तुत करने वाली वक्रोक्तिजीवित की कारिकायें अधोलिखित हैं-

'यत्र निर्यन्त्रणोत्साहपरिस्पन्दोपशोभिनी ।
व्यावृत्तिर्व्यवहर्तॄणां स्वाशयोल्लेखशालिनी।
अप्यामूलादनाशंक्य समुत्थाने मनोरथे ।
[illegible] काप्युन्मीलति निःसीमा सा प्रबन्धांशवक्रता।'[4]

इस कठिन कारिका ने डा0 नगेन्द्र तथा तत्सम्पादित हिन्दी वक्रोक्तिजीवित के व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर के समक्ष बड़ी कठिनता प्रस्तुत कर दी है । उन लोगों ने इसका जो अर्थ प्रस्तुत किया है वह समझ में आ सकने वाला नहीं । डा0 साहब ने तो स्पष्ट कहा है कि — 'यह वाक्य अधिक स्वच्छ नहीं है, वृत्ति के अन्धान्धय से यह और भी उलझ जाता है।'

1- द्रष्टव्य, व.जी.पृ0 4।
2- शृ.प्र.पृ0 116
3- द्रष्टव्य, व. जी. 1/2।
4- व.जी. 4/1-2

इत्यादि ।लेकिन इस कारिका एवं वृत्ति के विवेचन मे जो प्रकरणवक्रता का स्वरूप हमारी समझ मे आया है वह कुछ इस प्रकार है । प्रारम्भ मे ही जिसके उत्थान की सम्भावना नही की जा सकती है ऐसे मनोरथ के विद्यमान होने पर जहाँ व्यवहर्ता नायक,अमात्य आदि के अपने अद्भुत आशय मे सुशोभित होने वाला एवं अबाध उत्साह के स्फुरण से रमणीय उनका कोई अनिर्वचनीय व्यापार समुल्लसित होता है वहाँ पहले प्रकार की प्रकरणवक्रता होती है । इसके उदाहरण रूप मे कुन्तक ने रघुवंश पंचम सर्ग मे रघु और कौत्स के प्रकरण का उल्लेख किया है । रघु ने अपना समस्त कोष विश्वजित् यज्ञ मे दान कर दिया था कि उसी समय वरतन्तु के शिष्य कौत्स अपनी गुरु दक्षिणा चुकाने के निमित्त चौदह कोटि मुद्राये मांगने के लिए पहुँचते है । रघु के द्वारा मिट्टी के पात्र मे किए गए अपने सत्कार को देख वे बिना कुछ मांगे ही चले जाना चाहते है कि रघु उनसे विवश कर उनका मनोरथ जान लेते है और उन्हे कुछ दिन के लिए अपने अग्निगृह मे टिकाते है । एक याचक वह भी गुरु के लिए आये और राजा रघु के पास से चला जाये कितनी लज्जा की बात है । राजा रघु का चौदह कोटि मुद्राओ के प्रबन्ध करने का मनोरथ प्रारम्भ से असम्भव ही दिखाई पड़ता है क्यो कि उनके पास सिवा मिट्टी के बर्तनो के और कुछ भी तो शेष नही था । लेकिन यही पर उनके अबाध उत्साह का उत्कर्ष सामने आता है जब वे कुबेर को एक साधारण सामन्त सा समझ कर उन पर चढ़ाई करने के लिए रात मे रथ की तैयारी का आदेश देते है , और इनके आक्रमण के भय से कुबेर आक्रमण के पूर्व ही रात मे मुद्राओ को इनके रत्न-भाण्डागार मे वृष्टि करते है । इनके चरित्र का और भी उत्कर्ष तब सामने आता है जब ये सारा का सारा धन कौत्स को देने के लिए तत्पर हो जाते है । इस प्रकार यह तो रघु के चरित्र का उत्कर्ष रहा । कौत्स का चरित्र कम प्रभावशाली नही है। जिस समय रघु के सत्कार को देखकर उन्हे यह ज्ञान हो जाता है कि उनके पास कुछ भी अवशिष्ट नही है वे उन्हे आशीर्वाद दे चलने को प्रस्तुत होते है और अपना मनोरथ नही बताते । फिर उनके चरित्र का और भी उत्कर्ष उस समय सामने आता है जब वे रघु के प्रदान करने पर भी चौदह कोटि से अधिक मुद्राये नही ग्रहण करते । महाकवि कालिदास ने इस श्लोक द्वारा दोनो के महनीय चरित्र पर प्रकाश डाला है —

'जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्वौ[1] ।
गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ।।'

1- रघु 5/3।

(2) प्रकरण की दूसरी वक्रता कुन्तक ने उत्पाद्य लावण्य के आधार पर स्वीकार की है । कवि इतिहास में वर्णित कथा को ग्रहण कर भी उसमें कुछ ऐसे प्रकरणों की उद्भावना करता है जिसमें कि वे प्रकरण पराकाष्ठा को पहुँचे हुए शृंगारादि रसों के पूर्ण होने के कारण सम्पूर्ण प्रबन्ध के प्राणभूत प्रतीत होते हैं[1] । कवि का यह उत्पाद्य लावण्य दो प्रकार का होता है[2]— पहला जो कि मूल कथा में विद्यमान ही नहीं रहता कवि नवीन रूप में उसकी उद्भावना करता है । जैसे अभिज्ञान शाकुन्तल में प्रयुक्त दुर्वासा के शाप का प्रकरण । यह महाभारत में विद्यमान ही नहीं है । कालिदास ने औचित्य के अनुरूप इसकी स्वयं ही उद्भावना की है । कालिदास की यह उद्भावना सम्पूर्ण प्रबन्ध के प्राणरूप में परिलक्षित होती है । और इसी के कारण दुष्यन्तगत विप्रलम्भ शृंगार अत्यधिक परिपुष्ट होता है । उत्पाद्यलावण्य का दूसरा प्रकार वह होता है जहाँ कि कवि मूल कथा में विद्यमान प्रकरण को ही औचित्य हीन समझ कर सहृदयों को आह्लादित करने के लिए दूसरे ढंग से प्रस्तुत कर देता है । उदाहरण रूप में कुन्तक ने उदात्तराघव के 'मारीचवध' प्रकरण को उद्धृत किया है।'वाल्मीकिरामायण' में मायामृग मारीच का अनुसरण करने वाले राम के करुण आक्रन्दन को सुनकर व्याकुल हृदय सीता ने अपने प्राणों की परवाह न कर अपने पति की प्राणरक्षा के लिए लक्ष्मण को उनकी भर्त्सना कर के भेजा है । जो कि अत्यन्त अनुचित है ।क्यों कि अनुचरभूत लक्ष्मण के विद्यमान रहने पर प्रधान राम का मायामृग का अनुसरण करना ही पहले तो ठीक नहीं । फिर जिनके चरित्र का वर्णन सर्वातिशायी रूप में किया जा रहा है उन राम के कुपित प्राणों की अपने से छोटे भाई के द्वारा परित्राण की सम्भावना और भी अनौचित्य को प्रस्तुत करती है । अतः 'उदात्त राघव' में कवि ने उक्त प्रकरण के अनौचित्य को ध्यान में रखकर बड़ा ही कौशलपूर्ण परिवर्तन कर दिया है । मायामृग मारीच को मारने के लिए लक्ष्मण जाते हैं और उनके प्राणपरित्राण के लिए भयभीत हो सीता राम को भेज देती है । यही उचित भी है ।इससे सहृदयों को अपूर्व आनन्द की उपलब्धि होती है।

1- द्रष्टव्य, व.जी. 4/5-6

2- द्रष्टव्य, वही, पृ0225

(3) प्रकरण की तीसरी वक्रता कुन्तक ने प्रधान कार्य सम्बन्धित प्रकरणों के उपकार्योपकारक भाव की महिमा के विद्यमान होने पर स्वीकार किया है। अर्थात् कोई कोई असामान्य समुल्लेख वाली प्रतिभा से प्रतिभासित होने वाले कवि अपने प्रबन्ध में ऐसे प्रकरणों की उद्भावना कर देते हैं जो कि प्रधान फल के प्रति उपकारक सिद्ध हो अपूर्व प्रकरण वक्रता को प्रस्तुत करते हैं[1]। उदाहरणार्थ उत्तररामचरित में चित्र दर्शन के प्रसंग में निर्व्याज विजयशील जृम्भकास्त्रों को लक्ष्य में रखकर राम का यह कथन— कि 'अब ये जृम्भकास्त्र सर्वथा तुम्हारी सन्तान को प्राप्त होंगे'[2] आगे चलकर पंचम अंक में जिस समय चन्द्रकेतु और उसकी सेना का लव के साथ घोर संग्राम होता है तो लव द्वारा जृम्भकास्त्र व्यापार के प्रयोग से प्रधान फल का उपकारक सिद्ध होता है।

(4) कुन्तक ने चतुर्थ प्रकरणवक्रता अभिकल एवं अभिनव ढंग से उल्लिखित शृंगारादि रसों एवं रूपकादि अलंकारों से शोभायमान होने वाले एक ही वस्तु स्वरूप के पुनः पुनः प्रत्येक प्रकरण में कवि की प्रौढप्रतिभा से योजित होने पर स्वीकार की है[3]। प्रायः प्रबन्धों में देखा जाता है कि कवि जन चन्द्रोदय आदि प्रकरणों को वर्ण्यमान कथा संविधान के अनुरूप बारबार विभिन्न प्रकरणों के रूप में उपनिबद्ध करते हैं लेकिन अपनी प्रौढ प्रतिभा से वे उसमें ऐसे ऐसे रसों एवं अलंकारों की योजना कर देते हैं कि वे प्रकरण पुनरुक्त प्रतीत न होकर अभिनव भंगिमा से एक अपूर्व वक्रता की सृष्टि कर देते हैं। इसके उदाहरण रूप में कुन्तक ने रघुवंश से मृगयाप्रकरण को उद्धृत किया है।

(5) पाँचवें प्रकार की प्रकरणवक्रता कुन्तक ने उन जलक्रीडा आदि प्रकरणों की स्वीकार की है जिनका उपनिबन्धन कविजन महाकाव्यादि के सौन्दर्य को प्रस्तुत करने के लिए करते हैं साथ ही जो कथा के वैचित्र्य को प्रस्तुत करने में समर्थ होते हैं[4]। आशय यह कि कवि जन महाकाव्यादि में जलक्रीडा तथा कुसुमचयन आदि का ऐसा वर्णन करते हैं जो प्रस्तुत संविधानक के फल के अनुरूप अथवा उसकी प्राप्ति में सहायक होता है।

1- व.जी. 4/5-6

2- सर्वथेदानीं त्वत्प्रसूतिमुपस्थास्यन्ति। उ.रा.च.,पृ0।1

3- द्रष्टव्य व.जी. 4/7-8

4- द्रष्टव्य व.जी 4/9 तथा वृत्ति

उदाहरण रूप में कुन्तक ने रघुवंश के जलक्रीडावर्णन को प्रस्तुत किया है । राजा कुश जलक्रीडा में व्यस्त है कि उनका दिव्य आभरण सरयू नदी में गिर जाता है जिसे कुमुद नामक नाग छिपा लेता है ।परन्तु जब क्रुद्ध हो कुश उसे दण्ड देने के लिए धनुष उठाते हैं तो वह कुमुद हाथ जोडकर उनके सामने उपस्थित होता है और यह बताकर कि उसकी छोटी बहन कुमुद्वती ने गेंद खेलते समय इसे नीचे गिरता पाया और खेलने के लिए ले लिया । अब आप इसे ग्रहण करें और जो मेरी बहन ने अपराध किया है उसका प्रायश्चित करने के लिए उसे आप अपने चरणों की सेवा करने का अवसर प्रदान कीजिए। इस प्रकार यह उनकी जलक्रीडा का प्रकरण कथा के अनुरूप होने के कारण अपूर्व वैचित्र्य को उत्पन्न करता हुआ प्रकरणवक्रता को प्रस्तुत करता है ।

(6) छठवें प्रकार की प्रकरणवक्रता कुन्तक ने उस प्रकरण में स्वीकार किया है जो अंगीरस के प्रवाह की अलौकिक कसौटी सा होता है ।आशय यह कि अंगीरस की जैसी निष्पत्ति प्रबन्ध के उस प्रकरण से होती है वैसी उस प्रकरण के पहले तथा बाद में अन्य प्रकरणों से नहीं होती ।[1] उदाहरण रूप में कुन्तक ने विक्रमोर्वशीय के 'उन्मत्तांक'नामक चतुर्थ अंक को प्रस्तुत किया है ।उसका अंगीरस विप्रलंभ श्रृंगार है।विप्रलंभ श्रृंगार का जैसा परिपोष इस चतुर्थ अंक में हुआ है वैसा अन्य किसी अंक में नहीं हुआ । विक्रमोर्वशीय के अतिरिक्त कुन्तक ने किरातार्जुनीय के 'बाहुयुद्ध'प्रकरण को भी इसी वक्रता के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है :-

'यथा वा किरातार्जुनीये बाहुयुद्धप्रकरणम्[2] '

यहाँ अंगी वीर रस है । उसका जैसा परिपोष उस प्रकरण में हुआ है वैसा उसके पहले अथवा बाद के प्रकरणों में नहीं । परन्तु आश्चर्य की बात है कि डा० नगेन्द्र ने अपने विवेचन में प्रकरणवक्रता के इस प्रकार को बिल्कुल भुला दिया है ।साथ ही इस 'बाहुयुद्ध प्रकरण'को इसके पूर्वविवेचित जलक्रीडा आदि प्रकरणों की वक्रता के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है ।जो सर्वथा असमीचीन है ।[3]

(7) सातवें प्रकार की प्रकरणवक्रता वहाँ होती है जहाँ प्रधानवस्तु की सिद्धि के लिए उसी को प्रसिद्ध अन्यवस्तु की विचित्रता अभिनव प्रकाशन की भंगिमा से समुल्लसित होती

1- द्रष्टव्य, व.जी. 4/10

2- व. जी. पृ0 233

3- देखे भा.का भू.भाग2,पृ0280-8।

है[1]। इसके उदाहरण रूप मे कुन्तक ने मुद्राराक्षस के षष्ठ अंक के चाणक्य द्वारा नियुक्त पुरुष की आत्महत्या के प्रकरण को उद्धृत किया है। उसमे प्रधान वस्तु की सिद्धि के लिए कवि ने इस पुरुष की आत्महत्या के प्रकरण को प्रस्तुत किया है। जब उस पुरुष के आत्महत्या के प्रयास के विषय मे बातचीत करने पर अमात्यराक्षस को यह पता चलता है कि वह अपने मित्र विष्णुदास की मृत्यु के शोक मे आत्महत्या करने जा रहा है जब कि विष्णुदास ने आग मे जल कर अपनी आत्महत्या का निश्चय अपने-अपने मित्र चन्दनदास की मृत्यु की आज्ञा सुन कर किया था और चन्दनदास को मृत्यु दण्ड की आज्ञा इसलिए हुई थी कि उसने अमात्य राक्षस के स्वजनो को राज्य को सौंपने मे अस्वीकार कर दिया था। और उस पुरुष से ऐसी बात जानकर राक्षस अपने को चाणक्य को समर्पित कर देता है। इस प्रकार इस पुरुष के प्रकरण से प्रधानवस्तु की सिद्धि होती है। अतः यह प्रकरणवक्रता को प्रस्तुत करता है।

(8) आठवें प्रकार की प्रकरणवक्रता कुन्तक ने गर्भांक के प्रस्तुत करने मे स्वीकार किया है। कवि कौशल से सुशोभित होने वाले किसी किसी नाटक मे सामाजिको को आनंदित करने मे निपुण नट लोग ही सामाजिकों की भूमिका धारण करते है नट रूप मे अन्य नर्तकों को प्रस्तुत कर किसी अन्य रूपक रूप प्रकरण के द्वारा जो कि सम्पूर्ण रूपक का प्राणभूत होता है, किसी अपूर्व वक्रता को प्रस्तुत करते हैं।[2] इसके उदाहरण रूप मे कुन्तक ने बालरामायण के तथा उत्तररामचरित के गर्भांकों को प्रस्तुत किया है।[3]

(9) नवे प्रकार की प्रकरणवक्रता कुन्तक ने मुख प्रतिमुख आदि सन्धियों के संविधान से मनोहर प्रकरणो के उस सन्निवेश मे माना है जिसमे कि पूर्व प्रकरण की अपने उत्तर उत्तर प्रकरण के साथ सम्यक् संगति होती है। और जो किसी प्रकार के अनुचित मार्ग के ग्रहण से कदर्थित नही होता[4]। इसके उदाहरणरूप मे कुन्तक ने 'पुष्पदूषितक-प्रकरण'

1- व.जी. 4/11

2- वही, 4/12-13

3- कुन्तक ने लिखा है, जैसा कि वक्रोक्तिजीवित मे उपलब्ध होता है- 'यथा बालरामायणे चतुर्थेऽङ्के लङ्केश्वरानुकारी नटः प्रहस्तानुकारिणा नटेनानुवर्त्यमानः —

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने।
नमः शृङ्गारबीजाय तस्मै कुसुमधन्वने ॥' परन्तु यह श्लोक तथा गर्भांक बालरामायण के तृतीय अंक मे उपलब्ध होता है। उक्त श्लोक तृतीय अंक का पचासवाँ श्लोक है। सम्भव है कि वक्रोक्ति जीवितकार के समय मे यह चतुर्थ अंक मे ही रहा हो। अथवा पाण्डुलिपि मे भूल से तृतीयेऽङ्के के स्थान पर चतुर्थेऽङ्के लिख दिया गया हो।

4- व.जी. 4/14-15

और 'कुमारसम्भव'को उद्धृत किया है ।कुम्भदूषितक तो अप्राप्य है । कुमारसम्भव मे इस वक्रता का निर्देश उन्हो ने इस प्रकार किया है।जैसे कुमारसम्भव मे पार्वती के प्रथम तारुण्यावतार का वर्णन पार्वती द्वारा शिव जी को सेवा, तारकासुर के द्वारा देवो के पराभव रूपी दुस्तर सागर के पार करने के कारण 'भूत शिवपुत्र के सेनापतित्व का ब्रह्मा जी का उपदेश,इन्द्र के कहने से पार्वती के सौन्दर्य बल से शिव पर प्रहार करते समय शिव के तृतीय नेत्र की अग्नि से बसन्त के सखा कामदेव के भस्म कर दिए जाने के दुःख मे विवश रति का विलाप,विवशता से व्याकुल हृदय पार्वती की तपश्चर्या पार्वती के निर्गत यौवन से मुग्ध हृदय शंकर का निवेश करना और अडिग देव विवाह कर लेना,ये सभी प्रकरण पौर्वापर्य मे पर्यवसित होने वाले सुन्दर संविधान से मनोहर होकर सौन्दर्य की पराकाष्ठा को पहुंच जाते है[1] । और अपूर्ववक्रता को प्रस्तुत करते है। कुन्तक के इस कुमारसम्भव की प्रकरणवक्रता के विवेचन मे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि उनके समय तक कुमारसम्भव के आठसर्ग ही समुपलब्ध थे । अथवा आठ सर्ग तक ही वे कालिदास प्रणीत मानते थे ।शेष सर्ग बाद के जोड़े हुए है ।

(6)प्रबन्धवक्रता

इस प्रकार प्रकरणवक्रता का विवेचन कर कुन्तक कवि व्यापार की चरमवक्रता प्रबन्धवक्रता का विवेचन प्रस्तुत करते है । प्रबन्धवक्रता के विवेचन करते समय ही ग्रन्थ समाप्त हो जाता है और पाण्डुलिपि मे लिखा मिलता है कि 'असमाप्तोऽयं ग्रन्थः।'[2] परन्तु जैसा प्रबन्धवक्रता का विवेचन समुपलब्ध है उससे ऐसी प्रतीति होती है कि या तो ग्रन्थ समाप्त हो चुका है अथवा दो चार कारिकाये ही और अवशिष्ट रही होगी।प्रबन्ध से आशय सम्पूर्ण महाकाव्य आदि तथा नाटकादि से है । प्रबन्ध प्रकरणो का समुदायरूप होता है । प्रबन्ध की वक्रता भी प्रकरण की वक्रता की भांति सहज और आहार्य सौकुमार्य से रमणीय होती है । इसके कुन्तक द्वारा वर्णित समुपलब्धप्रकार अधोलिखित है —

1-द्रष्टव्य, व.जी पृ0 237

2- व.जी. पृ0 246

(1)कविजन प्रायः किसी महाकाव्य अथवा नाटकादि का प्रणयन किसी न किसी इतिवृत्त के आधार पर करते है । जहाँ कवि इतिवृत्त मे दूसरे प्रकार से वर्णित रस सम्पत्ति की उपेक्षा कर उसी कथाशरीर मे प्रारम्भ से ही वाच्य वाचक की रचना सम्पत्ति को उन्मीलित कर सहृदयो की आनन्दनिष्पत्ति के लिए दूसरे रमणीय रस के द्वारा निर्वाह करता है वहाँ पहली प्रबन्धवक्रता होती है[1] । इसके उदाहरण रूप मे कुन्तक ने 'उत्तररामचरित' तथा 'वेणीसंहार' नाटको को उद्धृत किया है । उत्तररामचरित का आधार रामायण तथा वेणीसंहार का आधार महाभारत है । कुन्तक ने रामायण तथा महाभारत दोनो मे अपने पूर्वाचार्यों के मत मे शान्त रस का अंगीरस के रूप मे उल्लेख किया है–

'रामायणमहाभारतयोश्च शान्ताङ्गित्वं पूर्वसूरिभिरेव निरूपितम्।'[2]

ये पूर्व विद्वान् कौन थे ? कुछ निश्चयपूर्वक कहा नही जा सकता । जहाँ तक आचार्य आनन्दवर्धन की बात है उन्हो ने महाभारत का अंगी रस तो शान्त को अवश्य माना है परन्तु रामायण का अंगीरस उन्हो ने करुण को स्वीकार किया है । सम्भव है कि कुन्तक ने 'करुणशान्ताङ्गित्वम्' पाठ दिया हो जिसका 'करुण' शब्द लेखक की गड़बड़ी से पाण्डुलिपि मे छूट गया हो । आनन्दवर्धन के कथन है —

(क) 'रामायणे ~~हि करुणे~~ हि करुणो रसः स्वयमादिकविनासूत्रितः —'शोकः श्लोकत्वमागतः' इत्येवंवादिना। निर्व्यूढश्च स एव सीतात्यन्तवियोगपर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपरचयता।'[3]

(ख) 'महाभारतेऽपि शास्त्ररूपे काव्यच्छायान्वयिनि वृष्णिपाण्डवविरसावसानवैमनस्यदायिनीं समाप्तिमुपनिबध्नता महामुनिना वैराग्यजननतात्पर्यं प्राधान्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः शान्तो रसश्च मुख्यतया विवक्षाविषयत्वेन सूचितः।'[4]

यदि सहृदय शिरोमणि आनन्दवर्धन के विवेचन को ही स्वीकार किया जाय तो भी कोई कठिनाई नहीं क्यो कि जहाँ रामायण का अंगीरस करुण है वहाँ उत्तररामचरित का अंगीरस करुण न होकर करुणविप्रलम्भशृंगार है और जहाँ महाभारत का अंगी रस शान्त है वहाँ वेणीसंहार का अंगीरस वीर है।

1- प्रबन्ध, वही 4/16-17
2- वही, पृ0 239
3- ध्वन्या0, पृ0 529-530
4- वही, पृ0 530

(2) दूसरे प्रकार की प्रबन्धवक्रता कुन्तक ने वहाँ स्वीकार की है जहाँ औचित्य मार्ग मे प्रवीण महाकवि पहले इतिहासोदाहृत सम्पूर्ण कथा को प्रारम्भ तो करते है लेकिन उसका पूरा निर्वाह न कर केवल कथा के उसी अंश पर प्रबन्ध की समाप्ति कर देते है जहाँ कि समस्त त्रिलोकी के चमत्कार को उत्पन्न करने वाले नायक के अद्वितीय यशःप्रकर्ष का उदय होता है। वे यह समझते है कि यदि इसके आगे कथा को बढ़ाया गया तो काव्य मे नीरसता का संचार होगा जो किसी भी कवि अथवा सहृदय को अभीष्ट नही होता । इसके उदाहरण रूप मे कुन्तक ने किरातार्जुनीय महाकाव्य को उद्धृत किया है । उसमे महाकवि भारवि ने प्रारम्भ तो इस ढंग से किया जिससे लगता है कि वे दुर्योधन के निधनपर्यन्त धर्मराज युधिष्ठिर की अभ्युदयदायिनी सम्पूर्ण कथा का वर्णन करना चाहते थे ।कवि द्वारा किए गए ये निर्देश अधोलिखित श्लोको मे देखे जा सकते है—

(क) द्विषतां निधानाय विधातुमिच्छतो
 रहस्यनुज्ञामधिगम्य भूभृतः[2] ।

(ख) रिपुतिमिरमुदस्योदीयमानं दिनादौ
 दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु भूयः[3] ।।

तथा(ग) इते दुरापं समवाप्य वीर्यमुन्मूलितारः कपिकेतनेन[4]। 'इत्यादि ' लेकिन कवि ने सम्पूर्ण कथा को उपनिबद्ध न कर पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति तक का ही कथानक अपने काव्य मे प्रस्तुत किया है, क्यो कि उतने ही कथानक मे नायक अर्जुन के अद्भुत विक्रमशाली चरित्र का सर्वोत्कर्ष विद्यमान है ।क्योकि इतने मे ही अर्जुन की घोर तपस्या ,किरातवेशधारी शिव के साथ अद्भुत संग्राम और अर्जुन के महनीय पराक्रम से प्रसन्न हो शिव का पाशुपत अस्त्र-प्रदान करना वर्णित है ।

1- द्रष्टव्य, व.जी.4/ 18-19

2- किरात0 1/3

3- वही', 1/46

4- वही, 3/22

(3) तीसरे प्रकार की प्रबन्धवक्रता कुन्तक ने उस प्रबन्ध में स्वीकार की है जहाँकि आधिकारिक कथावस्तु का तिरोधान कर देने वाले कार्यान्तर के विघ्न से कथा विच्छिन्न और नीरस होकर भी उसी कार्यान्तर के द्वारा ही मुख्य फल को निष्पादित करा देती है जिससे काव्य में निर्बाध रस की निष्पत्ति हो जाती है।[1] इसके उदाहरण रूप में कुन्तक ने शि- शिशुपालवध महाकाव्य को उद्धृत किया है । पं० बलदेवउपाध्याय ने तो इस वक्रता प्रकार का विवेचन किया ही नहीं ।[2] डा० नगेन्द्र ने इसका विवेचन किया है और लिखा है कि — 'शिशुपालवध महाभारत के युधिष्ठिर राजसूय प्रकरण की घटना है । इस प्रकरण का प्रधान कार्य है यज्ञ की पूर्ति—किन्तु महाकवि माघ ने शिशुपालवध की घटनाओं को अत्यन्त उत्कर्ष प्रदान कर कथा को इस कौशल के साथ उच्छिन्न कर दिया है कि यज्ञ के फल की सिद्धि नहीं हो जाती है ।[3]' डा० साहब का यह कथन समीचीन नहीं प्रतीत होता । कुन्तक यहाँ महाभारत की वक्रता का प्रदर्शन तो कर नहीं रहे हैं जिससे कि प्रधान कार्य राजसूय यज्ञ को माना जाय। यहाँ शिशुपालवध महाकाव्य में तो प्रधान कार्य शिशुपाल का वध ही है । क्यों कि प्रबन्ध का प्रारम्भ शिशुपालवध की ही कथा को प्रस्तुत करता है । राजसूय यज्ञ की नहीं।नारद कृष्ण के पास शिशुपाल का वध करने का इन्द्र का सन्देश लेकर उपस्थित होते हैं युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का नहीं है ।[4] इस प्रकार प्रधान अथवा आधिकारिक कथा का फल शिशुपाल का वध ही है । लेकिन यह कथा द्वितीय सर्ग की कृष्ण, बलराम और उद्धव की मंत्रणा के साथ विच्छिन्न हो जाती है । प्रधान कथा के अन्तराय रूप में युधिष्ठिर की राजसूययज्ञकथा सामने आती है और उसी यज्ञ में सम्मिलित होने की कथा का विस्तारपूर्वक द्वितीय सर्ग से लेकर चतुर्दशसर्ग पर्यन्त वर्णन है । चतुर्दश सर्ग में कृष्ण की पूजा होती है जिससे शिशुपाल रुष्ट होता है और 15 वें सर्ग में कृष्ण, भीष्म, युधिष्ठिर आदि को खूब खरी खोटी सुनाता है ।16वें सर्ग में कृष्ण के पास शिशुपाल का दूत आता है जो यह सन्देश सुनाता है कि या तो कृष्ण शिशुपाल की अधीनता स्वीकार करें अथवा लड़ने को तैयार हों । दूत की

1- द्रष्टव्य, व.जी. 4/20-21

2- देखें, भा.सा.शा. भाग 2, पृ० 422-24

3- भा.का.भू. भाग 2, पृ० 285

4- द्रष्टव्य, शि.पु.व. सर्ग 1

बात का उत्तर सात्यकि देता है । सत्रहवें अठारहवें सर्ग में सेना की तैयारी होती है । उन्नीसवें बीसवें सर्ग में युद्ध होता है और प्रबन्ध की समाप्ति शिशुपाल के वध के साथ होती है । इस प्रकार प्रधान कथा का फल उसकी विघ्नभूत अवान्तर राजसूय यज्ञ कथा के द्वारा ही सम्पन्न हो जाता है । यही वक्रता है । वस्तुतः कुन्तक ने इस वक्रता का शिशुपालवध में कैसे निरूपण किया था यह तो ग्रन्थ से पता चला नहीं इसी लिए सम्भवतः डा०गाडव से इस वक्रता के विवेचन करने में भूल हो गई ।

(4) चौथे प्रकार की प्रबन्धवक्रता कुन्तक ने उस प्रबन्ध में स्वीकार की है जिसमें किसी एक फल की प्राप्ति के लिए उद्यत नायक को उसी फल के सदृश अन्य फलों की भी प्राप्ति हो जाती है और जिसके कारण वह प्रभूत यशःश्री का पात्र बनता है ।[1] इसके उदाहरण रूप में कुन्तक ने सम्भवतः 'नागानन्द' नाटक को उद्धृत किया था।[2] नागानन्द का नायक जीमूतवाहन मुख्यतः अपने वृद्ध पिता जीमूतकेतु की सेवा के लिए वन में प्रस्थान करता है । अतः उसे पितृसेवा रूप फल का लाभ तो होता ही है । साथ ही वहीं उसका सिद्धराजपुत्री मलयवती से प्रेम और विवाह भी हो जाता है । इस प्रकार उसे दूसरे फल की भी प्राप्ति हो जाती है । इतना ही नहीं नाग-शङ्खचूड की माता को रोते हुए देखकर शङ्खचूड के प्राणों की रक्षा के लिए वध्यशिला पर गरुड द्वारा स्वयं भक्षित होकर परोपकार के अपूर्व फल को भी प्राप्त करता है । इस प्रकार जीमूतवाहन के चरित्र का महनीय सर्वोत्कर्ष विभिन्न फलों की प्राप्ति से सामने आता है । जो कि प्रबन्ध में एक अपूर्व चमत्कार को प्रस्तुत करने के कारण प्रबन्धवक्रता को प्रस्तुत करता है ।

(5) पाँचवें प्रकार की प्रबन्धवक्रता कुन्तक ने प्रबन्ध के प्रतिपाद्य में नहीं बल्कि प्रबन्ध के नामकरण में ही स्वीकार की है । कवि कभी-कभी अपने प्रबन्ध का ऐसा नाम ही रख देते हैं जो प्रबन्ध के प्राणभूत प्रधान संविधान का उपलक्षण होता है ।

1- द्रष्टव्य व.जी. 4/22-23

2- वस्तुतः इस स्थल की पाण्डुलिपि के अत्यन्त भ्रष्ट होने के कारण उसका सम्यक् सम्पादन डा० डे नहीं कर सके । परन्तु उसके विवेचन से जैसा पता चलता है उससे यही निश्चित होता है कि कुन्तक ने इस वक्रता के उदाहरण रूप में नागा-नन्द को ही उद्धृत किया होगा ।

इस प्रकार के प्रबन्ध के विस्मयकारी नाम से ही प्रबन्ध का अपूर्व चमत्कार व्यक्त हो उठता है[1]। उदाहरण रूप में कुन्तक ने अभिज्ञान शाकुन्तल मुद्राराक्षस, प्रतिमानिरुद्ध, मायापुष्पक, कृत्यारावण, छलित राम तथा पुष्पदूषितक आदि का नामोल्लेख किया है। महर्षि दुर्वासा के शापवश विस्मृत शकुन्तला को दुष्यन्त मुद्रिका रूप अभिज्ञान के द्वारा स्मरण करता है । अतः कालिदास ने प्रबन्ध का नाम 'अभिज्ञानशाकुन्तल' रखा। यही अभिज्ञान ही सम्पूर्ण प्रबन्ध के संविधान का प्राणभूत है। इसी प्रकार अन्य काव्यों के नामकरण भी है ।

(6) छठवें प्रकार की प्रबन्धवक्रता कुन्तक उन समस्त लोकोत्तर प्रतिभासम्पन्न महाकवियों के प्रबन्धों में स्वीकार करते हैं जिनकी रचना तो एक ही आधार, एक ही इतिवृत्त अथवा एक ही कथा को लेकर की गई होती है लेकिन इतने पर भी वे परस्पर एक दूसरे से विलक्षण होने कारण अपूर्व सौंदर्य को प्रस्तुत करते हैं[2]। रामायण एवं महाभारत की ही कथा पर आश्रित अनेकों काव्यों की रचना अनेकों कवियों ने की है। मुख्यतः ये ही दो महाकाव्य संस्कृत कवियों के उपजीव्य ग्रन्थ रहे हैं । फिर भी उन सभी रचनाओं की एक दूसरे से स्पष्ट ही विभिन्नता झलकती है जो कवि व्यापार की प्रबन्ध वक्रता को प्रस्तुत करती है ।जैसे एक ही रामायणीय कथा पर आधारित रामाभ्युदय, उदात्तराघव, वीरचरित, बालरामायण, कृत्यारावण, मायापुष्पक इत्यादि अनेक प्रबन्धों का निर्माण विभिन्न महाकवियों ने किया है। किन्तु अपनी अपनी प्रतिभा के बल पर पद पद में वाक्य वाक्य में प्रकरण प्रकरण में ऐसा वैचित्र्य प्रस्तुत किया है जिससे रसों की अबाध निष्पत्ति और नवीन ढंग से समुल्लसित नायक का उत्कर्ष सहृदयों को अत्यधिक आह्लादित करने में सर्वथा समर्थ सिद्ध होते हैं।

(7) इस प्रकार कुन्तक प्रबन्ध की कुछ विशिष्ट वक्रताओं का निर्देश कर अपूर्व निर्माण की निपुणता से सम्पन्न समस्त महाकवियों के उन समस्त प्रबन्धों में वक्रता का निर्देश करते हैं जो नये नये उपायों से नीति मार्ग का उपदेश देने वाले होते हैं[3]। उदाहरण

1- द्रष्टव्य , व.जी. 4/24

2- ,, ,, 4/25

3- ,, ,, 4/26

रूप में वे मुद्राराक्षस व तापसवत्सराज का उल्लेख करते है । मुद्राराक्षस में प्रकृतिबुद्धि के प्रभाव से प्रवर्तित विचित्र नीति व्यापारों की प्रगल्भता विद्यमान ही है । तापस वत्सराज में ऊपर से सहृदयों को आनन्दित करनेके लिए मरस एवं विनोदैकरसिक नायक उदयन का चरित्र प्रस्तुत किया गया है परन्तु उससे यह उपदेश दिया गया है कि व्यसनार्णव में डूबते हुए राजा का उद्धार अमात्यों द्वारा उसमें वर्णित विविध उपायों के द्वारा किया जाना चाहिए। इसी प्रकार रामकथा को उपनिबद्ध करने वाले नाटकादि में ऊपर से सहृदयहृदयहारी महापुरुष का चरित्र वर्णित होता है, परन्तु परमार्थतः महाकवि उसके द्वारा विधि निषेधात्मक धर्म का उपदेश करता है कि राम की तरह आचरण करना चाहिए, रावण की तरह नहीं । यह भी प्रबन्ध की ही वक्रता है ।

निष्कर्ष -

इस प्रकार कुन्तक द्वारा किया गया कविव्यापारवक्रता का विवेचन समाप्त होता है। इस विवेचन में ऐसा सहज ही अनुभव किया जा सकता है कि कुन्तक ने किस तरह काव्य के सूक्ष्म से सूक्ष्म चमत्कारजनक तत्त्व की ओर अपनी प्रखर मेधा से निर्देश किया है । काव्य की सूक्ष्मतम इकाई वर्ण से लेकर महत्तम स्वरूप प्रबन्ध तक के सूक्ष्मातिसूक्ष्म चमत्कार भी उनकी तत्त्वग्राहिणी दृष्टि से ओझल नहीं हो पाये । लेकिन इसके साथ ही कुछ ऐसे दोष भी इन विवेचन में विद्यमान है जिन्हे अस्वीकार नहीं किया जा सकता । पहला दोष तो कुन्तक के वक्रताओं के मुख्य रूप से षड्विधविभाजन में ही दृष्टिगोचर होता है । कुन्तक ने मुख्य रूप से वर्णविन्यास, पदपूर्वार्द्ध, पदपरार्द्ध, वाक्य, प्रकरण और प्रबन्ध की छः वक्रतायें प्रतिपादित की है और उनमें से प्रत्येक के अनेक प्रकारों का निरूपण किया है। लेकिन उनका मुख्य विभाजन सर्वथा शुद्ध नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्यों कि पद चार प्रकार के स्वीकार किए गए है — नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात । इनमें नाम और आख्यात रूप पदों में ही पदपूर्वार्द्ध और पदपरार्द्ध का विभाजन सम्भव है उपसर्ग और निपात में नहीं । अतः उन दोनों पदों का अन्तर्भाव न तो पदपूर्वार्द्ध वक्रता में ही हो सकता है और न पदपरार्द्धवक्रता में ही। और इसी लिए कुन्तक को उन्हें पदपूर्वार्द्ध और पदपरार्द्ध की वक्रताओं का विवेचन करने के अनन्तर उसी प्रकरण में अलग से पदवक्रता प्रस्तुत करने वाले प्रकार के रूप में वर्णित करना पड़ा है । यह बात तो अवश्य ही स्वीकार करनी पड़ेगी कि कुन्तक की तत्त्वदर्शिनी बुद्धि से काव्य के किसी भी अवयव का चमत्कार ओझल नहीं हो पाया । विवेचन उन्हों ने सब का किया । लेकिन इसके साथ ही यह

भी स्वीकार करना पड़ेगा कि उनका षड्विध विभाजन बहुत वैज्ञानिक नही है । उन्हे मुख्य रूप से वक्रता का पंचविध विभाजन ही करना चाहिए। वर्ण, वर्णों के समूह पद, पदो के समूह वाक्य, वाक्यो के समूह प्रकरण और प्रकरणो के समूह प्रबन्ध की ही पाँच वक्रताओ का निर्देश उन्हे करना चाहिए था । उससे पदवक्रता मे ही पदपूर्वार्द्ध और पदपरार्द्ध दोनो का अन्तर्भाव हो जाता । साथ ही उपसर्ग और निपात रूप पदो के किसी भी वक्रता प्रकार मे अन्तर्भाव की कठिनाई भी दूर हो जाती । जैसे उन्हो ने पदार्थ अथवा वस्तु की वक्रता का वाक्यवक्रता मे अन्तर्भाव किया है वह असमीचीन नही है । इसके अतिरिक्त उन्हो ने वक्रताओ के जो अनेकानेक प्रभेद प्रस्तुत किए है वे कही कही परस्पर संकीर्ण भी है । निदर्शनार्थ क्रियावैचित्र्य वक्रता के अन्तिम तीन प्रकार(स्वविशेषण वैचित्र्य, उपचारमनोज्ञता और कर्मादिसंवृति) निश्चित रूप से विशेषण, उपचार और संवृतिवक्रताओ से संकीर्ण है। कुन्तक के विवेचन से पारस्परिक भेद की स्पष्ट धारणा नही हो पाती। इन दोषो के विद्यमान रहने पर भी कुन्तक के विवेचन की सूक्ष्मता मनोवैज्ञानिकता एवं उनके व्यापक दृष्टिकोण का अपलाप नही किया जा सकता ।

चतुर्थ अध्याय

कुन्तक का मार्गगुणविवेचन

कुन्तक का मार्गगुणविवेचन

आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' में काव्य के सामान्य लक्षण को प्रस्तुत करने के अनन्तर उसके विशेष लक्षण का विषय प्रदर्शित करने के लिए मार्गों के वैविध्य को प्रस्तुत किया है । मार्गों को उन्हों ने कवि-प्रस्थान के हेतुभूत अर्थात् काव्यरचना के कारण-भूत स्वीकार किया है । जिसे कुन्तक ने मार्ग संज्ञा दी है उसे ही प्राचीन वामनादि आचार्यों ने रीति कहा था,[1] यद्यपि दण्डी ने भी मार्ग ही कहा था[2] । भोजराज ने मार्ग और रीति दोनो का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ लेकर समन्वय प्रस्तुत किया—

'वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः ।
रीङ् गताविति धातोस्सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते ।।'[3]

मार्गविभाजन का आधार :

कुन्तक ने अपने मार्गविभाजन का आधार कविस्वभाव को स्वीकार किया है । उन्हों ने अपने मत को प्रस्तुत करने के पूर्व पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत विदर्भादि देशविशेषों के समाश्रयण से किए गए वैदर्भी आदि रीतियों अथवा वैदर्भ आदि मार्गों के विभाजन का खण्डन किया है । अतः इस बात का पहले विवेचन कर लेना आवश्यक है कि वे कौन से पूर्वाचार्य हैं जिनके अभिमतों का कुन्तक ने खण्डन प्रस्तुत किया है ? आचार्य भरत ने तो मार्गों अथवा रीतियों का कोई विवेचन किया ही नहीं। भामह यद्यपि मार्ग अथवा रीति का उच्चारण तो नहीं करते परन्तु वैदर्भ और गौडीय काव्य का उल्लेख अवश्य करते हैं । उन्हें ऐसा विभाजन स्वीकार नहीं है ।वे ऐसा स्वीकार करने को गतानुगतिकता एवं मूर्खता कहते हैं[4] । सम्भवतः उनसे पूर्ववर्ती किसी आचार्य ने विदर्भ आदि देशों के आधार पर काव्य को वैदर्भ और गौडीय रूप में विभाजित किया था तथा वैदर्भ को श्रेष्ठ एवं गौडीय को हेय बताया था । भामह इस बात का खण्डन कर कुछ ऐसी विशेषताओं (अथवा कुन्तकादि के शब्दों में मार्गगुणों) का निर्देश करते हैं जिनके विद्यमान रहने पर गौडीय काव्य भी ग्राह्य एवं रमणीय होता है जब कि उन विशेषताओं के अभाव में वैदर्भ काव्य भी हेय होता है । वे विशेषतायें हैं —

1- द्रष्ट. का. सू. वृ. 1/2/9
2- काव्यादर्श 1/40
3- स. कं. 2/27
4- भामह काव्या. 1/32

पुष्टार्थता, वक्रोक्तिन्कुलता, अग्राम्यता, न्याय्यत्व और अनाकुलता।[1] बहुत कुछ सम्भव है कि कुन्तक को देशविशेष के समाश्रयण पर किये गए मार्गों के विभाजन एवं उनके उत्तमत्व अधमत्वादि का खण्डन करने की प्रेरणा भामह के इसी विवेचन से प्राप्त हुई हो। आचार्य दण्डी यद्यपि यह स्वीकार करते है कि वाणी के मार्ग प्रत्येक कवि मे स्थित होने के कारण अनेक है जिनका कि कथन असम्भव है फिर भी देशो के आधार पर अत्यन्त स्फुट अन्तर वाले वैदर्भ और गौडीय मार्ग का वर्णन करते है[2]। वे स्पष्ट उल्लेख करते है कि पौरस्त्य लोगो की काव्यपद्धति गौडीय तथा दाक्षिणात्य लोगो की काव्यपद्धति वैदर्भ है।[3] साथ ही अपना स्वारस्य भी वैदर्भ मार्ग के प्रति अभिव्यक्त करते है क्यो कि श्लेष आदि दस गुणो को उन्हो ने वैदर्भ मार्ग का प्राण कहा है, जब कि गौडीय मार्ग मे उन गुणो का प्रायः विपर्यय प्राप्त होता है।[4] इस प्रकार इस बात को स्वीकार कर लेना अनुचित न होगा कि दण्डी की दृष्टि मे वैदर्भ मार्ग उत्तम तथा गौडीय मार्ग अधम है। अतः इतना तो निश्चित रूप मे कहा जा सकता है कि कुन्तक जब देशविशेष के आधार पर किए गए वैदर्भ एवं गौडीय मार्गों के विभाजन का खण्डन करते है तो स्पष्ट ही वे दण्डी के विचारो का खण्डन करते है। अब प्रश्न यह उठता है कि किन आचार्यों ने देशविशेष के आधार पर वैदर्भी, गौडीया तथा पांचाली तीन रीतियो का विभाजन किया था जिसका कि कुन्तक खण्डन करते है ? अधिकतर विद्वानो का विचार है कि कुन्तक यहाँ पर वामन के अभिमत का खण्डन करते है। डा0 नगेन्द्र का कथन है —

'कुन्तक ने अपनी अमोघ शैली मे मार्गों के प्रादेशिक आधार का तो तिरस्कार किया ही है— साथ ही अपने व्यंग्य की लपेट मे वामन को भी ले लिया है।'[5] — तथा 'उन्हो ने वामन के आशय को अशुद्ध रूप मे प्रस्तुत किया है अथवा वामन के सिद्धान्त का सम्यक् अध्ययन नहीं किया। वामन ने स्वयं ही प्रादेशिक आधार का प्रबल शब्दो मे खण्डन किया है। उनकी रीतियो का आधार गुणात्मक है। --'--- अतः वामन के साथ कुन्तक ने न्याय नहीं किया और एक उड़ती हुई बात को लेकर उन पर आक्षेप किया है।'[6]

1- भामह, काव्या0 1/34-35
2- काव्यादर्श, 1/40, 101
3- वही, 1/50, 60, 80, 83
4- वही 1/42
5- भा. का. भू. भाग 2, पृ0 350
6- भा. का. भू. भाग 2, पृ0 353

'कुन्तक ने वामन पर प्रादेशिक आधार को मान्यता देने का दोषारोप किया है, पर यह उनका भ्रम है : वामन ने स्पष्ट शब्दो मे प्रादेशिक आधार का निषेध किया है । '[1]

वस्तुतः डा0साहब का यह अभिमत मान्य नही। यदि डा0साहब के ही शब्दो मे कहा जाय तो उन्हो ने कुन्तक के आशय को अशुद्ध रूप मे प्रस्तुत किया है अथवा कुन्तक के सिद्धान्त का सम्यक् अध्ययन नही किया। कुन्तक ने कही भी वामन का नाम्ना निर्देश नही किया अतः डा0साहब के इस कथन को कथमपि प्रामाणिक नही माना जा सकता कि उन्होने वामन के अभिमत की आलोचना की है । वैदर्भी गौडीया और पांचाली तीन रीतियो का विवेचन करने वाले आचार्य केवल वामन ही नही है, राजशेखर ने भी केवल इन्ही तीन रीतियो का उल्लेख किया है । साथ ही वामन के रीतिविवेचन मे यह स्वयं ही सुस्पष्ट है कि उनसे पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी रीति का विवेचन कर रखा है क्यो कि वामन भी केवल वैदर्भी रीति की ही समग्रगुणसम्पन्नता के कारण ग्राह्यता स्वीकार करते है, अन्य दो रीतियों को स्तोकगुणता के कारण अग्राह्य बताते है[2] । इनके पूर्ववर्ती कुछ आचार्यों ने गौडीया और पांचाली रीति का अभ्यास वैदर्भी-सन्दर्भ की सिद्धि के लिए आवश्यक बताया था । वामन उनके अभिमत का खण्डन करते है और कहते है कि अतत्त्व के परिशीलन से तत्त्व की निष्पत्ति नही होती । जैसे कोई जुलाहा यदि रेशमी सूत्रो के बुनने के लिए सन के सूत्रो के बुनने का अभ्यास करता है तो उसे रेशमी सूत्रो के बुनने का वैचित्र्य नही प्राप्त हो जाता[3] । यह कोई आवश्यक नही कि वामन द्वारा उल्लिखित आचार्यों के ग्रन्थ आज की तरह कुन्तक के समय मे भी अनुपलब्ध रहे हो । यदि वामन ने रीति-विभाजन के प्रादेशिक आधार का प्रबल शब्दो मे खण्डन किया है और यह स्वीकार किया है कि देशो से कोई काव्य का उपकार नही होता,[4] तो कुन्तक ने भी तो उनके अभिमत को स्वीकार किया है और कहा है कि केवल देश विशेष के आश्रयण पर नामकरण करने के

1- भा.का.शा. भाग 2, पृ0 369- 370

2- का.सू.वृ. 1/2/14-15

3- वही, 1/2/16-18

4- 'विदर्भगौडपांचालेषु देशेषु तत्रत्यैः कविभिर्यथास्वरूपमुपलब्धत्वात् तद्देशसमाख्या ।

न पुनर्देशैः किंचिदुपक्रियते काव्यानाम् । '

— वही, वृत्ति 1/2/10

विषय में ही हमारा विवाद नहीं है[1]। अतः वामन के पूर्ववर्ती किन आचार्यों ने देशों के आधार पर वैदर्भी आदि रीतियों का विभाजन किया था कुछ कहा नहीं जा सकता। हाँ, उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि राजशेखर ने भी रीतियों का विभाजन देशों के आधार पर ही किया है । उन्होंने जिस काव्य-पुरुष के रूपक द्वारा काव्यतत्त्वों का विवेचन किया है उससे यह तथ्य सामने आता है ।'काव्यमीमांसा'के अठारह अधिकरणों में से केवल प्रथम अधिकरण ही प्राप्त होता है । यह हम लोगों का दुर्भाग्य ही है । राजशेखर ने रीतियों का विस्तृत विवेचन तो तृतीय अधिकरण में किया होगा ।जैसा कि वे कहते हैं —

'रीतयस्तु तिस्रस्तास्तु पुरस्तात्[2] ।'

फिर भी जो तथ्य ऊपर उद्घाटित किया गया है वह उनके प्रथम अधिकरण के विवेचन से ही सामने आ जाता है । वस्तुतः जब काव्य-पुरुष माता से रुष्ट होकर भाग चला तो माता सरस्वती ने उसे मनाने के लिए अथवा वश में करने के लिए साहित्यविद्या-वधू को उत्पन्न किया । वह उसे मनाने के लिए पीछे पीछे चल पड़ी । सब से पहले वे पूर्व दिशा में गए जहाँ अङ्ग, वङ्ग, सुह्म, ब्रह्म, पुण्ड्र आदि जनपद हैं ।वहाँ काव्यपुरुष साहित्यविद्यावधू की वेशभूषा, नृत्य, वाद्य आदि से तनिक भी प्रसन्न नहीं हुआ अतः जैसा लोक में देखा जाता है कि जब मनुष्य क्रोध में होता है तो वह अनाप सनाप बातें बकने लगता है और जब प्रसन्न मुद्रा में रहता है तो सरस और सुहावनी बातें करता है । क्रोध की बातों से लोगों को आनन्द नहीं मिलता । उसी तरह अप्रसन्न काव्य-पुरुष ने क्रोधावेश में जो समास-बहुल, आनुप्रासिक और योगवृत्तिपरम्परा-गर्भ वाक्य कहे उनको संज्ञा गौडीया रीति दी गई[3], क्यों कि वचनविन्यास क्रम को ही तो राजशेखर ने रीति कहा है —

'वचनविन्यासक्रमो रीतिः[4] ।'

इसके अनन्तर वे पांचाल देशों को गए जहाँ पांचाल, शूरसेन, हस्तिनापुर, काश्मीर, वाहीक, बाह्लीक, बाह्लवेय इत्यादि जनपद हैं । वहाँ साहित्य विद्यावधू की वेशभूषा तथा

1- 'तदेवं निर्वचनसमाख्यामात्रभेदकारणमपि देशविशेषाश्रयणस्य वयं न विवदामहे ।

का.मी. पृ0 46

2- का.मी. पृ0 50

3- वही, पृ0 41-44

4- वही, पृ0 49

नृत्यवाद्य आदि से वह काव्य पुरुष कुछ आकर्षित हुआ और उसने किंचित् समास-रहित, अल्पानुप्रासिक और उपचारगर्भ जिस वचन विन्यास को प्रस्तुत किया वह पांचाली रीति कहलायी।[1] इसके अनन्तर जब दक्षिण दिशा में जहाँ पर कि कुन्तल, केरल, महाराष्ट्र तथा माहिष्म आदि जनपद हैं वहाँ साहित्यविद्यावधू ने अपनी वेशभूषा और गीत वाद्यादि से उसे रिझाया तो वह उस पर बिल्कुल प्रसन्न हो गया और साहित्य-विद्यावधू के पूर्णतयावश में होकर जिस युक्तानुप्रासिक, समासरहित एवं योगवृत्तिगर्भ वचनविन्यास-क्रम को प्रस्तुत किया उसे वैदर्भी रीति की संज्ञा प्रदान की गई[2]।

इस प्रकार राजशेखर के इस विवेचन से अत्यन्त स्पष्ट है कि उनके द्वारा किया गया रीतियों का विभाजन पूर्णतया देशों पर आधारित है । इतना ही नहीं उनके विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उनकी दृष्टि में वैदर्भी उत्तम, गौडीया अधम और पांचाली मध्यम कोटि की रीति है । इस बात को कुन्तक का काल निर्धारित करते समय सिद्ध किया जा चुका है कि राजशेखर कुन्तक से काफी पहले हो चुके थे अतः यदि कुन्तक ने राजशेखर का ही खण्डन किया हो तो कोई असम्भाव्य नहीं ।

देशविशेष के आधार पर किए गए वैदर्भी आदि रीतियों के विभाजन का खण्डन करने में कुन्तक ने अधोलिखित तर्क प्रस्तुत किए हैं —

(1) यदि देश-भेद को रीतिभेद का कारण स्वीकार किया जायगा तो देशों के अनन्त होने के कारण रीतियाँ भी अनन्त होने लगेंगी । और ऐसी अवस्था में रीतियों का परि-गणन असम्भव हो जायगा । केवल तीन ही रीतियाँ स्वीकार करना अनुचित होगा।

यद्यपि स्वयं राजशेखर ने भी इस सन्देह को अन्य आचार्यों की ओर से प्रस्तुत किया था लेकिन उसका उत्तर उन्होंने यही दिया कि देश तो अनन्त अवश्य हैं लेकिन उनके चार विभागों की ही कल्पना की गई है । सामान्यतः चक्रवर्ती क्षेत्र एक स्वीकार किया गया है यद्यपि वह अपने अवान्तरविशेषों से तो अनन्त होता ही है ।[3] स्पष्ट है कि राजशेखर का यह उत्तर समीचीन नहीं है । वैदर्भी रीति के कवि किसी एक देश विशेष में ही उपलब्ध हों यह निश्चय नहीं उनकी उपलब्धि सर्वत्र विदर्भ देश से भिन्न देश

1- का. मी. पृ0 44-46

2- वही, पृ0 47-48

3- वही, पृ0 49-50

में भी सम्भव हो सकती है ।आचार्य कुन्तक ने कविस्वभाव के आधार पर मार्गों का वर्गीकरण किया है । और यह सन्देह भी उन्होंने स्वयं उठाया है कि यद्यपि कवि-स्वभाव को भी मार्गविभाजन का आधार स्वीकार करने पर कविस्वभाव के अनन्त होने के कारण मार्गों का आनन्त्य अनिवार्य है फिर भी उनकी गणना के अशक्य होने के कारण सामान्यतः त्रैविध्य ही युक्तिसंगत है[1] । डा० हरदत्त शर्मा ने निर्देश किया है कि कोई भी व्यक्ति यहाँ कुन्तक के विवेचन में भी वही दोष दिखा सकता है जैसे कि स्वयं कुन्तक ने भौगोलिक आधार पर किए गए रीतियों के त्रिविध विभाजन में दिखाया है[2] । परन्तु डा० साहब का यह कथन समीचीन नहीं प्रतीत होता । विदर्भ देश की प्राप्ति पांचाल अथवा गौडीय देश में नहीं हो सकती क्यों कि देश का क्षेत्र सीमित होता है । लेकिन सुकुमार अथवा विचित्रस्वभाव वाला कवि कहीं भी उपलब्ध हो सकता है। इस प्रकार भौगोलिक आधार पर किए गए त्रिविध विभाजन के आधार पर कवियों के सही काव्यस्वरूप का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता क्यों कि यदि पांचाल देश में भी वैदर्भीरीति का काव्य प्राप्त होता है तो बाध्य होकर भौगोलिक आधार पर उसे वैदर्भी रीति का काव्य न कह कर पांचालीरीति का काव्य कहना पड़ेगा । क्यों कि भौगोलिक आधार पर किया गया विभाजनक्षेत्र सीमित होगा।अपनी सीमा से परे उसकी कोई सत्ता नहीं होगी । और इस तरह काव्य की रीतियों का सही स्वरूपनिरूपण न हो सकेगा। जब कि स्वभाव के आधार पर किए गए विभाजन में यह दोष नहीं। स्वभाव तो प्रायः एक दूसरे से मिल जाया करते हैं और ऐसी दशा में वहाँ भिन्न देश में भी भिन्न स्वभाव का कवि होगा उसे उस मार्ग का कहने में कोई आपत्ति नहीं होगी । अतः स्पष्ट है कि कवि-स्वभाव तथा भौगोलिक दोनों आधारों पर किए गए रीतिविभाजन में एक ही दोष दिखाना भ्रान्ति के सिवा और कुछ नहीं है ।

1- 'यद्यपि कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वादनन्तभेदभिन्नत्वमनिवार्यं तथापि परिसंख्यातुमशक्यत्वात् सामान्येन त्रैविध्यमेवोपपद्यते ।'
— व.जी. पृ० 47

2- "One may here observe that Kuntaka's opinion is open to the same objection which he putforth against the geografhical division of Ritis into three kinds."
— I.H.Q., Vol. 8, PP. 258-259.

(2) कुन्तक का दूसरा तर्क है कि काव्यरचना किसी देश का धर्म नहीं होती जिससे यह कहा जा सके कि वैदर्भी रीति विदर्भ देश का धर्म है अथवा गौडीया गौड देश का इत्यादि । जैसे ममेरी बहन के साथ विवाह दक्षिण के किसी देश में होता है, सर्वत्र नहीं।अतः उसे देश धर्म कहा जा सकता है और देश के आधार पर उसकी व्यवस्था भी मान्य होगी ।क्यो कि देश धर्म केवल वृद्धो की व्यवहारपरम्परा पर आश्रित होता है अतः उसका उस देश विशेष में अनुष्ठान अशक्य नहीं । लेकिन काव्य रचना को तो शक्ति व्युत्पत्ति और अभ्यास रूप कारणसामग्री की आवश्यकता होती है उसका किसी देश के साथ कैसा सम्बन्ध ? यदि कोई यह कहना चाहे कि जिस प्रकार से दाक्षिणात्यो की संगीतविषयक सुस्वरता आदि ध्वनि की रमणीयता स्वाभाविक हुआ करती है वैसे ही काव्यरचना भी स्वाभाविक होगी तो यह कहना उचित नहीं।क्यो कि ऐसा स्वीकार कर लेने पर फिर सभी को वैसी ही काव्यरचना कर लेनी चाहिए। पर ऐसा होता नहीं। यदि शक्ति को कथमपि दुर्जनतोषन्याय से स्वाभाविक मान भी लिया जाय तो व्युत्पत्ति और अभ्यास जो कि काव्यरचना के कारणभूत है उनकी क्या व्यवस्था होगी'।उनकी तो किसी देशविशेष में कोई नियत व्यवस्था नहीं होती जिस व्युत्पत्ति और अभ्यास को जिस देश का धर्म स्वीकार किया जाता है वहाँ बहुतो में वह दिखाई नहीं पड़ता जब कि उससे भिन्न दूसरे देश में भी देखा जाता है[1]।

अतः देशो के आधार पर किया गया वैदर्भी आदि रीतियो एवं वैदर्भ आदि मार्गों का विभाजन असंगत एवं अमान्य है । वामन ने भी तो इसे स्वीकार किया है कि देशो से काव्यो का कोई उपकार नहीं होता[2]।

इस प्रकार कुन्तक देशो के आधार पर किए मार्गों एवं रीतियो के विभाजन को अनुचित सिद्ध कर मार्गों के विभाजन की व्यवस्था कवि स्वभाव के आधार पर करते है । उनका कहना है कि जिस स्वभाव का कवि होता है उसी के अनुरूप उसकी सहज शक्ति समुत्पन्न होती है क्यो कि शक्ति और शक्तिमान में अभेद होता है ।जैसे अग्नि शक्तिमान है दाहकत्व उसकी शक्ति । अग्नि और दाहकत्व में अभेद है । शक्ति के अनुरूप ही कवि व्युत्पत्ति प्राप्त करता है । और फिर उसी शक्ति तथा व्युत्पत्ति के द्वारा उसके अनुरूप मार्ग से काव्य रचना के अभ्यास में तत्पर होता है । सुकुमार

1- व.जी. पृ0 45-46

2- 'न पुनर्देशैः किंचिदुपक्रियते काव्यानाम्।- का.सू.वृ. 1/2/10 पर वृत्ति

स्वभाव कवि को उसके स्वभाव के अनुरूप सुकुमारशक्ति प्राप्त होती है । उसी के अनुरूप वह सौकुमार्य से रमणीय व्युत्पत्ति अर्जित करता है । और फिर उसी शक्ति और व्युत्पत्ति के द्वारा सुकुमार मार्ग से काव्यरचना का अभ्यास करता है । इसी प्रकार जिस कवि का स्वभाव विचित्र होता है, वह भी काव्य के सहृदयाह्लादकारी होने के कारण सौकुमार्य से व्यतिरेकी वैचित्र्य से रमणीय ही होता है । उसी के अनुरूप उस की कोई विचित्र ही शक्ति समुल्लसित होती है । उस विचित्रशक्ति के द्वारा वह उसी प्रकार के वैदग्ध्य से रमणीय व्युत्पत्ति अर्जित करता है । तथा उस शक्ति और व्युत्पत्ति के द्वारा वैचित्र्य की वासना से अधिवासित चित्त हो विचित्र मार्ग से काव्यरचना के अभ्यास में तत्पर होता है । इसी प्रकार जिसका स्वभाव सुकुमार एवं विचित्र मार्ग के कवियों के मूलभूत स्वभाव से संवलित होता है उसी के अनुरूप उसकी शक्त सौन्दर्या-तिशय से सुशोभित होने वाली शक्ति समुल्लसित होती है । उस शक्ति के द्वारा वह सुकुमार एवं विचित्र दोनो स्वभावों से सुन्दर व्युत्पत्ति अर्जित कर दोनो की कान्ति के परिपोष से मनोहर मार्ग द्वारा काव्यरचना के अभ्यास में तत्पर होता है । इस प्रकार ये तीन प्रकार के कवि तीन प्रकार के सुकुमार, विचित्र और उभयात्मक रमणीय काव्यों की रचना करते है[1] । यहाँ किसी को यह सन्देह भी हो सकता है कि शक्ति की स्वाभा-विकता तो ठीक है क्यो कि वह आन्तरिक हुआ करती है ,लेकिन व्युत्पत्ति और अभ्यास की स्वाभाविकता कैसे मानी जाय जब कि ये दोनो आहार्य होते है ? कुन्तक ने बड़े ही तर्कपूर्ण ढंग से इस सन्देह का निवारण किया है । उनका कहना है कि काव्य-रचना की बात तो दूर रहो, अन्य विषयो में भी ऐसा देखा जाताहै कि अनादि वासना के अभ्यास से अधिवासित [illegible] चित्त वाले सभी किसी के व्युत्पत्ति और अभ्यास स्वभावानुसारी ही हुआ करते है । स्वभाव तथा व्युत्पत्ति एवं अभ्यास में परस्पर उपकार्योपकारक भाव सम्बन्ध होता है । स्वभाव की अभिव्यंजना कराने से ही व्युत्पत्ति और अभ्यास सफल होते है । स्वभाव उन दोनो को आरम्भ करता है और ये दोनो स्वभाव को परिपुष्ट करते है । इस विषय में चेतन पदार्थों की बात तो दूर रही अचेतन पदार्थों की सत्ता भी अपनी सत्ता के अनुरूप अन्य सत्ता के सन्निधान में अभिव्यक्त हो उठती है जैसे चन्द्रकान्त मणियाँ चन्द्रकिरणों के स्पर्श से

1- द्रष्टव्य, व.जी. पृ० 46-47

स्वाभाविक जल प्रवाहित करने लगती है । अतः यह सिद्ध होता है कि स्वभाव के अनुरूप ही व्युत्पत्ति और अभ्यास भी हुआ करते हैं । और इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि जिस स्वभाव का कवि होता है उसी के अनुरूप उसका काव्य भी होता है[1] । यद्यपि राजशेखर ने रीतियों का विभाजन देश के आधार पर अवश्य किया है लेकिन इस बात को वे भी स्वीकार करते हैं कि काव्य कविस्वभाव के अनुरूप ही होता है जैसा कवि वैसा काव्य, जैसा चित्रकार वैसा ही चित्र —

'स यत्स्वभावः कविस्तदनुरूपं काव्यम्। यादृशाकारश्चित्रकरस्तादृशाकारमस्य चित्रमिति प्रायो वादः[2] ।'

इस प्रकार कुन्तक द्वारा मार्ग विभाजन के आधार रूप में स्वीकार किए गए कविस्वभाव की समीचीनता को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता । साथ ही कविस्वभाव के आधार पर कुन्तक ने जो सुकुमार, विचित्र और मध्यम नाम रखे हैं वे ही समीचीन भी हैं । लेकिन वैदर्भी आदि नामों को सर्वथा असमीचीन भी कहना उचित नहीं। वस्तुतः जब आचार्यों ने प्रारम्भ में इनका नामकरण किया होगा उस समय उसका आधार देश ही रहा होगा। विदर्भ में प्राप्त होने वाले कवियों की रचना अधिकतर जिस रूप में रही होगी उसे प्राधान्य के कारण वैदर्भी कहा होगा । इसी तरह गौड़ीया और पांचाली का भी नामकरण हुआ होगा । और उस प्रारम्भिक समय की दृष्टि से उसकी समीचीनता को अमान्य नहीं ठहराया जा सकता । हाँ, आगे चल कर जब विभिन्न देश के कवियों ने यथारुचि भिन्न-भिन्न मार्गों का अनुसरण करना प्रारम्भ कर दिया और विदर्भक्षेत्र में भी गौड़ीया और गौड़ क्षेत्र में भी वैदर्भी रीति के काव्यों की रचना होने लगी उस समय इस देश के आधार पर किये जाने वाले विभाजन की अनुपयुक्तता सामने आई। इसकी ओर स्पष्ट ही वामन ने निर्देश किया है और उनसे भी पहले भामह का भी निर्देश इसी ओर स्वीकार किया जा सकता है । अन्त में राजानक कुन्तक ने कविस्वभाव को मार्गविभाजन का आधार स्वीकार कर तथा मार्गों को सुकुमार, विचित्र एवं मध्यम की संज्ञा प्रदान कर एक समुचित व्यवस्था की । परन्तु जो परवर्ती आचार्यों ने उसे आगे चल कर स्वीकार नहीं किया, भामह के शब्दों में उसे गतानुगतिकता ही कहा जा सकता है ।

1- द्रष्टव्य, व.जी. पृ० 47

2- का. मी., पृ० 160

रीतियों का(उत्तमाधममध्यमत्व)तारतम्य :

आचार्य कुन्तक ने देशभेद के आधार पर किए गए रीतियों अथवा मार्गों के विभाजन का खण्डन कर रीतियों के उत्तम, मध्यम और अधम रूप विभाजन का भी खण्डन प्रस्तुत किया है। उन्हें आह्लाद की कोटियाँ मानना अभिप्रेत नहीं है। आचार्य दण्डी की दृष्टि में वैदर्भ मार्ग उत्तम है और गौडीय मार्ग अधम, क्यों कि श्लेष आदि दस गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण है जब कि गौडीय मार्ग में इनका प्रायः विपर्यय दिखाई पड़ता है[1]। यद्यपि दण्डी ने उत्तम अथवा अधम का शब्दतः प्रयोग वैदर्भ और गौडीय मार्ग के लिए नहीं किया। तदनन्तर आचार्य वामन ने भी समग्र गुणों से सम्पन्न होने के कारण वैदर्भी को ही ग्राह्य बताया। शेष दोनों गौडीया और पांचाली रीतियों को उन्हों ने थोड़े गुणों वाली होने के कारण हेय कहा[2]। लेकिन वामन के इस विवेचन से रीतियों की उत्तम, मध्यम और अधम तीन कोटियाँ सामने नहीं आतीं। क्यों कि यदि वैदर्भी को उत्तम कोटि में रख भी लिया जाय तो पांचाली और गौडीया दोनों एक ही अधम अथवा मध्यम कोटि में आयेंगी। वामन ने इन दोनों में कोई तारतम्य नहीं स्थापित किया है। अतः यह कल्पना, कि रीतियों के तारतम्य का खण्डन करते समय भी कुन्तक वामन का ही खण्डन कर रहे हैं कुछ समीचीन नहीं प्रतीत होती जैसी कि डा० नगेन्द्र आदि ने कर रखी है[3]। वामन तो स्वयं ज़ोरदार शब्दों में गौडीया और पांचाली रीतियों के अभ्यास का भी निषेध करते हैं और उन आचार्यों के मत का खण्डन करते हैं जो वैदर्भी की वैदर्भ सिद्धि के लिए गौडीया और पांचाली के अभ्यास को स्वीकार करते हैं[4]। राजशेखर के रीतिविषयक चिन्तन को प्रस्तुत करते हुए यह सम्भावना व्यक्त की जा चुकी है कि उनकी दृष्टि में वैदर्भी उत्तम, पांचाली मध्यम और गौडीया अधम रीति के रूप में सामने आती है। अतः या तो यह तारतम्य का खण्डन कुन्तक ने राजशेखर के अभिमत को दृष्टि में रख कर प्रस्तुत किया होगा अथवा राजशेखर तथा वामन दोनों से भिन्न किसी अन्य आचार्य के मत का खण्डन किया होगा, जिसका कि ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। कुन्तक ने रीतियों के तारतम्य का खण्डन करते हुए यह तर्क प्रस्तुत किया है कि काव्य की काव्यता तभी सम्भव है जब कि वह सहृदयों को

1- काव्यादर्श, 1/42

2- का.सू.वृ. 1/2/14-15

3- भा.का.भू.भाग 2, पृ०54-55

4- का.सू.वृ० 1/2/16-18

आह्लादित करने मे समर्थ हो । और यह सहृदयाह्लादरमणीयत्व काव्य के द्वारा ही सम्भव है । जो रमणीयता वैदर्भी मे विद्यमान रहती है वह पांचाली और गौडीया मे सर्वथा असम्भव है । अतः कोई भी सहृदय वैदर्भी रीति को छोड़ अन्य रीतियो का समाश्रयण क्यो करेगा ? अतः वैदर्भी के आगे पांचाली और गौडीया रीतियो का उपदेश करना ही व्यर्थ सिद्ध होगा । क्यो कि वे वैदर्भी की अपेक्षा मध्यम और अधम है, उनमे वैदर्भी की रमणीयता असम्भव है । यदि कोई यह कहे कि उन दोनो रीतियो का उपदेशतो उनका परिहार करने के लिए किया गया है तो यह भी ठीक नही । क्योकि ऐसा स्वयं रीतियो का विवेचन करने वाले आचार्यो ने ही स्वीकार किया नही किया । फिर काव्यरचना कोई दरिद्र का दान तो है नही, कि जितना हो सके उतना दे दिया जाय और उसे प्रतिता स्वीकार कर ले । यदि किसी को कवि बनना है काव्यरचना करनी है तो उत्तम कोटि की ही रचना प्रस्तुत करे जिससे सहृदयो को आनन्दोपलब्धि हो सके । काव्यमर्मज्ञ सहृदय कोई भिक्षापात्र तो है नही कि जैसी भी रचना मिल जाय उसी का आस्वादन करने को तैयार हो जाय और झूठे ही सिर हिला दे[1] । इसी लिए तो भामह ने कहा था कि अकवि होना किसी अधर्म या व्याधि अथवा दण्ड के लिए भी नही होता । लेकिन कुकवि होना तो साक्षात् मृत्यु है मृत्यु[2] । राजशेखर ने भी यही कहा है—

'वरमकविर्न पुनः कुकविः स्यात्।कुकविता हि सोच्छ्वासं मरणम्।'[3]

अतः काव्य वही होगा जो उत्तम कोटि का होगा । अन्यथा वह काव्य होगा ही नही अधम और मध्यम कोटि के काव्य का काव्यत्व तो कुन्तक को मान्य नही । इस लिए रीतियो का उत्तम, मध्यम और अधम रूप मे विभाजन आचार्य कुन्तक की दृष्टि से सर्वथा अनुचित है ।आचार्य कुन्तक का सुकुमार्ग मार्ग यदि रमणीय है तो विचित्र और मध्यम उससे पीछे नही वे भी रमणीय है । कवियो की वे ही रचनाएं काव्य कहलाने की अधिकारिणी होती है जो काव्य की समस्त साधनसामग्री के चरम प्रकर्ष से निष्पन्न होकर

1- द्रष्टव्य, व.जी.पृ0 46

2- नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा ।
   कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः ।—भामह काव्या0 1/12

3- का.मी.,पृ0 97

रमणीयता को प्रस्तुत करती है । और इस प्रकार के काव्यों के तीन प्रकार है-(1) सुकुमार(2) विचित्र और (3)मध्यम अथवा उभयात्मक काव्य।कवियों की प्रवृत्ति के निमित्त होने के कारण ये ही तीन सुकुमार विचित्र और मध्यम मार्ग कहे जाते है। जब रमणीय काव्य के परिग्रह का प्रस्ताव होता है तो सामने तीन राशियाँ उपस्थित होती है —(1) सुकुमार स्वभाव-राशि,उससे व्यतिरिक्त अरमणीय काव्य नहीं हो सकता (2)उससे व्यतिरिक्त रमणीयता-विशिष्ट दूसरी राशि है विचित्र । ये दोनों ही रमणीय होते है । अतः इन दोनों को सम्मिलित छाया से सम्पन्न होने वाले मध्यम मार्ग की रमणीयता तो स्वतः सिद्ध हो जाती है । इस प्रकार कोई भी मार्ग एक दूसरे से न्यून नहीं है ।किसी की भी न्यूनता की कल्पना बिल्कुल अपार्थ है[1] ।

मार्गों का स्वरूप :-

आचार्य दण्डी तथा वामन ने मार्गों अथवा रीतियों का स्वरूप निरूपण गुणों के आधार पर किया था । दण्डी ने श्लेष आदि दस गुणों को वैदर्भ मार्ग का प्राण कहा और गौडीय के लिए निर्देश किया कि उसमें प्रायः इन गुणों का विपर्यय रहता है[2] ।वामन ने वैदर्भी रीति में श्लेष प्रसाद आदि दसों गुणों की सत्ता स्वीकार की । पांचाली को माधुर्य और सौकुमार्य से युक्त तथा गौडीया को ओजस् और कान्ति से युक्त बताया[3]। इस प्रकार गुणों की न्यूनता और आधिक्य ही वामन की रीतियों का स्वरूप निरूपण करने वाले तत्त्व रहे । कुछ हद तक दण्डी के मार्ग निरूपण का भी यही आधार रहा । अन्तर केवल यह था कि दण्डी के गौडीय मार्ग में कुछ गुण तो वैदर्भ मार्ग के तुल्य ही रहे और कुछ गुणों का विपर्यय रहा । जब कि वामन की पांचाली रीति में ओजस् और कान्ति को छोड़ कर शेष गुण उसी रूप में रह सकते थे जैसे कि वैदर्भी में, तथा गौडीया में भी माधुर्य और सौकुमार्य को छोड़ कर शेष गुण उसी रूप में रह सकते थे । इस प्रकार दण्डी तथा वामन ने गुणों से पृथक् वैदर्भी आदि का कोई स्वरूप-निरूपण नहीं किया। भामह को तो यह मार्ग भेद मान्य ही नहीं था अतः उनका स्वरूपनिरूपण वे करते ही कैसे इसी लिए उन्होंने मार्ग अथवा रीति न कहकर उन्हें काव्य नाम से अभिहित किया[4] । और एक काव्य के लिए 1-सुदार्थता 2-पर्योक्ति-

1- द्रष्टव्य, व.जी.पृ0 47

2- काव्यादर्श, 1/42

3- का.सू.वृ0 1/2/11, 12, 13

4- भामह,काव्या0 1/31-32

युक्तता । 3- अग्राम्यता 4- न्याय्यत्व और 5- अनाकुलता गुणो को आवश्यक प्रतिपादित किया[1]। आचार्य रुद्रट ने दण्डी तथा वामन के इस रीति स्वरूपनिरूपण को एक नया मोड़ दिया । उनकी विभिन्न रीतियो के स्वरूपनिरूपण का आधार गुण नही बल्कि समासा और असमासा दो प्रकार की नामवृत्तियाँ हुई ।उन्हो ने रीतियो की संख्या मे भी एक चतुर्थ लाटीया रीति की कल्पना कर वृद्धि किया ।असमासा वृत्ति की केवल एक ही रीति रही-वैदर्भी । और समासा वृत्ति की तीन रीतियाँ हुई पांचाली लाटीया और गौडीया । पांचाली मे दो तीन पदो का समास मान्य रहा। लाटीया मे पांच या सात पदो का और गौडीया मे यथाशक्ति तमाम पदो का समास मान्य हुआ[2]। लेकिन यहाँ इतना निर्देश कर देना आवश्यक है कि रुद्रट ने दण्डी आदि की भांति रीतियो का नाम करण देशो के आधार पर नही किया । वे स्पष्ट कहते है कि इनका केवल नाम ही ऐसा रख दिया गया है -'नामतोऽभिहिताः'[3]।नमिसाधु की व्याख्या रुद्रट के इस कथन को और भी सुस्पष्ट कर देती है —

'नामत इत्यनेन नाममात्रमेतदिति कथयति । न पुनः पांचालेषु भवा इत्यादि व्युत्पत्तितः ।अतिप्रसंगात्[4]।'

रुद्रट की मौलिकता उनके रीतिविवेचन मे साफ झलकती है । रुद्रट से पूर्व समास के आधार पर गुणो का विवेचन तो भरत[5],भामह[6],दण्डी[7] तथा वामन[8] ने अवश्य किया था पर रीति का समास के आधार पर विभाजन करने वाले प्रथम आचार्य रुद्रट ही है । साथ ही उन्हो ने किसी रीति को उत्तम,मध्यम,अधम अथवा ग्राह्य या हेय भी नही कहा । इतना ही नही रीतियो का रसो के साथ सबसे पहला सम्बन्ध भी रुद्रट ने ही जोड़ा और यह बताया कि औचित्य के अनुरूप श्रृंगार,करुण,भयानक,अद्भुत और प्रेयस् रसो मे वैदर्भी अथवा पांचाली का तथा रौद्र रस मे लाटीया और गौडीया का प्रयोग करना चाहिए[9]। प्रेय,वीर,वीभत्स,हास्य और शान्त रसो मे रुद्रट ने रीतियो का

1- भामह,काव्या0 1/34-35

2- रु.,काव्या0, 2/3-6

3- वही2/4 4- न.सा. पृ0 10

5- ना.शा 16/105 6- भामह,काव्या0 2/1-2

7- काव्यादर्श, 1/80 8- का.सू.वृ0, 3/1/20 तथा वृत्ति

9- रु.,काव्या0 14/37 तथा 15/20

कोई भी नियमन नहीं किया।रुद्रट के अनन्तर संस्कृत साहित्य के इतिहास में एक अपूर्व और प्रभावोत्पादक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने वाले आचार्य आनन्दवर्धन सामने आते हैं । उन्हो ने ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना की और अलंकारशास्त्र के विभिन्न मान्य तत्त्वों का रसादि-ध्वनि के साथ सम्बन्ध स्थापित कर एक नया दृष्टि-कोण प्रस्तुत किया। उन्हो ने वामन आदि आचार्यो द्वारा स्वीकृत वैदर्भी आदि रीतियो का कोई विवेचन प्रस्तुत नही किया । उनके विषय मे उन्हो ने केवल यही कहा कि इन वैदर्भी ,गौडीया और पांचाली रीतियो को प्रवर्तित करने वाले आचार्यो को यह काव्यतत्त्व ध्वनि, जिसका कि विवेचन हमने किया है, थोड़ा ही स्फुरित हुआ था। वे इस काव्यतत्त्व का यथार्थ वर्णन कर सकने मे असमर्थ थे अतः उन्हो ने रीतियो का विवेचन किया।[1] हां, उन्हो ने तीन प्रकार की दीर्घसमासा, असमासा और मध्यम समासासङ्घटना का उल्लेख किया है जो कि माधुर्यादि गुणो का आश्रयण कर रसादिक को अभिव्यक्त करती है । यह संघटना रुद्रट की रीति से सर्वथा अभिन्न है । रुद्रट ने उनका गौडीय, वैदर्भी और पांचाली (अथवा लाटीया) नाम दे रखा था । आनन्द ने उनका कोई नामकरण नही किया । आगे चल कर विश्वनाथ ने इस संघटना और रीति के स्पष्ट अभेद का निर्देश किया है।—रीतेः सङ्घटनाविशेषत्वात्।[2]' तथा-'पदसङ्घटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्।उपकर्त्री रसादीनाम्।'[3]

आनन्दवर्धन के अनन्तर राजशेखर ने रीतियो का वैशिष्ट्य गुणो अथवा केवल समास के आधार पर नहीं निर्धारित किया।वे कुछ और आगे बढ़े उन्हो ने रीतिभेद-कर का निरूपण समास, अनुप्रास तथा यौगिक अथवा औपचारिक प्रयोग के आधार पर किया। उनकी गौडीया रीति लम्बे-लम्बे समासो मे युक्त अत्यधिक अनुप्रास से युक्त और योगवृत्ति-परम्परा से युक्त थी तो पांचाली रीति मे अल्प समास, अल्प[4]

1- ध्वन्या०, 3/46 तथा वृत्ति

2- सा द. पृ० 18

3- वही, 9/1

4- 'तथाविधावस्थयाऽपि तया यदवशीकृतः समासवदनुप्रासवद्योगवृत्तिपरम्परागर्भं' जगाद सा गौडीयारीतिः । — का. मी. पृ० 43-44

अनुप्रास और उपचार की महत्ता थी[1] तथा वैदर्भी मे उचित अनुप्रास का प्रयोग समास का अभाव और योगवृत्ति की महत्ता मान्य थी[2] । यद्यपि डा०राघवन,डा०नगेन्द्र तथा पं०बलदेव उपाध्याय आदि अनेक विद्वानो ने राजशेखर के इस मत को प्रस्तुत किया है परन्तु राजशेखर का योगवृत्ति परम्परागर्भ,तथा योगवृत्तिगर्भ से क्या आशय है ? कुछ स्पष्ट नही किया ।'काव्यमीमांसा' पर जो भी संस्कृत-टीकाएँ अथवा हिन्दी-रूपान्तर उपलब्ध है उनमे भी इन पदो की कोई स्पष्ट व्याख्या नही है । अतः राजशेखर के मन्तव्य को समझने मे कठिनाई सामने आती है । इमे जो आशय स्पष्ट हो सका है वह कुछ इस प्रकार है ।यद्यपि राजशेखर का निश्चित रूप मे यही आशय था, यह कह सकना कठिन है । गौडीया रीति को राजशेखर ने योगवृत्ति परम्परागर्भ कहा है,योगवृत्ति से आशय यौगिक शब्द शक्ति तथा परम्परा से आशय रूढि से है । कहने का अभिप्राय यह कि गौडीया रीति मे यौगिक शब्दो का तथा रूढिशब्दो का दोनो का ही प्रयोग होता है । रूढि शब्द से आशय यदृच्छाशब्दो से है । पांचाली को उन्हो ने उपचारगर्भ कहा है। उपचार का आशय यहॉ लक्षणा से है । इसमे सिद्ध होता है कि पांचाली मे योगरूढिशब्दो का प्रयोग होता है । क्यो कि योगरूढिशब्दो मे ही मम्मट आदि ने रूढिलक्षणा स्वीकार की है । वैदर्भी को योगवृत्तिगर्भ कहा गया है ।इसका आशय यह है कि वैदर्भी मे यौगिक शब्दो का प्रयोग होता है । वस्तुतः राजशेखर ने यह रीतियो का स्वरूपनिरूपण वर्णों,पदो एवं पदवृत्तियो के आधार पर किया है । गौडीया मे बड़े बड़े समासो का प्रयोग होता है,अनुप्रासो का बाहुल्य रहता है तथा यौगिक के साथ ही साथ रूढिशब्दो का भी प्रयोग रहता है अतः वह अधिक क्लिष्ट हो जाती है ।इसी लिए वह राजशेखर की दृष्टि मे अधम है । पांचाली मे थोड़े समास ,थोड़े अनुप्रास तथा योगरूढि(उपचार)शब्दो का प्रयोग होता है अतः यह गौडीया की अपेक्षा अधिक हृद्य एवं सुबोध होती है इसी लिए राजशेखर की दृष्टि मे यह मध्यम है । वैदर्भी मे समासो का अभाव,उचित अनुप्रासो का प्रयोग तथा यौगिक

1- 'तथाविधावस्थयाऽपि तया यदीषद्वशीकृतः ईषदसमासमीषदनुप्रासमुपचारगर्भं च जगाद सा पाञ्चाली रीतिः ।' —का.मी.पृ० 46

2- 'यदवस्थया च तया वशंवदीकृतः स्थानानुप्रासवदसमासं योगवृत्तिगर्भं च जगाद सा वैदर्भी रीतिः ।'—वही, पृ० 48

शब्दो का प्रयोग होता है । अतः सर्वथा सुबोध एवं हृद्य होतो है । अतः राजशेखर ने उसे उत्तम कहा । यौगिक शब्द का अर्थ व्याकरण सम्मत होता है अतः राजशेखर की दृष्टि से वह सबसे सरल होता है । योगरूढ़िशब्द चूंकि पूर्णतया यौगिक नही होता उसमे लक्षणा का सहारा लेना पड़ता है अतः वह यौगिक की अपेक्षा क्लिष्ट होता है । रूढ़ि शब्द तो यदृच्छा शब्द होने के कारण सर्वाधिक क्लिष्ट होता है । अस्तु इसे एक प्रस्ताव(Suggestion)ही मानना उचित है वैसे यह विषय अभी विचारसापेक्ष ही है ।आगे चल कर भोजराज आदि ने राजशेखर के ही विवेचन को स्वीकार कर अपनी कुछ अन्य मान्यताएँ भी सम्मिलित की ।

आचार्य कुन्तक का मार्ग स्वरूपनिरूपण इन समस्त आचार्यो से सर्वथा भिन्न और मौलिक है । उन्हो ने गुणो अथवा समास या अनुप्रास आदि को मार्गो के स्वरूपनिरूपण करने वाले तत्त्वो के रूप मे नही स्वीकार किया बल्कि कविकौशल , कविस्वभाव अथवा कवि की शक्ति व्युत्पत्ति और अभ्यास को मार्गो के भेदकतत्त्व के रूप मे स्वीकार किया । और इसी लिए उनके मार्गो का स्वरूपनिरूपण प्रामाणिक एवं युक्तिसंगत है।

सुकुमार मार्ग :

सुकुमार मार्ग मे कवि की सहज शक्ति का अद्भुत विलास विद्यमान रहता है । इसमे जो कुछ भी वैचित्र्य अथवा वक्रोक्ति कर चमत्कार होता है वह सब कवि प्रतिभाजन्य होता है, आहार्य नही होता । साथ ही सौकुमार्य की तद्विदाह्लादकारित्व रूप रमणीयता से रसमय होता है । इसमे कवि की किसी अनिर्वचनीय एवं अम्लान प्रतिभा से अपने आप, बिना किसी के प्रयत्न के, नवीन अंकुर के समान समुल्लसित होने वाले एवं सहृदयो को आह्लादित करने मे समर्थ शब्दो एवं अर्थो की रमणीयता विराजमान रहती है । अलंकारो का बहुत थोड़ा एवं सहृदय-हृदय को लुभा लेने वाला प्रयोग होता है और वह भी बिना किसी प्रयत्न के ही विरचित अलंकारो का जो कि केवल कवि-प्रतिभा के माहात्म्य से अपने आप उपस्थित हो जाते है ।यमक से भिन्न अन्य अलंकारो के विषय मे सहृदय-शिरोमणि आचार्य आनन्दवर्धन ने ठीक ही तो कहा था कि—

'अलंकारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहित चेतसः प्रतिभानवतः कवेरहम्पूर्विकया परापतन्ति।'

1- ध्वन्या० पृ० 221-222

यदि कवि में लोकोत्तर सहज शक्ति विद्यमान है तो कैसे न अलंकार उसके समक्ष अहमहमिकया उपस्थित होंगे ? इसमें कविशक्ति से समुल्लसित होने वाले पदार्थों के स्वभाव की ही ऐसी महिमा विद्यमान रहती है कि उसके आगे दूसरे काव्यों में विद्यमान नाना प्रकार का व्युत्पत्ति-विलास तिरस्कृत हो जाता है । इसमें विरचित वाक्यों का विन्यास श्रृंगारादि रसों एवं इत्यादि भावों के परमार्थ को समझनेवाले सहृदयों के हृदयों को आह्लादित करने वाला होता है । इसमें विद्यमान कवि-कौशल केवल अनुभवगम्य ही होता है । वह सर्वातिशायी रूप में केवल सहृदय के हृदय में ही परिस्फुरित होता है, उसे किसी इयत्ता की सीमा में बाँधकर अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता । जैसे रमणियों के रमणीय लावण्य आदि का सर्वोत्कृष्ट निर्माण करने वाले विधाता का कौशल अनिर्वचनीय होता है वैसे ही सुकुमार काव्य की रचना करने वाले कवि का कौशल भी अनिर्वचनीय ही होता है । इस तरह सुकुमार मार्ग में रस एवं स्वभाव का ही साम्राज्य रहता है । अलंकारों का वैचित्र्य भी रहता है लेकिन वह यत्न-साध्य न होकर सहज प्रतिभाजन्य होता है । कुन्तक ने इस मार्ग की उपमा विकसित कुसुमों वाले कानन से दी है और इस मार्ग पर विचरण करने वाले कवियों को भ्रमरों के सदृश निरूपित किया है जिससे इस मार्ग का कुसुम के सौकुमार्य के सदृश आभिजात्य तथा कवियों का पुष्पमकरन्द के सदृश सारसंग्रह का व्यसन द्योतित होता है[1] । आचार्य कुन्तक ने सुकुमार मार्ग का आश्रयण करने वाले कवियों में महाकवि कालिदास एवं सर्वसेन आदि का उल्लेख किया है[2] ।

विचित्र मार्ग :

जैसे सुकुमार मार्ग में सहज सौकुमार्य का सर्वोत्कर्ष विद्यमान रहता है वैसे ही विचित्र मार्ग में वैचित्र्य की पराकाष्ठा समुल्लसित होती है । यदि सुकुमार मार्ग में वस्तुस्वभाव और रस का साम्राज्य रहता है तो विचित्रमार्ग में अलंकार का एकाधिपत्य दिखायी पड़ता है । इसमें कविकौशल अपनी पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ होता है । यदि सुकुमार मार्ग के अनुप्राणक हैं वस्तुस्वभाव और रस तो विचित्रमार्ग के का प्राण

1- व.जी. 1/25-29

2- वही, पृ0 71

है वक्रोक्ति का वैचित्र्य । विचित्र मार्ग तलवार की धार के समान है जिस पर चलने वाले विदग्ध कवि महान् वीरों के मनोरथों के तुल्य हैं । इस मार्ग में प्रतिभा के प्रथम विलास के समय ही शब्द तथा अर्थ के भीतर ही वक्रता स्फुटित-सी होने लगती है । कहने का आशय यह कि कविप्रयत्न से निरपेक्ष ही शब्द तथा अर्थ का कोई स्वाभाविक वैचित्र्य झलकने लगता है । इस मार्ग में कविजन किसी एक अलंकार से ही सन्तुष्ट न होकर उसके सौन्दर्य को और भी अधिक पुष्ट करने के लिए दूसरे अलंकारों का उपनिबन्धन करते हैं जैसे जौहरी मुक्ताहार आदि में पद्मरागादि मणियों को जड़ देता है। इसमें अलंकारों का ही ऐसा अपूर्व माहात्म्य विराजता है कि अलंकार्य उसके सौन्दर्यातिशय में अन्तर्निविष्ट होकर प्रकाशित होता है जैसे कि मणियों की किरणच्छटाओं से देदीप्यमान अलंकारों द्वारा आच्छादित कामिनी का शरीर प्रकाशित होता है । विचित्र मार्ग का यही तो वैचित्र्य होता है कि इसमें लोकोत्तर सौन्दर्यातिशय से युक्त अलंकारों का विन्यास किसी अपूर्व वाक्यवक्रता को उन्मीलित करता है । इस मार्ग में जिस वस्तु का नवीन रूप में उल्लेख भी नहीं किया जाता उसे केवल उक्ति-वैचित्र्य से ही किसी अनिर्वचनीय सौन्दर्य की पराकाष्ठा को पहुंचा दिया जाता है । साथ ही इस विचित्र मार्ग में श्रेष्ठ कवि वस्तु के वास्तविक स्वरूप को अपनी लोकोत्तर प्रतिभा के बल से परिवर्तित कर प्रकरण के अनुरूप यथारुचि कोई दूसरा ही सहृदयाह्लादकारी स्वरूप प्रदान कर देता है । और वाच्य-वाचक-वृत्ति से भिन्न व्यंग्यभूत किसी अनिर्वचनीय काव्यार्थ को अभिव्यक्ति कराता है । साथ ही पदार्थों का रसनिर्भर अभिप्राय से युक्त स्वरूप किसी लोकोत्तर एवं मनोहारी वैचित्र्य से उत्तेजित करता है । अधिक क्या कहा जाय। वक्रोक्ति अर्थात् अलंकार का वैचित्र्य जिसके भीतर कोई अलौकिक अतिशयोक्ति परिस्फुरित होती रहती है, इस विचित्रमार्ग का प्राणभूत दिखाई पड़ता है । कुन्तक ने जो इस मार्ग की उपमा खड्ग की धार से प्रस्तुत की है उससे इस मार्ग की दुर्गमता और उस पर चलने वालों की कुशलता द्योतित होती है[1] । इस मार्ग का अनुसरण करने वाले कवियों के रूप में कुन्तक ने बाणभट्ट, भवभूति तथा राजशेखर का नामोल्लेख किया है[2] ।

1- व.जी. 1/34-43

2- वही, पृ07।

मध्यम मार्ग :

अभी तक यह विवेचित किया जा चुका है कि सुकुमार मार्ग में सहज सौकुमार्य एवं शक्तिजन्य चमत्कार प्रधान होता है तथा विचित्र मार्ग में आहार्य कौशल एवं वक्रोक्तिवैचित्र्य का साम्राज्य रहता है । लेकिन मध्यम मार्ग में, उभयात्मक होने के कारण, सहज एवं आहार्य दोनो प्रकार के कविकौशलसे सुशोभित होने वाली, वैचित्र्य एवं सौकुमार्य की सकीर्णता शोभा पाती है । सुकुमार तथा विचित्र दोनो ही मार्गों की सम्पदाये इसमें समान रूप से प्रतिस्पर्धा के साथ विद्यमान रहती है किसी का न्यूनाधिकत्व नही होता । इन दोनो ही मार्गों के माधुर्यादि गुण, जिनका कि आगे उल्लेख किया जायगा, इस मार्ग मे दोनो की ही छाया से सम्पन्न मध्यमवृत्ति का आश्रयण कर अपूर्व बन्धसौन्दर्य को प्रस्तुत करते है । यह मार्ग सुकुमार विचित्र तथा मध्यम सभी के प्रेमी सहृदयो का मनोहारी होता है । कान्तियो के वैचित्र्य से आह्लादजनक इस मार्ग के आश्रयण मे कुछ कमनीय वस्तु के व्यसनी लोग ही काव्य रचना मे प्रवृत्त होते है जैसे नागर जन अग्राम्य एवं विचित्र वेशभूषा की रचना मे समादृत्बुद्धि होते है[1] । इस मार्ग से काव्यरचना करने वाले कवियो मे कुन्तक ने मातृगुप्त, मायुराज तथा मञ्जीर आदि का नामोल्लेख किया है[2] ।

इस प्रकार आचार्य कुन्तक ने कवि-स्वभाव के आधार पर कवि के सहज एवं आहार्य कौशल की दृष्टि से सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम तीन मार्गों का निरूपण किया है ।

मार्गों के गुण :

आचार्य कुन्तक ने जिस प्रकार से मार्गों के विवेचन मे अपनी असामान्य मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है वैसे ही उनके गुणविवेचन मे भी उनकी मौलिकता की अमिट छाप विद्यमान है । यद्यपि गुणो का उल्लेख रामायण, महाभारत, तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र आदि अनेको ग्रन्थो मे मिलता है लेकिन साहित्यशास्त्र के क्षेत्र मे सर्वप्रथम गुणो का विवेचन प्रस्तुत करने वाले आचार्य भरत ही है ।उन्हो ने वाचिकाभिनय के प्रसंग मे काव्य के दस गुणो का वर्णन किया है । उन्हो ने गुण की

1- व.जी. 1/49-52

2- वही, पृ0 71

कोई परिभाषा नहीं दी, सिर्फ दोषों का विपर्यय कहा है —

'गुणा विपर्ययादेषां माधुर्यौदार्यलक्षणाः '[1]

यहाँ पर विपर्यय का अर्थ विपरीत है । दोषों के विपर्यय के कारण अर्थात् विपरीत स्वभाववाले होने के कारण माधुर्य, औदार्य आदि गुण होते है ।आचार्य वामन के सूत्र 'गुणविपर्ययात्मनो दोषाः '[2] की व्याख्या करते हुए गोपेन्द्र ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों मे कहा है कि 'विपर्ययात्मनो' का अर्थ है विपरीत स्वरूप वाले न कि अभाव रूप[3] । परंतु डा0लाहिरी ने इसका 'अभाव' अर्थ करना अधिक समीचीन समझा है[4] ।और विपरीत अर्थ लेने मे दो आपत्तियाँ प्रकट की है।(1) उनकी पहली आपत्ति तो यह है कि 'यदि दोषों के विपरीत गुणों को स्वीकार किया जाता है तो फिर यह आवश्यक नहीं था कि गुणों का विवेचन किया जाता क्योंकि गुणों का स्वरूप दोषों के स्वरूप विवेचन से ही सरलता से जान लिया जा सकता है था[5] । (2)उनकी दूसरी आपत्ति है कि विपर्यय का विपरीत अर्थ लेने पर माधुर्य और औदार्य का कथन आवश्यक नहीं जब कि अभाव अर्थ लेने पर उनका एक अभिप्राय प्रतीत होता है[6] । लेकिन डा0 साहब का यह अभिमत तथा उनकी आपत्तियाँ सर्वथा असमीचीन है । उनकी पहली आपत्ति तो अभाव अर्थ लेने पर भी विद्यमान ही रहती है क्योंकि किसी वस्तु का अभाव ज्ञान उसके विपरीत ज्ञान की अपेक्षा कहीं अधिक सरल होता है । अतः अभाव ही अर्थ लेने पर तो गुणों का विवेचन सर्वथा अनावश्यक प्रतीत होगा ।साथ ही गुण भाव रूप है अभाव रूप नहीं । दोष और गुण के अतिरिक्त एक अन्य स्थिति भी सम्भव है जो न गुण ही हो न दोष हो । अतः विपर्यय का अर्थ 'विपरीत स्वभाव'ही लेना ठीक है ।ऐसा करने पर यह आवश्यक नहीं रह जाता कि भरत के द्वारा गिनाये गये श्लेष, प्रसाद आदि दसों गुण उनके अभिमत गूढार्थ ,अर्थान्तर आदि दसों दोषों के ठीक विपरीत ही हों।गुण काव्यशोभा के उत्कर्षाधायक तत्व है और दोष उसके अपकर्षक। श्लेषादि काव्य मे उत्कर्ष प्रस्तुत करते है।अतः वे गुण है।भरत का स्पष्ट कथन है कि—

1- ना.शा. 16/95

2- का.सू.वृ0 2/1/1

3- 'विपर्ययात्मानो विपरीतस्वरूपाः नत्वभावरूपाः 'इत्यर्थः ।

4- "We should understand by the term 'Viparyaya' negation i.e. absence or 'non-existence' and not opposite" – C.R. [illegible], P.22.

5- वही, pp. 22-23.

6- वही. P.22 (fn.2)

'तैर्भूषिता भुवि विभान्ति हि काव्यबन्धाः
पद्माकरा विकसिता इव राजहंसैः ।।'[1]

रही दूसरी आपत्ति कि 'विपरीत' अर्थ लेने पर माधुर्य और औदार्य का कथन आवश्यक नहीं, वह भी युक्तिसंगत नहीं। क्योंकि ग्रन्थकारों की प्रायः यह परिपाटी-सी रही है कि गुणों एवं अलंकारादि का विवेचन करते समय 'माधुर्यादयो गुणाः, उपमादयस्त्वलंकाराः' कह देते हैं । इसी लिए भरत ने भी 'माधुर्यौदार्यलक्षणाः गुणाः' कह दिया । अब यदि यह आपत्ति की जाय की श्लेष का नाम पहले है अतः 'श्लेषलक्षणाः गुणाः' कहते तो ठीक नहीं। क्यों कि ऐसी आपत्ति तब समीचीन हो सकती थी जब वे 'माधुर्यौदार्य-लक्षणाः' न कह कर 'माधुर्यादयः गुणाः' कहे होते । परन्तु जो उन्हों ने 'माधुर्यौदार्य लक्षणाः' कहा उसके दो ही कारण हो सकते हैं-(1) माधुर्य गुण की सभी द्वारा स्वीकृति अथवा अनुभूति -उदाहरणार्थ रामायण में — 'पाठ्ये गेये च मधुरम्'[2]

तथा 'अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकानाञ्च विशेषतः'[3] इत्यादि के द्वारा तथा महाभारत में —

पाण्डवं प्रत्युवाचेदं स्मयन्मधुरया गिरा।'[4]

तथा- 'उवाचवाक्यं मधुराभिधानं मनोहरं चन्द्रमुखी प्रसन्ना'[5]

इत्यादि के द्वारा माधुर्य की स्वीकृति रही है ।यहाँ तक कि कौटिल्य ने लेखगुणों के रूप में नामतः भरतसम्मत केवल माधुर्य और औदार्य का ही उल्लेख किया है-

'अर्थक्रमः, सम्बन्धः, परिपूर्णता, माधुर्यमौदार्यं स्पष्टत्वमिति लेखसम्पत्।'[6]

अतः प्रसिद्धि-वश भरत ने माधुर्य का और उसके साथ ही औदार्य का नामोल्लेख कर दिया ।

(2) अथवा यह भी हो सकता है कि माधुर्य और औदार्य के प्रति उनकी अधिक आस्था रही हो जैसा कि उनके इन गुणों के अनेकशः नामोल्लेख से स्पष्ट है[7] एवं

1- ना.शा. 16/12।
2- रामायण, बालकाण्ड 4/8
3- वही, बालकाण्ड 4/17
4- महाभा0, सभा0, 8/9
5- वही, अनुशासन 32/5
6- अ.शा. 2/10/8
7- 'उदारमधुरैः शब्दैर्युक्तं कार्यं तु लक्षणम्।'-ना.शा. 16/120
तथा- 'अक्षरानुदारमधुरान् प्रमदाभिधेयान्' इत्यादि - वही, 16/12।

प्रकार इस विवेचन का निष्कर्ष यही रहा कि भरत के अनुसार गुण काव्य के शोभाधायक तत्त्व है जो कि दोषों के विपरीत स्वभाव वाले होते है । आचार्य भामह ने स्पष्ट रूप से गुणों का कोई विवेचन तो किया नहीं और जो कुछ भी माधुर्यादि का विवेचन प्रस्तुत भी किया है उसमें माधुर्यादि को गुण संज्ञा नहीं दी[1] । उन्हों ने केवल भाविक अलंकार को प्रबन्ध विषयक गुण कहा है[2] और अलंकार प्रकरण में ही माधुर्य आदि की चर्चा भी है । अतः स्पष्ट है कि भामह गुण का व्यवहार अलंकार की सीमा के परे नहीं रखते इस लिए गुण भी अलंकार हुए और चूंकि अलंकार काव्य में विशेष शोभा उत्पन्न करते हैं[3] अतः भामह के अनुसार भी गुण काव्य के शोभाधायक तत्त्व हुए। आचार्य भरत तथा भामह दोनों में से किसी ने भी गुणों का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से शब्द, अर्थ, रीति (अथवा मार्ग या संघटना) और रस आदि के साथ स्थापित नहीं किया। आचार्य दण्डी पहले आचार्य हैं जिन्हों ने गुणों का सम्बन्ध मार्गों से स्थापित किया । उन्हों ने ही सर्व प्रथम यह कहा कि -

'इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः ।'[4]

इस प्रकार गुणों को वैदर्भ मार्ग का प्राण कह कर उनकी नैसर्गिक वैदर्भ मार्ग में नित्य सत्ता स्वीकार की क्योंकि प्राण के बिना प्राणी रह ही कैसे सकता है । लेकिन दण्डी की दृष्टि में भी गुण अलंकार से अभिन्न ही थे, परंतु वे साधारण उपमा आदि अलंकारों से भिन्न असाधारण कोटि में आने वाले है[5] । वैदर्भ मार्ग में इनकी सत्ता नित्य थी जब कि अलंकारों की सत्ता अनित्य थी । यद्यपि दण्डी ने भी गुणों की रसाश्रयगतता का स्पष्ट निर्देश नहीं किया परन्तु उनके माधुर्य गुण के विवेचन से इस ओर इंगित अवश्य मिलता है । क्योंकि वे माधुर्य गुण को रसवद् कहते हैं और रस की स्थिति वाणी अर्थात् शब्द तथा वस्तु अर्थात् अर्थ दोनों में स्वीकार करते है[6], इस प्रकार माधुर्य शब्दनिष्ठ तथा अर्थनिष्ठ प्रकारों से दो प्रकार का हुआ । वे स्वयं भी अन्त में कहते है-

'विच्छित्तिमिति माधुर्यम्[7] ।'

आचार्य वामन पहले आचार्य है जिन्हों ने काव्य में शरीर और आत्मा की दृष्टि से विवेचन प्रस्तुत किया । जब कि दण्डी ने पूर्व काव्यशरीर और उसके अलंकार का भी विवेचन

1- द्रष्टव्य, भामह काव्या0, 2/1-3

2- वही, 3/53

3- द्रष्टव्य, वही 3/58

4- काव्यादर्श 1/42

5- द्रष्टव्य, वही2/1 तथा 2/3

6- वही, 1/51

7- वही, 1/68

किया जाता था[1]। वामनने शब्द तथा अर्थ को काव्यशरीर और रीति को काव्य की आत्मा कहा[2]। गुणयुक्त पदरचना को उन्होंने रीति कहा[3]। इस प्रकार रीतियों के साथ तो गुणों का सम्बन्ध जोड़ा ही। उसके साथ साथ उन्होंने भरत तथा दण्डी द्वारा स्वीकृत दशों गुणों को शब्द गुण तथा अर्थ गुण के रूप में विभक्त कर सर्वप्रथम प्रस्तुत किया[4]। साथ ही काव्य में गुणों एवं अलंकारों के सापेक्षिक महत्त्व का निरूपण करते हुए उनके भेद को भी स्पष्ट किया। उनकी दृष्टि से गुण काव्य-सौन्दर्य के उत्पादक शब्द और अर्थ के धर्म हैं, फलतः नित्य हैं। और अलंकार उन गुणों द्वारा उत्पन्न काव्य शोभा के अतिशय को प्रस्तुत करने वाले हैं परिणामतः वे अनित्य हैं[5]। आचार्य रुद्रट ने भी भामह की भाँति गुणों एवं अलंकारों का कोई विभाग नहीं किया। सारे ग्रन्थ में कहीं भी गुणों का विवेचन नहीं है उन्होंने जहाँ कहीं भी गुण शब्द का प्रयोग किया है वह अलंकारों के लिए ही[6]। रुद्रट के अनन्तर आचार्य आनन्दवर्धन ने प्राचीन आचार्यों द्वारा स्वीकृत दस गुणों की (अथवा बीस गुणों की) संख्या को केवल तीन ही रखा जिनका कि उल्लेख भामह ने किया था- माधुर्य, ओजस् और प्रसाद। अभिनवगुप्त का सुस्पष्ट कथन है कि-

'एवम् माधुर्यौजःप्रसादा एव त्रयो गुणा उपपन्ना भामहाभिप्रायेण।'[7]

आनन्द ने गुणों एवं अलंकारों का रसादिध्वनि की दृष्टि से विवेचन किया। रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया तथा गुणों की रसाश्रयता प्रतिपादित की। जब कि अलंकारों को शब्द और अर्थ, जो कि अंगरूप के अंगभूत हैं, उनके आश्रित स्वीकार किया[8] उन्होंने पूर्वाचार्यों के विवेचन पर भी दृष्टिपात किया और इस बातका विवेचन विस्तारपूर्वक किया कि गुण संघटना के आश्रित हैं अथवा संघटना गुण के आश्रित है या कि दोनों एक हैं। उनका स्वयं का अभिमत ब तो यह है कि संघटना गुणों के आश्रित है क्यों कि वे कहते हैं —

1- तैः शरीरञ्च काव्यानामलंकाराश्च दर्शिताः '-काव्यादर्श 1/10
2- द्रष्टव्य का.सू.वृ. 1/1/1 की वृत्ति तथा 1/2/6 तथा वृत्ति
3- वही, 1/2/7-8
4- द्रष्टव्य वही, 3/1/4 तथा 3/2/1
5- वही, 3/1/1-3
6- द्रष्टव्य, रुद्र.काव्या0 1/36 तथा न.सा. की व्याख्या
7- लोचन, पृ0213
8- ध्वन्या02/6 तथा वृत्ति

'गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा ।रसान्'[1]
अपने अभिमत के अतिरिक्त उन्हो ने दो अन्य अभिमत प्रस्तुत किए है –(1)सङ्घटना और गुण एक रूप है ।सम्भवतः यह अभिमत भामह के विवेचन को ध्यान मे रख कर प्रस्तुत किया गया है क्यो कि भामह ने माधुर्यादि का विभाजन समास के आधार पर किया है ।अतः उनकी दृष्टि मे अल्पसमासा,दीर्घसमासा आदि संघटनाओ एवं माधुर्यादि गुणो मे अन्तर मान्य न रहा होगा।यद्यपि उन्हो ने न तो माधुर्यादि को गुण की संज्ञा दी है न संघटना की[2] ।

(2)दूसरे अभिमत के अनुसार गुण संघटना के आश्रित है । यह मत आचार्य वामन का रहा है क्यो कि उन्हो ने गुण वती पद-संघटना को रीति कहा है।अतः गुण व्याप्य अथवा आश्रयी है और रीति व्यापक अथवा आश्रय[3] ।फलतः यह बात सिद्ध हो जाती है कि गुण संघटना के आश्रित होते है । वैसे दण्डी ने भी गुणो का आश्रय मार्ग को स्वीकार किया है । परन्तु दण्डी ने मार्गो को पदसंघटना रूप नही कहा ।आचार्य आनन्द ने इन दोनो ही अभिमतो का खण्डन किया है।उनके अनुसार गुणो के विषय तो रस होते है । माधुर्य और प्रसाद का प्रकर्ष करुणविप्रलम्भ आदि रसो मे होता है तथा ओजस् का प्रकर्ष रौद्रादि मे होता है । अतः गुणो के विषय नियत है । लेकिन संघटना के विषय अनियत है क्यो कि 'मन्दाक्रुसुमरेणुपिञ्जरितालका'जैसी दीर्घसमासा रचना शृंगार मे भी मिलती है । और 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति'इत्यादि असमासा रचना रौद्रादि मे भी उपलब्ध होती है।अतः गुण और संघटना को एक स्वीकार करने पर संघटना की ही भांति गुणो की भी अनियत-विषयता होने लगेगी जो कि अभीष्ट नही है । इस लिए यद्यपि प्रधानतया संघटना के भी आश्रय रसादि ही है तथापि गुणो एवं रसो का नियतसम्बन्ध होने के कारण गुणो को संघटना का आश्रय स्वीकार किया जा सकता है[4] । आनन्दवर्धन के अनन्तर राजशेखर सामने आते है पर दुर्भाग्यवश राजशेखर की 'काव्यमीमांसा'का गुण-विवेचन नामक 17 वां अधिकरण अप्राप्य है । प्रथम अधिकरण मे काव्यपुरुष के रूपक को प्रस्तुत करते हुए उन्हो ने कहा है कि –

1- ध्वन्या0 3/6

2- भामह, काव्या0 2/1-3

3- का.सू.वृ0 1/2/7-8

4- द्रष्टव्य, ध्वन्या0 पृ0310-322

'शब्दार्थौ ते शरीरम् ×× अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलंकुर्वन्ति ×× समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि ।'[1]

इस विवेचन से ऐसा लगता है कि राजशेखर आनन्द से काफी हद तक सहमत है । लेकिन वे केवल तीन गुण न मान कर समता और उदारता को भी सम्मिलित कर पाँच गुण स्वीकार करते है । इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से कुन्तक के पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा चिन्तित गुणो के आश्रय आदि तथा उनके स्वरूप का संक्षिप्त निरूपण किया गया।आचार्य कुन्तक का गुणविषयक चिन्तन भी इन पूर्वाचार्यों के गुणविषयक चिन्तन से भिन्न एवं अपूर्व ही है । उन्हो ने गुणो का सम्बन्ध रस के साथ नही स्थापित किया और न शब्द अथवा अर्थ के धर्मरूप मे ही उन्हे प्रतिष्ठित किया । अलंकार शब्द की व्याख्या करते हुए उन्हो ने कहा है कि अलंकार शब्द शरीर के सौन्दर्यातिशय को प्रस्तुत करने के कारण मुख्य रूप मे कटक कुण्डल आदि के लिए प्रयुक्त होता है,और उसी तरह सौन्दर्यातिशय को प्रस्तुत करने के कारण उपचार से उपमा आदि अलंकारो और उसके सदृश गुणो के लिए प्रयुक्त होता है।[2] इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि गुण काव्य मे सौन्दर्यातिशय को प्रस्तुत करते है । उन्हो ने गुणो को मार्गों के आश्रित माना है।गुण बन्ध-सौन्दर्य के हेतु होते है।साथ ही मार्गों मे ये समुदाय अर्थात् वाक्य या सम्पूर्ण बन्ध के धर्म होते है किसी शब्द अथवा अर्थ के धर्म नहीं होते । कुन्तक का अत्यन्त स्पष्ट कथन है कि —

'मार्गेषु गुणानां समुदायधर्मता ।यथा न केवलं शब्दादिधर्मत्वं तथा तत्तल्लक्षणव्याख्यानावसर एव प्रतिपादितम्।'[3]

आचार्य दण्डी तथा वामन ने जिन गुणो के वैशिष्ट्य से रीतियो अथवा मार्गों का वैशिष्ट्य स्थापित किया उनका स्वरूप एक ही था । यद्यपि दण्डी ने गौडीय मार्ग मे वैदर्भ मार्ग के गुणो का प्रायः विपर्यय स्वीकार किया था । परन्तु जो गुण उभयनिष्ठ थे उनके स्वरूप मे कोई विभिन्नता नहीं थी ।उदाहरणार्थ अर्थ व्यक्ति, उदारता और समाधि का दोनो ही मार्गों मे समानरूप से समादर है । साथ ही अर्थनिष्ठ माधुर्य को प्रस्तुत करने वाली अग्राम्यता उभयत्र समान ढंग से ग्रहणात्मक है[4] । वामन के ओजस्

1- का.मी. पृ033-34

2- 'अलंकारशब्दः शरीरस्य शोभातिशयकारित्वान्मुख्यतया कटकादिषु वर्तते तत्कारित्व - सामान्यादुपचारादुपमादिषु,तद्वदेव च तत्सदृशेषु गुणादिषु'—व.जी. पृ03

3-व.जी. पृ0 71

4- काव्यादर्श 1/67,75,76 तथा 100

और कान्ति गुण जिस रूप में गौडीया में मान्य है उसी रूप में उनका वैदर्भी में भी समादर है । माधुर्य और सौकुमार्य जिस रूप में ~~उनका वैदर्भी~~ पांचाली का उत्कर्ष प्रस्तुत करते है उसी रूप में वे वैदर्भी के उत्कर्षाधायक है ।लेकिन आचार्य कुन्तक ने जिन गुणों के वैशिष्ट्य से मार्गों का वैशिष्ट्य व्यक्त किया है वे चारों ही गुण प्रत्येक मार्ग में नामतः एक होते हुए भी स्वरूपतः भिन्न है । माधुर्यादि का जो स्वरूप सुकुमार मार्ग में सौकुमार्य का पोषक है उससे भिन्न माधुर्यादि का स्वरूप विचित्र मार्ग में वैचित्र्य को परिपुष्ट करता है।

आचार्य भरत ने काव्य के (1) श्लेष (2)प्रसाद(3)समता(4)समाधि(5)माधुर्य (6)ओजस्(7)पदसौकुमार्य(8)अर्थव्यक्ति (9)उदारता और (10)समाधि दस गुणों का वर्णन किया है।[1] तदनन्तर आचार्य दण्डी ने भी नामतः इन्हीं भरत के दसों गुणों को वैदर्भ मार्ग के प्राण रूप में स्वीकार किया किन्तु स्वरूपतः कुछ भेद स्थापित किया ।[2] उसके बाद आचार्य वामन ने भी नामतः उन्हीं दसों गुणों को स्वीकार किया किन्तु उन्होंने उनका शब्दगुण तथा अर्थगुण के रूप में द्विविध विभाजन कर उन्हें बीस कर दिया और उनके लक्षणों को काफी परिवर्तन के साथ प्रस्तुत किया ।[3] आचार्य भामह ने इन आचार्यों द्वारा गिनाए गए उक्त दस गुणों में से केवल माधुर्य, प्रसाद और ओजस् –तीन ही का नामोल्लेख किया है, यद्यपि गुण संज्ञा नहीं दी, यह स्पष्ट किया जा चुका है ।[4] आनन्दवर्धन ने भी आगे चल कर भामहाभिमत इन्हीं तीन गुणों को स्वीकार किया तथा रस की दृष्टि से उनका ऐसा विवेचन प्रस्तुत किया जो कि प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों को मान्य हुआ ।[5] यहाँ तक कि आगे चलकर आचार्य मम्मट[6] तथा विश्वनाथ[7] आदि ने वामनाभिमत दसों शब्दगुणों एवं दसों अर्थगुणों का उन्हीं तीनों में अन्तर्भाव प्रस्तुत किया । परन्तु आचार्य कुन्तक ने पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत दस गुणों में से केवल माधुर्य और प्रसाद दो गुणों का नामतः उल्लेख किया है ।

1- ना.शा. 16/96

2- काव्यादर्श 1/41-42

3- का.सू.वृ. 3/1/4 तथा 3/2/1

4- भामह काव्या02/1-3

5- ध्वन्या02/7-10

6- का प्र. 8/72 तथा वृत्ति

7- सा.द 8/9-16

उन्होने मार्गों के चार चार विशिष्ट गुणो का तथा प्रत्येक मार्ग मे साधारण दो गुणो का उल्लेख किया है । इस प्रकार मार्गों के कुल छः गुण कुन्तक ने स्वीकार किए है। प्रत्येक मार्ग मे प्राप्त होने वाले चार विशिष्ट गुण है –

(1) माधुर्य (2)प्रसाद (3) लावण्य (4)आभिजात्य तथा दो साधारण गुण है - (1) औचित्य और (2) सौभाग्य ।

अब क्रमशः प्रत्येक गुण के विभिन्न मार्गों मे प्राप्त होने वाले स्वरूपो का निरूपण किया जायगा।साथ ही यथावसर पूर्वाचार्यों के गुणो के साथ तुलना भी प्रस्तुत की जायगी ।

सुकुमार मार्ग के गुण

(1) माधुर्य गुण :

यह सुकुमार मार्ग का प्रधान गुण है । इसकी सुकुमार मार्ग मे उपस्थिति ऐसे पदो के विन्यास से होती है जिनमे प्रचुर समासो का अभाव रहता है । जो सुनने मे रमणीय होते है ।साथ ही जिनका अर्थ भी अत्यन्त रमणीय एवं सहृदयाह्लादकारी होता है[1] । माधुर्य की इस श्रुति रम्यता को आचार्य भरत ने भी प्रतिपादित किया था। उनके अनुसार 'जिसके कारण अनेको बार सुना गया अथवा बार-बार कहा गया है भी वाक्य उद्वेग या वैरस्य को उत्पन्न नही करता उसे माधुर्य गुण कहा गया है[2] ।' साथ ही भरत का सुकुमार अर्थ से संयुक्त सौकुमार्य गुण भी कुन्तक के इस माधुर्य मे अन्तर्भूत हो जाता है । आचार्य भरत का कथन है –

> 'सुखप्रयोज्यैर्यच्छब्दैर्युक्तं सुश्लिष्टसन्धिभिः ।
>
> सुकुमारार्थसंयुक्तं सौकुमार्यं तदुच्यते ।।– ना.शा. 16/107

आचार्य भामह ने श्रव्यता के साथ ही साथ अत्यधिक समास के अभाव को भी स्वीकार किया[3]।आचार्य दण्डी ने भामह और भरत की अपेक्षा माधुर्य को नये ढंग से प्रस्तुत किया। उन्होने रसवत्ता को माधुर्य कहा । तथा रस की स्थिति शब्द और अर्थ दोनो मे मानी। अतः माधुर्य दो प्रकार का हुआ –एक शब्दनिष्ठ और दूसरा अर्थनिष्ठ[4] । वैदर्भ मार्ग जिसे

1– व.जी. 1/30

2– 'बहुशो यच्छ्रुतं वाक्यमुक्तं वाऽपि पुनः पुनः ।
नोद्वेजयति यस्माद्धि तन्माधुर्यमिति स्मृतम् ।।' –ना.शा. 16/105

3– 'श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते ।।' –भामह,काव्या02/3

4– काव्यादर्श, 1/51 तथा 68

कि दण्डी सर्वश्रेष्ठ स्वीकार करते हैं उसमें रहने वाला शब्दनिष्ठ माधुर्य श्रुत्यनुप्रास के द्वारा आता है क्यों कि वह रसावह होता है[1] और अर्थनिष्ठ माधुर्य अग्राम्यता के द्वारा आता है क्यों कि यही अर्थ में रस का संचार करती है ।[2] इस प्रकार दण्डी का शब्दनिष्ठ माधुर्य आचार्य भरत, भामह और कुन्तक के माधुर्य की श्रव्यता को ही प्रस्तुत करता है । तथा अर्थनिष्ठ माधुर्य कुन्तक के माधुर्य की अर्थरमणीयता का पथ-प्रदर्शक है । आचार्य वामन का माधुर्य शब्दगुण निश्चित रूप से दीर्घ समासों के अभाव में रहता है[3] । हाँ, वामन का 'उक्तिवैचित्र्य' रूप माधुर्य अर्थगुण सबसे विचित्र है।[4] उक्तिवैचित्र्य को माधुर्यअर्थगुण के रूप में प्रस्तुत करना वामन की अपनी विशिष्ट उद्भावना है । वस्तुतः उक्तिवैचित्र्य तो प्रायः सभी गुणों तथा अलंकारों में रहता ही है। बिना उसके काव्य में काव्यता ही न आ पायेगी। अतः उसे एक विशेष गुण के रूप में प्रतिष्ठित करना समीचीन नहीं। और यही कारण है कि आगे चल कर किसी भी आचार्य ने वामन के उक्तिवैचित्र्य लक्षण माधुर्य अर्थ गुण को मान्यता नहीं दी । आचार्य मम्मट ने वामन के इस माधुर्य अर्थ गुण को अनवीकृतत्व दोष का परिहार रूप कहा । सम्भव है कि उन्हें ऐसा कहने की प्रेरणा आचार्य कुन्तक के अधोलिखित कथन से प्राप्त हुई हो । विचित्र मार्ग का निरूपण करते हुए वे कहते हैं कि जिस वस्तु का नवीन उल्लेख नहीं भी होता वह केवल उक्तिवैचित्र्य के माध्यम से ही सौन्दर्य की पराकाष्ठा पर पहुँचा दी जाती है —

> 'यदप्यनूतनोल्लेखं वस्तु यत्र तदप्यलम् ।
> उक्तिवैचित्र्यमात्रेण काष्ठां कामपि नीयते ।।'[5]

परन्तु सबसे बड़ा आश्चर्य तो डा० राघवन के उस कथन पर होता है जब कि कुन्तक के माधुर्य गुण में 'उक्तिवैचित्र्य' की विशिष्ट उद्भावना अपने आप बिना किसी आधार के कर बैठते हैं । माधुर्य गुण की लक्षण कारिका अथवा उसकी वृत्ति में कहीं भी कुन्तक

1- काव्यादर्श 1/52
2- वही, 1/62 तथा 64
3- का.सू.वृ. 3/1/21 तथा वृत्ति
4- वही, 3/2/11
5- व.जी 1/38

'उक्तिवैचित्र्य' को नहीं प्रस्तुत करते । डा० साहब को सम्भवतः पदों के सन्निवेश वैचित्र्य से 'उक्तिवैचित्र्य' का भ्रम हो गया है और उन्होंने तुरन्त उसका वामन के माधुर्य अर्थ गुण से ऐकरूप्य स्थापित कर दिया है[1]। आचार्य आनन्द ने तो रस की दृष्टि से माधुर्यादि का विवेचन प्रस्तुत किया है। अतः वाक्यविन्यास का वैशिष्ट्य उनके माधुर्य विवेचन का विषय नहीं। हाँ, आगे चल कर मम्मट आदि ने मध्यमसमासा अथवा असमासा संघटना को निश्चित ही माधुर्य रस की व्यंजिका स्वीकार किया है[2]।

(2) प्रसाद गुण :

सुकुमार मार्ग में प्राप्त होने वाले प्रसाद गुण को प्रस्तुत करते हैं असमस्त पद जिनकी अभिधानता प्रसिद्ध होती है जो तत्काल अर्थ का प्रतिपादन कर देते हैं । यदि उनमें समास का प्रयोग होता भी है तो केवल गमक समासों का ही । पदों का परस्पर सम्बन्ध बिना किसी व्यवधान के ही होता है । इस प्रसाद गुण के विषय समस्त अलंकार तथा सारे रस होते हैं । सर्वत्र इसकी उपलब्धि होती है[3]। प्रसाद गुण की इस 'झटिति अर्थसमर्पकता' का निरूपण आचार्य भरत[4], भामह[5], दण्डी[6], वामन[7], तथा आनन्दवर्धन[8] सभी ने एक स्वर से किया है । हाँ, वामन का केवल प्रसाद अर्थ गुण ही इस कोटि के अन्तर्गत

1- "The Guna called Mādhurya applies both the Śabda and Artha and comprises Asamastapadatva, Śrutiramyapadatva and Uktivaicitrya." Śri Pra. P.350

तथा "The third becomes the Uktivaicitrya which is the Arthaguṇa Mādhurya of Vāmana." Ibid. P.351

2- का.प्र. 8/74 तथा वृत्ति

3- व.जी. 1/31। डा० लाहिरी ने 'रसवक्रोक्तिविषयम्' का जो अर्थ अपने प्रबन्ध में प्रस्तुत किया है वह सर्वथा असमीचीन है । उनका अर्थ है कि प्रसाद गुण में रस और वक्रोक्ति एक महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करते हैं —("where Rasa and Vakrokti are playing an important part." — C.R.G. — P.132) और यही कारण है कि पादटिप्पणी में इसके विषय में उन्हें बहुत कुछ कहना पड़ा ।

"It will appear from the Kuntaka's exposition (Vakroktiḥ Sakalālaṅkārasāmānyam) that

(शेष अगले पृष्ठ पर)

आता है । उनका प्रसाद शब्द गुण तो स्वतः अस्पष्ट एवं अमान्य है । उन्होने बन्ध की शिथिलता को प्रसाद कहा है जब कि यह शैथिल्य ओजोमिश्रित होता है ।

(शेष पिछले पृष्ठ का)
the term Vakrokti as used here is only a symbol for poetic figures and it is idle to read in it its usual all-encompassing character for when it has been already enjoined that no poetry is charming without Vakrokti, there is no point in advocating its presence in connection with a particular guna" (Ibid fn. 22, P 132)

वस्तुतः कुन्तक ने प्रसाद गुण मे वक्रोक्ति के रहने की यहां कोई वकालत की ही नहीं। उन्होने यह तो कहा ही नहीं कि रस और वक्रोक्ति प्रसाद गुण मे एक महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करते है बल्कि उनके कहने का आशय तो यह है कि प्रसाद गुण के विषय सभी रस और सभी अलंकार होते है । अर्थात् प्रसाद गुण सर्वत्र साधारण है- जैसा कि आनन्दवर्धन आदि ने भी स्वीकार कर रखा है । कुन्तक की वृत्ति है –

'रसाः शृंगारादयः , वक्रोक्तिः सकलालंकारसामान्यं, विषयो गोचरो यस्य तत् तथोक्तम्।'

स्पष्ट ही डा० साहब के भ्रम का मूल बहुब्रीहि समास के स्थान पर तत्पुरुष समास समझ बैठना है जो कथमपि समीचीन नहीं । वक्रोक्ति कह देने से सारे अलंकारो मे अथवा डा०साहब के ही अनुसार समग्र काव्य मे प्रसादगुण की स्थिति स्वीकृत हो जाती है ।"

4- ना.शा 16/99
5- भामह, काव्या० 2/3
6- काव्यादर्श, 1/45
7- का.सू.वृ. 3/2/3
8- काव्या० 2/10

क्यों कि केवल शैथिल्य तो ओजस् का विपर्यय होने के कारण दोष होता है[1]। इस गुण की स्थिति को सिद्ध करने के लिए वामन ने काफी वकालत की है। परन्तु उसका स्वरूप वे अधिक स्पष्ट नहीं कर सके। ओजस् और प्रसाद के मिश्रण की ~~सम्भावना~~ संभाव्यता को सिद्ध करते हुए उन्होंने कहा है कि—

'करुणप्रेक्षणीयेषु सम्प्लवः सुखदुःखयोः।
यथानुभवतः सिद्धस्तथैवोजः प्रसादयोः[2]।।'

परन्तु ऐसा कहने पर भी उस गुण का कुछ सही स्वरूप सामने स्पष्ट नहीं होता। यहाँ तक कि आचार्य हेमचन्द्र ने तो इस दृष्टान्त को ही असिद्ध घोषित कर दिया है। 'सेयं दृष्टान्तस्यैव तावदसिद्धिः। दृष्टान्तासिद्धौ तत्र दार्ष्टान्तिकमपि प्रतिहतमित्यादि[3]। अत्यधिक समासों के प्रयोग का भी निषेध भामह ने किया है। उनका कहना है कि माधुर्य और प्रसाद को चाहते हुए मेधावीजन बहुत अधिक समासयुक्त पदों का प्रयोग नहीं करते[4]। रही इस गुण के विषय की बात, उसके समस्त रसों तथा समस्त रचनाओं में साधारण होने की बात आनन्दवर्धन कह चुके हैं —

' स च सर्वरससाधारणोगुणः सर्वरचना साधारणश्च, व्यंग्यार्थापेक्षयैव मुख्यतया व्यवस्थितो मन्तव्यः[5]।'

(3) लावण्य गुण :

उपर्युक्त माधुर्य और प्रसाद गुण तो प्रायः सभी आचार्यों द्वारा मान्य रहे। हाँ उनके स्वरूपों में कुछ अन्तर अवश्य रहा। परन्तु इन दो गुणों के अतिरिक्त जिन चार गुणों को कुन्तक ने प्रस्तुत किया है उन्हें अन्य किसी आचार्य ने इस रूप में प्रस्तुत नहीं किया। उनमें से पहला गुण लावण्य है। वर्णों के विशिष्ट विन्यास की शोभा से उत्पन्न पदों के विशिष्ट संयोजन के सौन्दर्य से उपलक्षित होने वाली वाक्यविन्यास की रमणीयता को लावण्य गुण कहते हैं। परन्तु वर्णों का यह विशिष्ट संयोजन अत्यन्त

1- का.सू.वृ 3/1/6-8
2- वही, पृ0 31.
3- हेम. काव्यानुशासन, पृ0277
4- भामह, काव्या0 2/1
5- ध्व.पृ0 213

आग्रहपूर्वक विरचित नहीं होना चाहिए[1]। इस तरह शब्द एवं अर्थ की सुकुमारता से मनोहारी वाक्यविन्यास का माहात्म्य लावण्य गुण कहा जाता है[2]। लावण्य गुण को प्रस्तुत करने वाले इस बन्धविन्यास के कुन्तक ने अनिर्वचनीय एवं सहृदयहृदयसंवेद्य माना है[3]। फलतः इस गुण का स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट नहीं होता ।

(4) आभिजात्य :

कुन्तक के अनुसार आभिजात्य गुण उसे कहते हैं जिसकी कान्ति स्वभावतः श्लक्ष्ण(कोमल) होती है । जो सुनने में अत्यन्त रमणीय होता है । और मन के द्वारा जिसका स्पर्श-सा किया जाता है । कहने का आशय यह कि उस रचना में आभिजात्य गुण स्वीकार किया जायगा जिसके सुनने से श्रवणेन्द्रिय एवं हृदय को अपूर्व स्पर्शसुख सा प्राप्त होता है जिसका कि केवल अनुभव ही किया जा सकता है, वाणी द्वारा उसे व्यक्त कर सकना असम्भव है[4]। कुन्तक का यह आभिजात्य गुण आचार्य भरत के कान्ति गुण को प्रस्तुत करता है जिसे कि उन्हों ने चन्द्रमा की तरह अन्तरिन्द्रिय मन और श्रवणेन्द्रिय को आह्लादित करने वाला बताया है[5]। साथ ही वामन का सौकुमार्य शब्द गुण भी इसी में अन्तर्भूत है । उन्हों ने अजरठत्व को सौकुमार्य कहा है और अजरठत्व का अर्थ गोपेन्द्र ने किया है कोमलता अर्थात् श्रवणसुखता ।—'अजरठत्वं कोमलत्वं श्रुति सुखत्वमिति यावत् ।'[6]

1- व.जी 1/32

2- 'तदयमत्रार्थः -शब्दार्थसौकुमार्यसुभगः सन्निवेशमहिमा लावण्याख्यो गुणः कथ्यते।'
-वही, पृ054

3- 'अत्र सन्निवेशसौन्दर्यमहिमा सहृदयसंवेद्यो न व्यपदेष्टुं पार्यते ।-वही', पृ054

4- व.जी.1/33 तथा वृत्ति

5- 'यन्मनः श्रोत्रविषयमाह्लादयति इन्दुवत् ।
लीलाद्यर्थोपपन्नां वा तां कान्ति कवयो विदुः ।।?'—ना शा.(16/112)

6- का.सू वृ. 3/1/22 तथा उस पर गोपेन्द्र की टीका ।

विचित्रमार्ग के गुण :

अभी जिन चार गुणों का उल्लेख सुकुमार मार्ग के गुणविवेचन में किया गया नामतः वे ही चार गुण विचित्र मार्ग में भी प्राप्त होते हैं परन्तु उनका स्वरूप सुकुमारमार्ग के गुणों के स्वरूप से विशिष्ट है । कुन्तक का स्पष्ट कथन है कि विचित्र मार्ग में सुकुमार मार्ग के गुणों में भी कोई अपूर्व अतिशय उत्पन्न कर दिया जाता है और यह अतिशय कवियों के आचार्य कौशल की शोभा में उपस्थित होता है ।[1]

(1) माधुर्य :

विचित्र मार्ग में पदों का माधुर्य वैचित्र्य का समर्थक होता है ।उसमें शिथिलता का अभाव रहता है और वह समग्र बन्धसौन्दर्य का कारणभूत विन्यास होता है[2] । कुन्तक का यह माधुर्य गुण आचार्य दण्डी के श्लेषगुण को प्रस्तुत करता है । क्यों कि शैथिल्य के अभाव को उन्होंने श्लेष कहा है[3] । साथ ही वामन के 'गाढबन्धत्व'रूप ओजस् शब्द गुण का भी अन्तर्भाव इसी में हो जाता है[4] ।

(2) प्रसाद :

आचार्य कुन्तक ने प्रतिपादित किया है कि कवियों ने समासरहित पदविन्यास को प्रसाद गुण स्वीकार किया है । यद्यपि समासाभाव का स्पष्ट निर्देश केवल भामह ने ही किया है ।तथापि सुबोध पदों के प्रयोग की बात सभी ने कही है अतः समासाभाव को प्रसाद गुण के लक्षण रूप में स्वीकार किया जा सकता है ।पर ओजस् की समासयुक्तता भरत[5], भामह[6], दण्डी[7], तथा आनन्दवर्धन[8] आदि सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है ।कुन्तक का कहना है कि विचित्रमार्ग का प्रसाद गुण कुछ कुछ ओजस् का स्पर्श करता हुआ दिखाई

1- 'एवं सुकुमारविहितानामेव गुणानां विचित्रे कश्चिदतिशयः सम्पाद्यत इति बोद्धव्यम्-

आभिजात्यप्रभृतयः पूर्वमार्गोदिता गुणाः ।

अत्रातिशयमायान्ति जनिताहार्यसम्पदः । ' -व.जी., पृ० 69

2- व.जी. 1/44

3- 'शिष्टमस्पृष्टशैथिल्यम्'-काव्यादर्श 1/43

4- 'गाढबन्धत्वमोजः - का सू. वृ० 3/1/5

5- समासवद्भिर्विविधैः पदैर्युतम् ।
सानुरागैरुदारैश्च तदोजः परिकीर्त्यते।।-ना.शा. 16/105

6- केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि-भामह,काव्या02/2

7- ओजःसमासभूयस्त्वम् -काव्यादर्श 1/80

8- यत्प्रकाशनपरः शब्दो दीर्घसमासरचनालंकृतं वाक्यम्।ध्व. पृ0209

पड़ता है[1] । कहने का आशय यह कि सुकुमार मार्ग के प्रसाद गुण की ही भाँति पदों को प्रसिद्ध अभिधानता, उनका बिना किसी व्यवधान के परस्पर सम्बन्ध विचित्र मार्ग के प्रसाद गुण में भी विद्यमान रहता है । अन्तर केवल यह होता है जहाँ सुकुमार मार्ग में असमस्त पदों का मनोहर विन्यास होता है वहाँ इस विचित्र मार्ग में कुछ कुछ दीर्घसमासों का भी प्रयोग होता है[2] । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वामन के अतिरिक्त पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत ओजस् गुण का अन्तर्भाव कुन्तक ने अपने विचित्र मार्ग के प्रसाद गुण में किया है। पं0 बलदेव उपाध्याय ने लिखा है कि —'(कुन्तक द्वारा स्वीकृत विचित्र मार्ग का) यही प्रसाद है जो वामन के अनुसार ओज का ही दूसरा नाम है— (गाढबन्धत्वमोजः — वामन 3/1/5)[3] ।' परन्तु उपाध्याय जी का यह कथन कथमपि समीचीन नहीं प्रतीत होता । वामन का 'गाढबन्धता' से आशय समासबाहुल्य से नहीं है बल्कि शैथिल्य के अभाव से है । बन्ध के शैथिल्य को प्रसाद कहते हुए इस बात का उन्हों ने स्पष्ट निर्देश किया है कि ओजस् गुण शैथिल्य का विपर्यय रूप है—'नन्वयमोजो विपर्ययात्मा दोषस्तत्कथं गुण इत्याह — गुणः सम्प्लवात् । ×× न शुद्धः । शुद्धस्तु दोष एवेति[4] ।' इसी लिए वामन के इस ओजस् शब्द गुण का अन्तर्भाव ऊपर कुन्तक द्वारा शैथिल्याभाव रूप वृत्तत्व में स्वीकृत माधुर्य में दिखाया गया है । साथ ही डा0राघवन आदि ने यहाँ यह भी निर्देश किया है कि कुन्तक ओजस् और प्रसाद के सम्प्लव की बात करते हुए वामन का अनुसरण करते हैं[5] । परन्तु यह कथन समीचीन नहीं । क्यों कि कुन्तक ने पहले तो अलग से कोई ओजस् गुण माना ही नहीं जैसा कि वामन ने प्रसाद से भिन्न रूप में स्वीकार किया था अतः इनके प्रसाद लक्षण में वामन के प्रसाद लक्षण की अवतारणा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरी बात जिसका कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है कुन्तक प्रसाद के द्वारा केवल असमस्त पदन्यास तथा ओजस् के द्वारा समस्त पदन्यास मात्र का प्रतिपादन करते हैं । अतः जहाँ इन दोनों के सम्प्लव की बात आती है वहाँ वामन की अपेक्षा कुन्तक का मन्तव्य अत्यन्त स्पष्ट एवं युक्तिसंगत प्रतीत होता है ।

1- व.जी. 1/45
2- 'तदयमत्र परमार्थः-पूर्वस्मिन् प्रसादलक्षणे सर्वयोजस्संस्पर्शमात्रमिह विधीयते- वही पृ067
3- भा.सा.शा. भाग 2, पृ0 190
4- द्रष्टव्य का सू वृ. 3/1/6-8 तथा वृत्ति
5- "Kuntaka follows Vāmana here who speaks of Ojah-prasadasamplava." — Sr Pra. P. 352

सुकुमार मार्ग के प्रसाद की सारी विशेषतायें इसमें विद्यमान रहती है अन्तर केवल इतना होता है कि वहाँ सर्वथा असमस्त पदों का अथवा समक्ष समास युक्त पदों का प्रयोग ही अभीष्ट होता है जब कि यहाँ समक समास युक्त पदों के साथ साथ कुछ कुछ दीर्घ समासयुक्त पदों का भी प्रयोग अभीष्ट है । सर्वथा असमस्तता अनभीष्ट है।

कुन्तक ने प्रसाद गुण का एक दूसरा भी लक्षण दिया है । उसके अनुसार जहाँ कवि एक वाक्य में उसके वाक्यार्थ के समर्थक बहुत से वाक्यों को पदों की भाँति परस्पर अन्वित रूप से सन्निविष्ट करता है वहाँ भी प्रसाद गुण ही होता है जिसके द्वारा कोई दूसरा ही बन्धसौन्दर्य समुल्लसित होता है।[1] यह कुन्तक की अपनी उद्भावना है । यद्यपि वामन ने ओजस् अर्थ गुण के एक प्रकार रूप में अर्थ की 'व्यास' रूप प्रौढता स्वीकार की है जिसमें एक ही वाक्यार्थ का अनेकों पद वाक्यों में विस्तार होता है[2] परन्तु उसके सौंदर्य एवं स्वरूप से कुन्तक द्वारा स्वीकृत इस प्रसादगुण के सौन्दर्य एवं स्वरूप में पर्याप्त अन्तर है । वामन द्वारा स्वीकृत व्यास में जैसा कि मम्मट ने कहा है[3] केवल उक्ति-वैचित्र्य है उसके द्वारा उत्पन्न किया गया बन्ध का कोई स्पृहणीय उत्कर्ष नहीं दिखाई पड़ता जब कि कुन्तक द्वारा स्वीकृत प्रसाद गुण में स्पष्ट ही कविकौशल अपनी पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ दिखाई पड़ता है और सहृदयों को अच्छी तरह आह्-लादित करने में समर्थ है ।

(3) लावण्य

कुन्तक ने सुकुमार मार्ग के लावण्य का लक्षण प्रस्तुत करते समय बताया था कि उसमें वर्णों के विन्यास एवं पदों के विशिष्ट संयोजन से उत्पन्न सहज सौन्दर्य से बन्ध की रमणीयता प्रकृष्ट हो जाती है । इस विचित्र मार्ग के लावण्य में उससे कुछ अतिरेक होता है और यह अतिरेक उन पदों के प्रयोग से आता है जो परस्पर संश्लिष्ट होते है जिनके अन्त में विसर्गों का लोप नहीं हुआ रहता है और जिनमें संयोग से पूर्व ह्रस्व वर्णों का प्रयोग रहता है[4]। यह भी कुन्तक की अपनी ही उद्भावना है । डा०नगेन्द्र

1- व.जी., 1/46

2- द्रष्टव्य का.सू.वृ. 3/2/2 तथा वृत्ति

3- का.प्र. पृ० 396

4- व.जी. 1/47

ने लिखा है कि — 'वास्तव में यह गुण भी विचित्रमार्ग के प्रसाद गुण की ही कोटि का है । रचना का रूप दोनों में मूलतः भिन्न नहीं है ।'[1] पता नहीं डा०साहब का यहाँ 'कोटि 'शब्द से क्या अभिप्राय है । परन्तु उनका यह कथन कि दोनों में रचना का रूप मूलतः भिन्न नहीं है —'सर्वथा असमीचीन है । विचित्र मार्ग के प्रसाद के दोनों ही लक्षणों में कुन्तक ने कहीं भी ऐसे पदों के प्रयोग का निरूपण नहीं किया जिनके अन्त में विसर्गो का लोप नहीं हुआ रहता तथा जिनमें संयोग में पूर्व ह्रस्व वर्णो का प्रयोग रहता है ।जब कि विचित्र मार्ग के लावण्य गुण में इन्हीं तत्त्वों के कारण सुकुमार मार्ग के लावण्य गुण की अपेक्षा अतिरेक की सृष्टि होती है ।हाँ, जैसा डा०राघवन ने निर्देश किया है इसे प्राचीन वामनादि आचार्यो द्वारा स्वीकृत श्लेष और ओजस् का संयुक्त रूप यथाकथंचित् स्वीकार किया जा सकता है[2] ।

(4) आभिजात्य :

सुकुमार मार्ग के आभिजात्य गुण को कुन्तक ने स्वभावतः मसृण कान्ति से युक्त बताया था किन्तु विचित्रमार्ग के आभिजात्य गुण के विषय में उनका कहना है कि वह न तो अधिक मसृण(कोमल)कान्तिवाला ही होता है और न उसमें अधिक कठोरता ही विद्यमान रहती है ।उसकी कान्ति दोनों की मध्य-वर्तिनी होती है जो मनोहारिणी होती है और जिसका सम्पादन कवि के समग्र कौशल द्वारा किया जाता है । कहने का आशय यह है कि कविकौशल की प्रौढता उसमें साफ झलकती रहती है[3] ।

मध्यम मार्ग के गुण :

मध्यम मार्ग का स्वरूप निरूपण करते हुए कुन्तक ने कहा है कि इस मार्ग में सुकुमार तथा विचित्र दोनों ही मार्गों के माधुर्य, प्रसाद लावण्य और आभिजात्य गुण दोनों ही मार्गों की छाया से सम्पन्न मध्यम वृत्ति का आश्रयण कर अपूर्व बन्धसौन्दर्य को प्रस्तुत करते है —

1- भा.का.भू. भाग 2, पृ0 365

2- द्रष्टव्य,श्रृ.प्र.पृ0 352-353

3- व.जी. 1/48

'माधुर्यादिगुणग्रामो वृत्तिमाश्रित्य मध्यमाम् ।[1]
यत्र कामपि पुष्णाति बन्धच्छायातिरिक्तताम् ॥'

इसी लिए मध्यम मार्ग के गुणों के कोई अलग से लक्षण नहीं प्रस्तुत किए गए। कुन्तक ने प्रत्येक गुण के केवल उदाहरण दे दिए हैं। यहाँ गुणों की रचना में भी कवि की सहज प्रतिभा और आचार्य कौशल का मञ्जुल सामञ्जस्य विद्यमान रहता है।

तीनों ही मार्गों के साधारण गुण

इस प्रकार प्रत्येक मार्ग के अलग-अलग विशिष्ट गुणों का विवेचन कर कुन्तक ने तीनों ही मार्गों में साधारण रूप से विद्यमान रहने वाले दो गुणों का विवेचन प्रस्तुत किया है। वे हैं—औचित्य और सौभाग्य। इनमें से औचित्य की केवल गुण रूप में स्थापना ही कुन्तक की अपनी उद्भावना है। अन्यथा औचित्य का विवेचन अथवा काव्य में उसकी महत्ता का निरूपण कुन्तक से पूर्ववर्ती अन्य आचार्यों ने भी कर रखा था। इस का विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा। सौभाग्य गुण की कल्पना साहित्यशास्त्र में कुन्तक की नितान्त मौलिक उद्भावना कही जा सकती है। अब कुन्तक के अनुसार इन गुणों का स्वरूप निरूपण किया जायगा।

(1) औचित्य गुण :

कुन्तक ने औचित्य गुण के दो लक्षण प्रस्तुत किए हैं। प्रथम लक्षण के अनुसार जिस उक्तिवैचित्र्य के द्वारा स्वभाव (अथवा पदार्थ) का उत्कर्ष भलीभाँति सुस्पष्ट ढंग से परिस्फुटित होता है तथा उचित कथन ही जिसका प्राण होता है उसे औचित्य गुण कहते हैं।[2] इसके उदाहरण रूप में कुन्तक ने अधोलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

हे नागराज ! बहुधास्य नितम्बभागं
भोगेन गाढमभिवेष्ट्य मन्दराद्रेः ।
सोढाविषह्यवृषवाहनयोगलीला-
पर्यङ्कबन्धनविधेस्तव कोऽतिभारः[3] ॥

1- व.जी. 1/50

2- 'आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते ।
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यानजीवितम् ॥' — वही, 1/53

3- उद्धृत व.जी. पृ० 72-73

कोई वक्ता सागरमन्थन के समय मन्दराचल को अच्छी तरह लपेटने के लिए शेषनाग से कह रहा है कि 'हे नागराज ! इस मन्दर पर्वत के नितम्ब भाग को आप भली भाँति कस कर जकड़ लीजिए । भगवान शंकर को योग लीला में पर्यंकबन्धन की असह्य विधि का सहन कर लेने वाले आप के लिए (यह मन्दर) कौन बड़ा बोझ है।'

यहाँ पर कवि ने श नागराज के जिस स्वरूप का वर्णन किया है उससे औचित्य अपनी पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ दिखायी देता है । इस प्रकार यह औचित्य कभी अलंकारों के सम्यक् परिपोष में कभी रस के और कभी स्वभाव के सम्यक् परिपोष में प्रकाशित होता है ।

दूसरे लक्षण के अनुसार — जहाँ वक्ता अथवा श्रोता के सौन्दर्यातिशयसम्पन्नस्वभाव के द्वारा अभिधेय वस्तु आच्छादित हो जाती है वहाँ भी औचित्य गुण विद्यमान रहता है।[1] इसके उदाहरण रूप में कुन्तक ने महाकवि कालिदास का यह पद्य उद्धृत किया है—

'शरीरमात्रेण नरेन्द्र ! तिष्ठन्नाभासि तीर्थप्रतिपादितर्द्धिः ।
आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः ।।'[2]

विश्वजित् यज्ञ में सर्वस्व दान कर देने वाले महाराज रघु से गुरुदक्षिणा के निमित्त याचना करने के लिए आए हुए वरतन्तु के शिष्य कौत्स का कथन है कि 'हे नरेश ! सत्पात्रों को अपनी सारी सम्पत्ति दान देकर केवल शरीर से स्थित रहते हुए आप उसी प्रकार सुशोभित हो रहे हैं जैसे कि आरण्यकों के द्वारा उत्पन्न फलों के ग्रहण कर लेने के अनन्तर केवल ठंठल रूप से बचा हुआ नीवार सुशोभित होता है ।' यहाँ पर राजा की जो नीवार के साथ उपमा प्रस्तुत की गई है वह कौत्स के अपने अनुभव सिद्ध व्यवहार द्वारा प्रस्तुत की गई है अतः औचित्य का सम्यक् परिपोष रहा है । इस उपमा को प्रस्तुत करने के कारण वक्ता कौत्स का अपना ही स्वभाव सर्वातिशायी रूप से प्रस्फुटित हो उठता है जिससे कि अभिधेय वस्तु आच्छादित-सी हो जाती है । अतः औचित्य गुण का सम्यक् परिपोष यहाँ विद्यमान है ।

1- 'यत्र वक्तुः प्रमातुर्वा वाच्यं शोभातिशायिना ।
आच्छाद्यते स्वभावेन तदप्यौचित्यमुच्यते ।।—व.जी. 1/54

2- रघुवंश, 5/15

(2) सौभाग्य गुण

आचार्य कुन्तक ने जिस ढंग से सौभाग्य गुण को प्रस्तुत किया है उससे वह अनिर्वचनीय, केवल सहृदयहृदयसंवेद्य ही सिद्ध होता है। उनका कहना है कि काव्य के जितने शब्द, अर्थ आदि उपादेय तत्त्व है उनके समुदाय में से जिसके निमित्त कवि की शक्ति बड़ी ही सावधानी के साथ व्यवसाय करती है उसका गुण सौभाग्य होता है। यह सौभाग्य गुण केवल कवि-शक्ति के संरम्भ-मात्र से सम्पाद्य नहीं है बल्कि काव्य के जितने भी उपादेय तत्त्व है उन सब की सम्पत्ति के परिस्फुरण द्वारा सम्पाद्य है। उसके द्वारा सरसहृदय लोगों के चित्त में लोकोत्तर चमत्कार की सृष्टि होती है। अधिक क्या कहा जाय वही काव्य का एकमात्र प्राण होता है[1]।

आचार्य कुन्तक ने तीनों ही मार्गों में इन दोनों गुणों को काव्य के प्रत्येक अवयव में व्यापक रूप से रहने वाला बताया है। क्या पद, क्या वाक्य क्या प्रबन्ध सर्वत्र इनका साम्राज्य समुल्लसित होता रहता है[2]। पद की बात तो दूर रही वर्णों तक इस औचित्य और सौभाग्य गुणद्वय की व्यापकता रहती है। औचित्य की हानि यदि पद के एक देश, वाक्य, वाक्य के एकदेश, प्रबन्ध अथवा उसके एकदेश किसी प्रकरण में भी हुई तो सहृदयों को आह्लादानुभूति नहीं होती। प्रबन्ध का यदि एक भी प्रकरण औचित्य से हीन हुआ तो सारा का सारा प्रबन्ध उसी प्रकार दूषित हो जाता है जैसे किसी एक कपड़े का यदि कोई हिस्सा जल गया तो सारा कपड़ा जला हुआ दूषित मान लिया जाता है[3]। इसी प्रकार सौभाग्य गुण भी पद वाक्य-प्रकरण तथा प्रबन्ध प्रत्येक के सम्पूर्ण अवयव में व्याप्त होकर प्रतिष्ठित रहता है। वह काव्य में अनेक रसों के आस्वाद से रमणीय एवं लोकोत्तर चमत्कार को उत्पन्न करने वाला होता है। वस्तुतः वह काव्य का प्राणभूत

1- 'इत्युपादेयवर्गेऽस्मिन् यदर्थं प्रतिभा कवेः ।
सम्यक् संरभते तस्य गुणः सौभाग्यमुच्यते ॥'- व.जी. 1/55

××× तच्च न प्रतिभासंरम्भमात्रसाध्यम्, किन्तु तद्विहितसकलसामग्रीसम्पाद्यमित्याह--

सर्वसम्पत्परिस्पन्दसम्पाद्यं सरसात्मनाम् ।
अलौकिकचमत्कारकारि काव्यैकजीवितम् ॥—वही, 1/56

2- 'एतत् त्रिष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्ज्वलम् ।
पदवाक्यप्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्तते ॥' —वही, 1/57

3- 'वाक्यस्याप्येकदेशेऽप्यौचित्यविरहात् तद्विदाह्लादकारित्वहानिः। ××× प्रबन्धस्यापि क्वचित् प्रकरणैकदेशेऽप्यौचित्यविरहादेकदेशदाहदूषितपटप्रायता प्रसज्यते।'-
—वही, पृ० 76

होता है , अनिर्वचनीय होता है सहृदय केवल उसका अनुभव कर सकते है[1] । इसकी केवल सहृदयगोचरता का अन्यत्र भी निर्देश कुन्तक ने कविव्यापार वक्रता को प्रस्तुत करते समय किया है । उनका कहना है कवि व्यापार वक्रता ही एक ऐसी वस्तु है जिसके द्वारा सरस्वती किसी सहृदयैकगोचर अनिर्वचनीय सौभाग्य को प्राप्त हो जाती है —

'यस्मात् किमपि सौभाग्यं तद्विदामेव गोचरम् ।
सरस्वती समभ्येति तदिदानीं विचार्यते ।।'[2]

कुन्तक के विवेचन की समीक्षा एवं निष्कर्ष —

इस प्रकार कुन्तककृत मार्गों एवं गुणों का स्वरूप विवेचन समाप्त होता है । कुछ विद्वानों ने आचार्य कुन्तक द्वारा स्वीकृत सुकुमार विचित्र और मध्यममार्गों को क्रमशः आचार्य वामन आदि द्वारा स्वीकृत वैदर्भी, गौणीया और पांचाली के साथ एकरूप स्थापित किया है। पं० बलदेव उपाध्याय का कहना है कि- 'कुन्तक ने वैदर्भी रीति के लिए 'सुकुमार मार्ग' का नाम दिया है । वे गौडी रीति को 'विचित्रमार्ग' कहते है और पांचाली रीति का अभिधान 'मध्यममार्ग बतलाते है[3] ।' डा० लाहिरी ने भी वैदर्भीरीति और सुकुमार मार्ग को तथा गौडीयरीति और विचित्र मार्ग को एक रूप कहा है[4] । डा० राघवन का कथन है कि सुकुमार मार्ग प्राचीन वैदर्भी की पुनरुक्ति है[5] । परन्तु उक्त मार्गों

1- 'सौभाग्यमपि पदवाक्यप्रकरणप्रबन्धानां प्रत्येकमनेकाकारकमनीयकारणकलापकलितरामणीयकानां किमपि सहृदयहृदयसंवेद्यं काव्यैकजीवितमलौकिकचमत्कारकारि संवलिततया(ता) नेक रसास्वादसुन्दरं सकलावयवव्यापकत्वेन काव्यस्यगुणान्तरं परिस्फुरतीत्यलमतिप्रसंगेन।'

व.जी. पृ0 77-78

'यहां 'संवलितयानेक रसास्वादसुन्दरं 'पाठ कुछ अटपटा प्रतीत होता है । डा० राघवन ने 'संवलिततया अनेकरसास्वादसुन्दरं' पाठ(Sr. Pra., P.349)मानने का प्रस्ताव रखा है परन्तु उससे भी समीचीन पाठ 'संवलितानेक रसास्वादसुन्दरं 'प्रतीत होता है । क्यों कि डा० साहब का पाठ स्वीकार करने पर अर्थ की उतनी संगति नहीं बैठती जैसी कि बाद के पाठ को स्वीकार कर लेने पर । वैसे डा० डे ने पादटिप्पणी में वक्रोक्तिजीवित की एक पाण्डुलिपि में उक्त पाठ के स्थान पर 'पानकरसास्वादसुन्दरम्' पाठ प्राप्त होने का निर्देश किया है । यह पाठ भी असमीचीन नहीं है ।

2- व.जी. पृ0 29

3- भा.सा. शा.भाग ,2,पृ0139

4- "This (Sukumāra Mārga) probably corresponds to the Vaidarbhi Rīti of the Riti-theorists. xxx This is the Vicitra Mārga corresponding to the Gaudi Riti of Riti Theorists." — C.R.G., P.128.

5- "The Sukumāra Mārga is a restatement of the old Vaidarbhī." — Sr. Pra., P. 350

के स्वरूप विवेचन के अनन्तर इन विद्वानों के कथन की समीचीनता किसी भी तरह मान्य नहीं रह जाती । निदर्शनार्थ पहले वैदर्भी और सुकुमार पर ही दृष्टिपात करें। इन दोनों के स्वरूपनिर्धारण के मौलिकआधार में ही पर्याप्त अन्तर है । सुकुमार मार्ग कवि-स्वभाव, उसकी सहज शक्ति एवं सहजकौशल पर आधारित है जब कि वैदर्भी के स्वरूप-निर्धारण का आधार प्रदेश के अतिरिक्त सिवाय गुणों के और कुछ नहीं है । फिर उसमें सारे गुण विद्यमान रहते हैं फलतः उसमें कवि की शक्ति और व्युत्पत्ति अर्थात् उसके सहज और आहार्य दोनों ही कौशलों का उत्कर्ष विद्यमान होना अर्थापत्ति से ही सिद्ध है । जब कि कुन्तक के सुकुमार मार्ग में केवल सहज कौशलजन्य चमत्कार का ही उत्कर्ष विद्यमान रहता है । जहाँ कुन्तक ने अपने सुकुमारमार्ग को उपमा विकसित कुसुमों से युक्त कानन से दी है और उस पर विचरणकरने वालों का सादृश्य भ्रमर से स्थापित किया है वहीं वैदर्भ मार्ग (अथवा रीति) के प्रशंसक पद्मगुप्त परिमल ने उसकी उपमा तलवार की धार से दिया है—

> 'तत्त्वस्पृशस्ते कवयः पुराणाः श्रीभर्तृमेण्ठप्रमुखा जयन्ति ।
> निस्त्रिंशधारासदृशेन येषां वैदर्भमार्गेण गिरः प्रवृत्ताः ।।'[1]

जब कि कुन्तक विचित्रमार्ग की उपमा खड्ग की धार से देते हैं । रही सहृदयाह्लाद एवं स्वादि की बात, उसकी न्यूनता का कथमपि निषेध कुन्तक के किसी भी मार्ग में प्राप्त नहीं है । उनके सभी मार्ग एक समान सहृदयाह्लादकारी हैं , किसी की तनिक भी किसी से न्यूनता अथवा आधिक्य अभीष्ट नहीं। फिर भी वैदर्भी और सुकुमार मार्ग में कुछ समताओं का प्राप्त हो जाना असम्भव नहीं है । परन्तु उस थोड़े से ही साम्य के आधार पर एकरूप मान बैठना तो कथमपि उचित नहीं । गौडीया रीति और विचित्र मार्ग की तो कोई तुलना ही नहीं है । कहाँ एक देश रीति गौडीया और कहाँ कवियों की विदग्धप्रौढि का परिचायक विचित्र मार्ग ? कहाँ केवल दो गुणों ओजस् और कान्ति के प्राधान्य वाली गौडीया ? और कहाँ समग्र गुणों के विचित्रविलास से सम्पन्न विचित्रमार्ग ? इसी प्रकार पांचाली और मध्यम मार्ग की भी कोई तुलना नहीं है । अतः यह कहना कि कुन्तक ने क्रमशः वैदर्भी, गौडीया और पांचाली रीतियों को सुकुमार विचित्र और मध्यम नाम दे दिया है नितान्त भ्रममूलक है ।

1- नवसाहसांकचरितम् 1/5

उपर्युक्त मत के अतिरिक्त एक अभिनव मत प्रस्तुत करते हैं — आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि[1] उनका कहना है कि कुन्तक ने माधुर्य गुण को सुकुमार, ओजस् को विचित्रमार्ग और उन दोनों के मिश्रत्व से सम्भव होने वाले को मध्यम मार्ग कहा है -

'माधुर्यं सुकुमाराख्ये मार्गे केऽप्यवदन् बुधाः ।
विचित्रमोजस्तन्मिश्रीभावजं मध्यमं पुनः ।।'[1]

इसकी वृत्ति में वे कुन्तक का नाम्ना निर्देश करते हैं और वक्रोक्ति जीवित की सम्प्रति इत्यादि (1/24) कारिका उद्धृत करते हैं —

'माधुर्यं सुकुमारमिथमोजो विचित्रामिथं तदुभयमिश्रत्वसम्भवं मध्यमं नाम मार्गं केऽपि बुधाः कुन्तु(न्त) कादयोऽवदनुक्तवन्तः । यदाहुः —

सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः ।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः ।।'[2]

सूरि जी का यह कथन निश्चय ही भ्रान्तिमूलक है । उनकी इस भ्रान्ति का कारण है वैदर्भी आदि रीतियों एवं सुकुमारादि मार्गों को एक समझ बैठना । यदि अलंकार महोदधि के विषय विवेचन पर दृष्टिपात किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि उनका विवेचन कुन्तक के विवेचन का बहुत ऋणी है । अथवा यह भी कहा जा सकता है कि सूरि ने इस ग्रन्थ में वक्रोक्ति और ध्वनि सिद्धान्त को समन्वित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । कुन्तक के वे कितने ऋणी हैं इसका विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा । उक्त मत को प्रस्तुत करते समय वे ध्वनिसिद्धान्त के समर्थक मम्मट आदि का अनुसरण करते हैं । आचार्य मम्मट ने वृत्त्यनुप्रास का विवेचन करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि उद्भट आदि ने माधुर्य के व्यंजक वर्णों से युक्त उपनागरिका तथा ओजस् के प्रकाशक वर्णों से युक्त परुषा तथा शेष वर्णों से युक्त कोमला अथवा ग्राम्या वृत्तियों का निरूपण किया है[3] । और इन्हीं को वामन आदि आचार्यों ने वैदर्भी, गौडीया और पांचाली रीतियाँ कहा है[4]। लेकिन यदि विचार किया जाय तो मम्मट का यह कथन सर्वथा समीचीन भी नहीं है । वामनकी गौडीया को यथाकथंचित ओजस् की व्यंजक कह भी

1- अलं. महो. 6/29
2- वही, पृ0 201-202
3- काव्य.प्र. 9/80 तथा वृत्ति
4- 'एतास्तिस्रो वृत्तयो वामनादीनां मते वैदर्भी-गौडी-पांचालाख्या रीतयो मताः ।'
— काव्य.प्र पृ0 409

सकते हैं क्योंकि उसमें ओजस् और कान्ति गुण की प्रधानता वामन ने स्वीकार की है। लेकिन वैदर्भी में तो सारे गुण विद्यमान रहते हैं अतः उसकी केवल माधुर्य-व्यंजकता कैसे स्वीकार की जायगी। साथ ही पांचाली की माधुर्य व्यंजकता का निषेध कैसे होगा? जिसमें कि माधुर्यगुण ही सौकुमार्य के साथ प्रधानरहता है। वामन ने पदसंघटना को रीति अवश्य कहा है लेकिन वह पदसंघटना विशिष्ट अर्थात् गुणवती स्वीकार की गयी है। फिर वामन के सारे गुण केवल वर्णों की ही विशिष्टता के प्रतिपादक नहीं हैं कि वर्णों की व्यंजकता उसमें स्वीकार की जाय। केवल समास के आधार पर रीतिविभाजन रुद्रट ने किया है लेकिन उन्हों ने चार रीतियाँ स्वीकार की हैं। अनुप्रासादि को रीति विभाजन की कसौटी में यद्यपि राजशेखर आदि ने अवश्य कसौटा है परन्तु कैसे वर्णों का अनुप्रास किस रीति में होना चाहिए इसका कोई निर्देश नहीं किया गया है। ध्वनिकार आनन्दवर्धन जब स्वयं संघटना की रसव्यंजकता अथवा गुणव्यंजकता का निरूपण करते हैं तो वहाँ-भी उनकी संघटना वामन की रीतियों की समानार्थी नहीं है। उसे केवल रुद्रट की रीतियों के तुल्य स्वीकार किया जा सकता है जिसका कि गुणों से उन्हों ने कोई भी सम्बन्ध वर्णित नहीं किया। आनन्दवर्धन को उक्त संघटना और वामनाभिमत रीतियों के स्वरूपवैशिष्ट्य का पूर्ण ध्यान था तभी तो उन्हों ने उन दोनों का ऐक्य नहीं स्थापित किया और आगे चलकर स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि जिस ध्वनि तत्त्व का हमने स्वरूप-निरूपण किया है वह जिन आचार्यों को अस्फुट रूप में ही स्फुरित हुआ था उन्हों ने उक्त ध्वनि तत्त्व का स्पष्ट निरूपण करने में अपने को असमर्थ पाकर वैदर्भी, गौडीया और पांचाली रीतियों को प्रवर्तित कर दिया —

> 'अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम्।
> अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः॥'[1]

साथ ही जैसा कि मम्मट ने प्रतिपादित किया है कि वामन की दस गुणों की कल्पना अयथार्थ है क्योंकि उनका माधुर्य, ओजस और प्रसाद तीन ही गुणों में अन्तर्भाव हो जाता है,[2] ऐसा स्वीकार कर लेने पर भी वैदर्भी रीति की केवल माधुर्यव्यंजकता तो सिद्धनहीं हो जाती क्यों कि वहाँ आचार्य वामन द्वारा समग्र गुणों की स्थिति स्वीकार करने से

1- ध्वन्या० 3/46 उस पर आनन्द की वृत्ति है— 'एतद्ध्वनिप्रवर्तनेन निर्णीतं काव्यतत्त्वमस्फुटस्फुरितं सदशक्नुवद्भिः प्रतिपादयितुं वैदर्भी, गौडी, पांचाली चेति रीतयः प्रवर्तिताः। रीतिलक्षणविधायिनां हि काव्यतत्त्वमेतदस्फुटतया मनाक् स्फुरितमासीदिति लक्ष्यते तदत्र स्फुटतया सम्प्रदर्शितेनान्येन रीतिलक्षणेन न किंचित्।'—वही, पृ० 517

2- द्रष्टव्य, काव्य.प्र. 8/72 तथा उसकी वृत्ति

कारण माधुर्य, ओजस् और प्रसाद–तीनो की ही अनिवार्य रूप से स्थिति होगी । अतः रीतियो का ही माधुर्यादि गुणव्यंजक संघटना के अन्तर्गत अन्तर्भाव युक्तिसंगत नही है तो सुकुमारादि मार्गों के अन्तर्भाव के विषय मे क्या कहा जाय ? जब कि वामन ने रीतियो को विशिष्टपदसंघटना ही सही पदसंघटना तो कहा था, लेकिन कुन्तक अपने मार्गों को पदसंघटना नही कहते बल्कि उनके मार्ग काव्यरचना के कारणभूत अथवा काव्यो के स्वरूप ही है[1] । कुन्तक के गुण भी शब्द अथवा अर्थ के गुण न होकर बन्ध के गुण है । उन्हे गुणो की शब्दादिधर्मता नही स्वीकार है । वे उन्हे समुदाय का धर्म कहते है[2] । साहित्यदर्पणकार ने भी जिन रीतियो को रसादि की उपकारक स्वीकार किया है उनका स्वरूप वामन आदि द्वारा स्वीकृत वैदर्भी आदि रीतियो से सर्वथा भिन्न है । उनका विभाजन केवल समास तथा गुणो के व्यंजकवर्णो के आधार पर किया गया है[3] । अस्तु नरेन्द्रप्रभ सूरि ने तो माधुर्यादि को ही सुकुमारादि मार्ग निरूपित किया है । ऐसा समन्वय करने मे अवश्य ही उनका विवेक त्रुटित हो गया है । उनके माधुर्य का मूलायतन शृंगार है तथा ओजस् की लीलाविहारभूमि वीर रस है[4] । परन्तु कुन्तक ने कही भी अपने सुकुमारमार्ग का मूलायतन शृंगार को अथवा विचित्रमार्ग की लीलाविहारभूमि वीररस को स्वीकार नही किया। उनके सुकुमार मार्ग का आश्रयण करके भी कवि वीरादि समस्त रसो को प्रस्तुत कर सकता है और विचित्र मार्ग का आश्रयण करके भी शृंगारादि रसो को सर्वोत्कृष्ट रूप मे निबद्ध किया जा सकता है। लगता तो कुछ ऐसा ही है कि सूरि जी साहित्यशास्त्र मे अपना अपूर्व योगदान दिखाने के चक्कर मे ऐसी भूल कर बैठे क्यो कि मम्मट आदि ने वामन आदि की रीतियो का अन्तर्भाव तो कर दिया था परन्तु कुन्तक के सुकुमारादि मार्गों का उल्लेख ही नही किया। और सुकुमारादि की मौलिक स्थापना कुन्तक ने वैदर्भी आदि रीतियो का खण्डन करके प्रस्तुत किया था अतः यह आवश्यक था कि उनका भी अन्तर्भाव किया जाना। इस अपूर्व योगदान का श्रेय सम्भवतः सूरि जी ही प्राप्त करना चाहते थे । और इसी लिए उनका अन्तर्भाव करने मे सूरि जी को प्राचीन आचार्यों द्वारा स्वीकृत माधुर्यादि की व्यंजक रचना से भिन्न

1- द्रष्टव्य, व. जी. पृ0 45 तथा 47

2- ,, वही, पृ0 71

3- सा. द. 9/1-5 तथा वृत्ति

4- द्रष्टव्य, अलं. महो. 6/15 तथा वृत्ति 21

'विशेषव्यंजिका' रचना की कल्पना करनी पड़ी जब कि पूर्वाचार्यों के द्वारा स्वीकृत गुणाभिव्यंजक रचना का स्वरूप सर्वथा इन्हों ने निरूपित किया है । उनमे से उनकी माधुर्य की विशेषतः व्यंजिका रचना का स्वरूप कुन्तक के सुकुमार मार्ग के स्वरूप का अनुवादभूत है तथा ओजस् का व्यंजक गुम्फ विचित्रमार्ग का संक्षिप्त प्रति रूप-सा है। यहाँ उनकी इन विशेष व्यंजिका रचनाओं के उद्धरण से यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जायगी । उनकी माधुर्य की विशेषव्यंजिका रचना का स्वरूप है —

'मनाक्प्रातिभोन्मीलद्वाच्यवाचकचारिमा ।
अक्लेशकल्पितस्वल्पतद्विदाह्लादभूषणा ।।
भावस्वाभाविकौदार्यतर्जिताहार्यकौशला ।
अमन्दरसनिष्यन्दसुधोद्गारतरंगिता ।।
कविकर्मैकमर्मज्ञमनस्सान्द्रवनाद्भुतम् ।
प्रलक्ष्याचयवा तस्मिन् रचना काचिदीदृशी।[1]'

इसकी तुलना ज़रा कुन्तक के सुकुमारमार्ग का निरूपण करने वाली अधोलिखित कारिकाओं से करें —

'अम्लानप्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थबन्धुरः ।
अयत्नविहितस्वल्पमनोहारिविभूषणः ।।
भावस्वभावप्राधान्यन्यक्कृताहार्यकौशलः ।
रसादिपरमार्थज्ञमनःसंवादसुन्दरः [2] ।।'

स्पष्ट ही सूरि जी ने अपनी रचना के स्वरूप निरूपण में कुन्तक द्वारा प्रयुक्त पदों में हेरफेर कर अपनी अपूर्वता प्रदर्शित करने का असफल प्रयास किया है । अब इनके ओजस् गुण के व्यंजक गुम्फ के स्वरूप पर ध्यान दें —

'सत्कार यौस्फुटवक्रिमबन्धुरः ।
स्फुरत्प्रतिभोत्पन्नकाव्यवैचित्र्यचुम्बितः ।
उत्तमन्नवताकाव्यवैचित्र्यलोललालितः ।
सुप्रबन्धपतासुश्लेषनवव्यापिवस्तुनः ।।
वितन्वन् मनसः कामं दीप्तिवृत्तिरिसतां मुदम्।[3]
निसर्गकलितोद्दाररचना गुम्फः किलोचितः ।।

1- अलं. महो. 6/18-20
2- व. जी. 1/25-26
3- अलं. महो. 6/24-26

इसकी समानार्थी कुन्तक की पंक्तियाँ हैं —

'प्रतिभाप्रथमोद्भेद समये यत्र वक्रता ।
शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते ।।'[1]

यदप्यनूतनोल्लेखं वस्तु यत्र तदप्यलम् ।
उक्तिवैचित्र्य मात्रेण काष्ठां कामपि नीयते ।।'[2] यहाँ अवधेय यह है कि सूरि जी ने अपने सम्पूर्ण ग्रन्थ में कुन्तक द्वारा प्रयुक्त वक्रता शब्द के स्थान पर वैचित्र्य शब्द का प्रयोग किया है । इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि सूरि जी का कुन्तक के सुकुमारादि मार्गों का माधुर्यादि गुणों के साथ ऐक्य स्थापित करने का प्रयास एक दुराग्रह मात्र है ।जो कि तथ्य से कोसों दूर है । यह तो कुन्तक के मार्गों से सम्बन्धित विप्रतिपत्तियों का यथासंभव निराकरण रहा ।अब गुणों के विषय में विचार किया जायगा ।

कुन्तक ने छः मार्ग गुणों का विवेचन किया है जिनमें माधुर्य और प्रसाद को तो गुण-रूप में सभी आचार्यों ने स्वीकृत किया है । औचित्य को यद्यपि किसी ने गुण-रूप में प्रस्तुत नहीं किया फिर भी काव्य में उसकी एक परमावश्यक तत्त्व के रूप में स्थापना प्रायः सभी आचार्यों ने कर ली है । शेष तीन गुण बचते हैं जिनका निरूपण कुन्तक ने मौलिक ढंग से किया है, और वे हैं —लावण्य,आभिजात्य तथा सौभाग्य । लावण्य और आभिजात्य के गुणत्व के विषय में स्वयं कुन्तक ने शंका उठा कर उसका समाधान किया है। वस्तुतः लावण्य और आभिजात्य लड़कियों के लोकोत्तर सौन्दर्य के धर्म-रूप में स्वीकार किए गए हैं अतः उन्हें काव्यधर्म के रूप में स्वीकार करना उचित नहीं है यह पूर्वपक्षी की ओर से शंका हो सकती है । इसका कुन्तक ने उत्तर दिया है कि यदि ऐसा स्वीकार किया जायगा तो जो पूर्वप्रसिद्ध माधुर्य और प्रसाद गुणों को काव्य के धर्म-रूप में प्रतिपादित किया गया है वह भी अमान्य सिद्ध होगा।क्योंकि माधुर्य गुड़ इत्यादि मधुर पदार्थों के धर्म के रूप में प्रसिद्ध है और प्रसाद स्वच्छ जल तथा स्फटिक आदि के धर्म-रूप से प्रसिद्ध है ।वस्तुतः उन्हें उपचार से काव्यधर्म कहा जाता है । जिस प्रकार गुड़ादि मधुर द्रव्यों से आनन्द प्राप्त होता है उसीप्रकार का

1- व.जी. 1/34

2- वही 1/38

का आनन्द काव्य के जिस धर्म से प्राप्त होता है उसे उपचार से माधुर्य कहा गया है। साथ ही जिस प्रकार स्वच्छ जल अथवा स्फटिक आदि में स्फुटावभासित्व होता है उसी प्रकार काव्य में उसके जिस धर्म के कारण स्फुटावभासित्व आता है उसे उपचार से प्रसाद गुण भी स्वीकार किया गया है । इसी व्याख्यान-सरणि का अनुसरण करते हुए कह सकते है कि जैसा चेतन ~~चमत्कारित्व-लावण्य~~ चमत्कारित्व कामिनी के लावण्य में विद्यमान रहता है वैसा ही चेतनचमत्कारित्व काव्य में कवि की शक्ति एवं कौशल से उल्लिखित कान्ति से कमनीय जिस बन्ध-सौन्दर्य में होता है उसे लावण्य से भिन्न और किस शब्द द्वारा प्रतिपादित हो किया जा सकता है । तथा जिस प्रकार कामिनी की सहज कोमल कान्ति को आभिजात्य कहा जाता है उसी प्रकार काव्य में विद्यमान सहज कोमल कान्ति को आभिजात्य द्वारा व्यक्त किया जाना उचित है[1]। लगता यह है कि कुन्तक ने कविता की एक लोकोत्तर कामिनी के रूप में कल्पना प्रस्तुत की है ।क्योंकि तीसरा सौभाग्य गुण भी कामिनियों के लोकोत्तर सौन्दर्य को प्रतिपादित करने वाला स्वीकार किया गया है। इस कथन की पुष्टि स्वयं कुन्तक द्वारा तृतीय उन्मेष की समाप्ति पर वाक् की नायिका के साथ की गई तुलना में हो जाती है और यही कारण है कि कुन्तक ने सहृदयों द्वारा कामिनियों के गुण रूप में स्वीकृत लावण्य,आभिजात्य और सौभाग्य गुणोंको काव्य के गुण रूप में प्रस्तुत किया है ।रूपगोस्वामी के शब्दों में लावण्य का स्वरूप इस प्रकार है—

'मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा ।

प्रतिभाति यदंगेषु लावण्यं तदिहोच्यते।।[2]' अर्थात् मुक्ताफलों के बीच जैसी छाया की तरलता दिखाई पड़ती है उसी प्रकार जो अंगों ~~के~~ के बीच छाया की तरलता दिखाई पड़ती है उसे लावण्य कहते हैं । सनातन रूपक ने युवतियों के दस गुणों का निरूपण किया है । वे हैं—(1) रूप (2) वर्ण (3) प्रभा (4) राग (5) आभिजात्य(6) विलासिता(7)लावण्य(8)लक्षण (9) छाया और (10) सौभाग्य[3]।स्पष्ट रूप से कुन्तक ने इनमें से तीन गुणों का काव्यधर्म के रूप में ग्रहण किया है।रूपक के अनुसार युवती के इन तीनों गुणों के स्वरूप इस प्रकार है —

1- द्रष्टव्य, व.जी. पृ0 55-56

2- उज्ज्वलनीलमणि, पृ0225

3- 'रूपं वर्णः प्रभा राग आभिजात्यं विलासिता ।

लावण्यं लक्षणं छाया सौभाग्यंचेत्यमी गुणाः ।।सद्‌धर्मलीला,काव्यमाला संस्करण 1908

(1) लावण्य - 'तरंगितस्वभावाप्यायिनेत्रपेयव्याप्तिस्निग्धमधुर इव शीतिमोत्कर्षैक सार इव पूर्णेन्दुवदाह्लादको धर्मः संस्थानसुषिमव्यंग्यो लावण्यम्[1] ।' अर्थात् लहराते हुए तरलपदार्थ की प्रकृति वाले पूर्ण तृप्ति प्रदान करने वाले एवं दृष्टको बाँध कर देखने योग्य व्यापक रूप मे प्राप्त होने वाले तरल एवं मधुर तत्त्व सा और शीतिमा की पराकाष्ठा मात्र के उपादान वाला-सा पूर्णचन्द्र के समान आनन्दित करने वाला एवं गढ़न की सुघड़ता से व्यक्त होने वाला धर्मलावण्य है ।

(2) आभिजात्य - 'कुसुमधर्मा मार्दवादिर्लालनादिरूपः स्पर्शविशेषः पेशलताख्य आभिजात्यम्[2]।' अर्थात् पेशलता की संज्ञा वाला पुष्पप्रकृतिक मृदुतादिरूप या लालनादि स्वरूप स्पर्श-विशेष आभिजात्य गुण होता है ।

(3) सौभाग्य - 'स्फुरत्तलक्ष्यपभोगपरिमलादिगम्योऽन्तः सारैकतया वशीकर्ता सहृदयसंवेद्यधर्म-भेदश्च सौभाग्यम्।तत्राद्ये स्मरमदपुलकादयो भेदाः। अन्ये तु भणितरूपपरिभोगाघ्राणास्वादसौरभादिभिर्युगपद्रसवत्त्वात् पञ्चेन्द्रियसुखलाभः[3]।' अर्थात् चमकती हुई शोभा एवं उपभोगार्ह सौरभ आदि से जानने योग्य आभ्यन्तर तत्त्व तथा अनुरागजनक होने के कारण वश मे कर लेने वाला सहृदयैकगम्य धर्मविशेष सौभाग्य होता है । उन दोनो मे पहले मे के स्मर मद, पुलक आदि भेद होते है और दूसरे के अन्दर कपोतहस्त, रूप, सम्भोग, चुम्बन और (स्वाभाविक) अंग-परिमल आदि के द्वारा एक साथ होसमयतावश (क्रमशः श्रवण, नेत्र, उपस्थ 'रसना और नासिका इन) पाँचो इन्द्रियो को (सुनने, देखने, छूने, चखने और सूँघने) का सुख प्राप्त होता है।

स्पष्ट है कि राजानक रुय्यक ने जिस प्रकार लावण्य को संस्थान की सुषिमा से व्यंजित होने वाला माना है उसी प्रकार कुन्तक ने भी इसे सन्निवेश सौन्दर्य कहा है— 'लावण्यं सन्निवेश सौन्दर्यम्[4] ।' महाकवि कालिदास ने भी लावण्य को संस्थान सौन्दर्य के रूप मे ही स्वीकार किया है ।पार्वती के सौंदर्य का वर्णन करते हुए उनका कथन है—

'वृत्तानुपूर्वे च नचातिदीर्घे जङ्घे शुभे सृष्टवतस्तदीये।
शेषांगनिर्माणविधौ विधातुर्लावण्य उत्पाद्य इवास यत्नः[5] ।'

1- वही, पृ0 158
2- वही, पृ0 158
3- वही, पृ0 158
4- व जी. पृ0 43

राजानक रुय्यक ने युवतियों के आभिजात्य गुण को पेशलता कहा जाने वाला स्पर्शविशेष कहा है जिसमें कुसुमसदृशमृदुता और लालित्य विद्यमान रहता है व कुन्तक का आभिजात्य गुण भी चेतःसंस्पर्श करने वाला एवं सहज कोमलकान्तिसम्पन्न है । इस प्रकार काव्य में लावण्य और आभिजात्य गुणों की कुन्तक की कल्पना समुचित ही है । काव्य का बन्धसौन्दर्य कामिनी के अवयवसंस्थानसौन्दर्य के समान है अतः उसकी प्रतीति लावण्य के द्वारा ही करायी जा सकती है क्यों कि कामिनी के अवयवसंस्थान का सौन्दर्य सहृदयों में लावण्य नाम से प्रसिद्ध है अभिनव गुप्त भी इसी का समर्थन करते हैं– 'लावण्यं हि नामावयवसंस्थानाभिव्यंग्यमवयवव्यतिरिक्तं धर्मान्तरमेव[1] ।' इसी तरह काव्य की सहजसुकुमारता एवं चेतःसंस्पर्शत्व की प्रतीति कामिनी के सहज सौकुमार्य एवं विशिष्ट स्पर्श के प्रतिपादक आभिजात्य के द्वारा ही कराना समुचित है ।अब बचता है सौभाग्य गुण । निश्चित ही कामिनियों का सर्वश्रेष्ठ गुण सौभाग्य है । महाकवि कालिदास के शब्दों में कामिनियों के सौन्दर्य की सफलता सौभाग्य में ही निहित होती है । उनका स्पष्ट कथन है –

'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता।'[2]

वस्तुतः सौभाग्य ही तो सौन्दर्य की पराकाष्ठा है । जैसे पति का वल्लभत्व स्त्री का सौभाग्य होता है वैसे ही सहृदय का वल्लभत्व कविता का सौभाग्य होता है ।यद्यपि वामन दण्डी आदि आचार्यों ने सौभाग्य को गुण रूप में कहीं नहीं प्रतिपादित किया परन्तु सौंदर्य की पराकाष्ठा को सूचित करने के लिए सौभाग्य शब्द का प्रयोग अवश्य किया है । आचार्य दण्डी उपमा के दोषों के वर्णन-प्रसंग में इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि जहाँ उपमानोपमेयगत लिंगभेद, वचनभेद, हीनता, अथवा आधिक्य काव्यतत्वज्ञों के उद्वेगजनक नहीं होते वहाँ उपमा दुष्ट नहीं मानी जायगी[3] । इसी के अनन्तर वे उपमान की हीनता पर भी उपमा की निर्दोषता का उदाहरण –

'भवानिव महीपाल देवराजो विराजते।'[4] को प्रस्तुत कर उसके समर्थन में कहते हैं कि –

'अलमंशुमतः कक्षामारोढुं तेजसा नृपः ।
इत्येवमादौ सौभाग्यं न जहात्येव जातुचित्[5]॥'

1- लोचन, पृ049-50
2- कुमारसंभव, 5/1
3- का.द. 2/51
4- का.द. 2/51
5- का.द. 2/52

स्पष्ट ही सौभाग्य का प्रयोग यहाँ सहृदयहृदयसंवेद्य उत्कृष्ट सौन्दर्य के लिए किया गया है । आचार्य वामन ने भी इसी अर्थ में 'सौभाग्य' पद का प्रयोग किया है । उपमा के प्रपंच रूप में समस्त अर्थालंकारों का सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत कर वे कहते हैं कि 'अन्य कवियों द्वारा विरचित एवं स्वरचित इन तमाम उदाहरणों के द्वारा हमने शब्दवैचित्र्यगर्भा उपमा का ही विस्तार किया है लेकिन जो सौभाग्यसम्पन्न अन्य अलंकार स्वीकृत हैं उनकी भी योजना श्रेष्ठ कवियों को कर लेना चाहिए –

'एभिर्निदर्शनैः स्वीयैः परकीयैश्च पुष्कलैः ।
शब्दवैचित्र्यगर्भेयमुपमैव प्रपंचिता ।।
अलंकारैकदेशा ये मता सौभाग्यभागिनः ।
तेऽप्यलंकारदेशीया योजनीया कवीश्वरैः ।।'[1]

स्पष्ट है यहाँ भी सौभाग्य का प्रयोग सहृदयानुभवैकगम्य विशिष्टसौन्दर्य के लिए ही किया गया है ।क्यों कि किस अलंकार में सौभाग्य है इसका निर्णय साधारण कवि नहीं कर सकता बल्कि कवीश्वर अथवा सहृदयधुरीण ही कर सकते हैं । इतना ही नहीं सहृदयशिरोमणि एवं ध्वनिप्रस्थापनकारमाचार्य आनन्दवर्धन भी सौभाग्य को काव्य के सर्वोत्कृष्ट तत्व के रूप में स्थापना करते हैं । उनका कहना है कि 'सहृदयहृदयाह्लादक काव्य का कोई ऐसा प्रकार है ही नहीं जिसमें कि प्रतीयमान अर्थ के संस्पर्श से सौभाग्य न आ जाता हो–

'सर्वथा नास्त्येव सहृदयहृदयहारिणः काव्यस्य स प्रकारो यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेन सौभाग्यम् ।'[2]

अतः आचार्य कुन्तक द्वारा सौभाग्य गुण को काव्य के एकमात्र प्राण के रूप में प्रतिष्ठा उचित ही है ।आनन्दवर्धन का उक्त कथन कुन्तक के इस कथन को और भी पुष्ट कर देता है कि सौभाग्य गुण कवि की सावधानशक्ति एवं काव्य की समग्र उपादेय सामग्री द्वारा सम्पादनीय होता है[3]। इस विवेचन से ऊपर प्रस्तुत किया गया मन्तव्य और भी अधिक पुष्ट हो जाता है कि कुन्तक के मार्ग न तो वामन आदि की रीतियों के स्थानीय हैं और न उनके मार्गों के गुण ही उनकी रीतियों के गुणों के ही स्थानीय हैं ।

1– का. सू. वृ., पृ. 68

2– ध्व., पृ0 474-75

कुन्तक के इन गुणो के स्वरूप विवेचन के विषय मे अधिकतर विद्वानो ने यह आलोचना प्रस्तुत की है कि कुन्तक सफलता पूर्वक अपने मार्गगुणो के स्वरूप को स्पष्ट नही कर सके । उनके अधिकतर गुणो के लक्षण परस्पर संकीर्ण है । निदर्शनार्थ डा०हरदत्त शर्मा ने सुकुमार मार्ग के गुणो की परस्पर संकीर्णता को प्रस्तुत करते हुए दिखाया है कि- (1) माधुर्य और प्रसाद की असमस्तपदता एक रूप है ।(2) माधुर्य का मनोहारित्व जिसे व्याख्या मे कुन्तक ने श्रुतिरम्यत्व और अर्थरम्यत्व कहा है वह आभिजात्य के श्रुतिपेशलता शालित्व से अभिन्न है ।(3) माधुर्य का विन्यास जिसे व्याख्या मे सन्निवेशवैचित्र्य कहा गया है वह लावण्य की सन्निवेश महिमा से भिन्न नही है ।[1] डा० साहब के इस कथन मे सत्य अवश्य है ।लेकिन यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो जिन दो गुणो मे डा० साहब ने अभिन्नता अथवा स्वरूपविभाजन की स्पष्ट रेखा की अनुपलब्धि को प्रस्तुत किया है, उनका परस्पर भेद स्पष्ट हो जायगा ।माधुर्य और प्रसाद मे असमस्तपदता की सत्ता तो केवल कुन्तक ने ही नहीं बल्कि सभी आचार्यों ने स्वीकार की है ।वामन ने तो स्पष्ट निर्देश किया है । परन्तु उनके अतिरिक्त अन्य आचार्यों की भी इसमे विमति नही है । क्यो कि दीर्घ समासो के प्रयोग से प्रसाद की प्रसादता अर्थात् उसकी समर्पकता ही समाप्त हो जायगी।साथ ही लक्षण की दृष्टि से यदि देखा जाय तो अन्य आचार्यों की भाँति कुन्तक ने भी 'असमस्तपदता'का निर्देश माधुर्य की लक्षणकारिका मे ही किया है प्रसाद की लक्षणकारिका मे नही।कारिका मे उपात्त प्रसाद की अन्य विशेषतायें उसे स्पष्ट ही माधुर्य से भिन्न सिद्ध कर देती है[2] इसी तरह 'श्रुतिपेशलताशालित्व'की बात केवल आभिजात्य की लक्षणकारिका मे उपात्त है माधुर्य की नही।[3] माधुर्य की मनोहारिता की व्याख्या करते हुए कुन्तक ने उसमे श्रुतिरम्यता को प्रस्तुत किया है । इसदृष्टि से श्रुतिरम्यता माधुर्य मे गौण है जब कि आभिजात्य मे उसी का प्राधान्य है । श्रुतिपेशलता ही आभिजात्य का प्राण है । यह गुण काव्यरचना के उस सौन्दर्य को प्रस्तुत करता है जिसके श्रवणसे ही सहृदय आनन्दातिरेक से अभिभूत हो जाता है । इसे लावण्य की कोटि मे रखना अधिक समीचीन होगा।लावण्य के विषय मे कुन्तक ने स्पष्ट निर्देश किया है कि "उसकी प्रतीति शब्द पदार्थ से अव्युत्पन्न लोगो को भी केवल श्रवणमात्र से ही हो जाती है—

1- I.H.Q., Vol. 8, 1932 "Kuntaka's Conception of Gunas" P. 257-266

2- द्रष्टव्य व.जी. 1/30-31

'तस्य(काव्यस्य) सन्निवेशसौन्दर्यमेवाव्युत्पन्नानामपि श्रवणमात्रेणैव हृदयहारित्वकर्षया (लावण्यमिति) व्यपदिश्यते ।'[1]

वस्तुतः लावण्य और आभिजात्य में हो ऐसा सूक्ष्म अन्तर है कि उनके स्वरूप को एक दूसरे से पृथक् करना कठिन है ।कुन्तक के शब्दों में एकत्र 'सन्निवेशसौन्दर्यमहिमा' अनिर्वचनीय एवं सहृदयसंवेद्य है तो दूसरी जगह श्रुतिपेशलता और स्वभावमसृणच्छायता।[2] लेकिन इतना कह देने मात्र से उनका कोई स्पष्ट स्वरूपविभाजन सामने नहीं आता।इतना तो अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि जैसा काव्यसौंदर्य कुन्तक लावण्य और आभिजात्य के द्वारा प्रस्तुत करना चाहते है उसे किसी इयत्ता की परिधि में बाँधा नहीं जा सकता । क्यों कि वैसा कर देने पर वह सौन्दर्य अपने समग्र रूप में अभिव्यक्त न हो पायेगा जो कुन्तक को अभिप्रेत नहीं। और इसी लिए आचार्य रुय्यक द्वारा कामिनियों के जिन लावण्यादि गुणों का लक्षण ऊपर प्रस्तुत किया गया है उनमें भी परस्पर भेद करना असम्भव ही है ।उनका सचमुच अनुभव ही किया जा सकता है । यहाँ तक कि सौभाग्य को तो उन्हों ने स्पष्ट ही सहृदयसंवेद्य कहा है । उदाहरणार्थ मम्मट आदि ने ओजोव्यंजक तथा माधुर्यव्यंजक वर्णों समासों एवं रचनाओं का स्पष्ट उल्लेख किया है लेकिन क्या ओजोव्यंजक वर्ण आदि का प्रयोग शृंगाररस की रचनाओं में नहीं मिलता अथवा कि माधुर्यव्यंजक वर्णादिक का प्रयोग वीररौद्रादि रसों की रचनाओं में नहीं मिलता ?अवश्य मिलता है और इसे स्वयं ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने स्वीकार किया है[3]। परन्तु वैसे विवक्ष स्थलों पर माधुर्यादि का निर्णायक सहृदयहृदय होताहै,उनकी व्यंजक रचनायें,वर्ण अथवा समास आदि नहीं । इसीलिए कुन्तक किसी गुण की परिधि को इयत्ता से अवच्छिन्न नहीं करते।सर्वत्र सहृदयहृदय को प्रमाणरूप में प्रस्तुत करते है ।काव्य में लावण्य गुण होता है ,वह भी वर्णविन्यासविच्छित्ति से ही प्रस्तुत होता है परन्तु किन वर्णों के विन्यास से इसका कुन्तक नियमन नहीं कर देना चाहते क्यों कि उसमे लक्षण के अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों से दूषित होने का का भय है । जिसे कामिनियों के लावण्य,आभिजात्य और सौभाग्य गुणों की परख है और वस्तुतः सहृदय है वह निश्चय ही काव्य के लावण्य,आभिजात्य और सौभाग्य गुणों को परख लेगा ।वाणी वस्तुतः किसी वस्तु के समग्र सौन्दर्य को प्रस्तुत कर सकने में असमर्थ होती है ।कामिनियों के सौभाग्य के

1- व.जी. पृ० ५६

विषय में तो कुन्तक ने स्पष्ट ही कहा है कि उसे केवल वे ही नायक समझ पाते हैं, वह भी वर्णन नहीं कर सकते, जो कि कामिनियों का उपभोग करने की सचमुच योग्यता रखते हैं —

'कामिनीनां किमपि सौभाग्यं तदुपभोगोचितानां नायकानामेव संवेद्यतामर्हति।'[1]

इस प्रकार गुणों के स्वरूपनिरूपण में कुन्तक का दृष्टिकोण सर्वथा असमीचीन नहीं कहा जा सकता फिर भी सामान्य पाठक अथवा आलोचक (यद्यपि कुन्तक आदि के अनुसार वह सहृदय ही नहीं होगा ।)के लिए कुन्तक के गुणों को स्पष्ट रूप से समझ लेना निश्चय ही बहुत कठिन है । लेकिन जिन सहृदयों को कुन्तक ने प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है उनकी समझ के परे इनके गुणों का स्वरूप नहीं है । अभिनवगुप्त के शब्दों में सहृदय होते भी तो वे ही हैं—

' येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः ।'[2]

और फिर सहृदयशिरोमणि आनन्दवर्धन के अनुसार तो किसी वस्तु को अनिर्वचनीय अथवा सहृदय संवेद्य कह देना भी उसका प्रतिपादन कर देना है —

'यस्मादनाख्येयत्वं सर्वशब्दागोचरत्वेन न कस्यचित् सम्भवति ।अन्ततोऽनाख्येयशब्देन तस्याभिधानसम्भवात् ।'[3]

***

1- व. जी. पृ0 56

2- लोचन, पृ0 38-39

3- ध्व. पृ0 518-19

पञ्चम अध्याय

वक्रोक्ति तथा उपमा आदि अलंकार

वक्रोक्ति तथा अलंकार

आचार्य कुन्तक ने शोभातिशय को प्रस्तुत करने वाले तत्त्व को अलंकार कहा है और इस अलंकार की परिधि में उन्होंने प्रसिद्ध उपमादि अलंकारों एवं गुणादिक का ग्रहण किया है—

'अलंकार शब्दः शरीरस्य शोभातिशयकारित्वान्मुख्यतया कटकादिषु वर्तते, तत्कारित्वसामान्या-दुपचारादुपमादिषु, तद्वदेव च तत्सदृशेषु गुणादिषु।'[1]

कुन्तक के अनुसार काव्य में वस्तुतः अलंकार और अलंकार्य का विभाग सम्भव नहीं है इसका प्रतिपादन तृतीय अध्याय में किया जा चुका है । साथ ही यह भी प्रतिपादित किया गया है कि कुन्तक के अनुसार एक मात्र अलंकार वक्रोक्ति है । यद्यपि तत्त्व यही है कि काव्यता अलंकारसहित की ही होती है फिर भी काव्यस्वरूप का स्पष्टीकरण करने के लिए उसमें अलंकार और अलंकार्य विभाग की कल्पना प्रस्तुत की जाती है । क्यों कि ऐसा अतत्त्वभूत प्रविभाग प्रायः सभी शास्त्रों में मान्य रहा है । निदर्शनार्थ व्याकरणादि शास्त्रों में वाक्य के अन्तर्गत पदों का तथा पदों के अन्तर्गत प्रकृतिप्रत्ययादिका अपोद्धार बुद्धि से विवेचन किया जाता है जब कि उनमें वस्तुतः विभाग सम्भव नहीं । इस प्रकार काव्य में अपोद्धार बुद्धि से विवेचन करने पर शब्द और अर्थ अलंकार्य होते हैं और उनका एकमात्र अलंकार वक्रोक्ति होती है। क्यों कि शब्द और अर्थ दोनों का वक्रतावैचित्र्य से युक्त रूप में कथन ही उनका अलंकार होता है । उन दोनों में सौन्दर्यातिशय को प्रस्तुत करने वाला यही वक्रतावैचित्र्य से युक्त कथन ही होता है । अतः उसी का अलंकारत्व समुचित है[2]। शब्दादिक का यह वक्र कथन लोक एवं शास्त्र में प्रसिद्ध कथन से व्यतिरेकी एवं वैचित्र्यपूर्ण होता है[3]। आचार्य कुन्तक ने वक्रता के छः भेदों में से वर्णविन्यासवक्रता और वाक्यवक्रता के अन्तर्गत समस्त शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों का ग्रहण कर लिया । यमक अनुप्रास एवं उपनागरिका आदि वृत्तियों का जिस प्रकार अन्तर्भाव वर्णविन्यासवक्रता में किया गया है उसे चतुर्थ अध्याय में स्पष्ट कर दिया जा चुका है । शेष उपमा आदि अलंकारों के वाक्यवक्रता में अन्तर्भाव का स्पष्ट प्रतिपादन अधोलिखित कारिका में किया गया है —

1- व जी., पृ० 5

2- 'सालंकारस्य तात्पर्यम् —यत् शब्दार्थौ पृथगवस्थितौ केनापि व्यतिरिक्तेनालंकरणेन योज्येते किन्तु वक्रतावैचित्र्ययोगितयाभिधानमेवानयोरलंकारः- तस्यैव शोभातिशयकारित्वात्।'

शास्त्र के आधार पर आचार्य दण्डी ही आद्य आचार्य है जो 'स्वभावोक्ति 'अथवा' जाति' को आद्य अलंकार के रूप मे प्रस्तुत करते है[1]। उद्भट ने भी स्वभावोक्ति को अलंकारता का स्वीकार की यद्यपि दण्डी की स्वभावोक्ति से उनकी स्वभावोक्ति मे पर्याप्त भेद रहा। आचार्य रुद्रट ने अर्थ के वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष चार प्रधान अलंकार माने। उन्हो ने जाति, अलंकार का वर्णन वास्तव अलंकार के अन्तर्गत किया। इस प्रकार जाति (अथवा स्वभावोक्ति) की अलंकारता उन्हे भी मान्य रही। वामन ने स्वभावोक्ति अथवा जाति नामक किसी भी अलंकार की चर्चा नही की। आचार्य आनन्दवर्धन ने भी स्वभावोक्ति को अलंकारता स्वीकार की थी। यह प्रतिपादित हो किया जा चुका है। इस प्रकार कुन्तक के पूर्ववर्ती आचार्यों मे दण्डी, उद्भट, रुद्रट आनन्दवर्धन तथा भामह के कुछ पूर्ववर्ती आचार्यों ने, जिनका कि मत भामह उद्धृत करते है स्वभावोक्ति को अत्यन्त रमणीय अलंकार के रूप मे स्वीकार कर रखा था।

आचार्य कुन्तक स्वभावोक्ति को अलंकार मानने वालो को सुकुमारहृदय एवं विवेक क्लेश मे द्वेष करने वाला कहते है। वे कहते है कि जब हम अपोद्धार बुद्धि से काव्य मे अलंकार और अलंकार्य का विवेचन करते है तो हमारा कर्तव्य है कि जब हम स्वभावोक्ति को अलंकार कहे तो उस समय उसके द्वारा अलंकार्य क्या होगा इसका भी विवेचन करे। स्वभावोक्ति का अर्थ है कहा जाने वाला स्वभाव अथवा स्वभाव वर्णन। किसी काव्य का शरीर स्वभाव वर्णन ही होता है क्योंकि निःस्वभाव वस्तु का कथन ही नही किया जा सकता। जिसके द्वारा अपना कथन और ज्ञान हो उसे स्वभाव कहते है— 'भवतः अस्मात् अभिधानप्रत्ययौ इति भावः, स्वस्य आत्मनः भावः स्वभावः।'[2] अतः निःस्वभाव वस्तु शब्द का विषय होने रह जायगी। स्वभाव के बिना कोई वस्तु अवश्य शशविषाण की तरह शब्दज्ञान का विषय ही न रह जायेगी। इसलिए यदि स्वभाव कथन को ही अलंकार मान लिया जाय तो एक गाड़ीवान के वाक्य को भी अलंकारयुक्त और काव्य मानना पड़ेगा क्यो कि स्वभाव का ही कथन तो वह भी करता है परन्तु ऐसा किसी भी आचार्य को अभीष्ट नहीं। दूसरी बात, स्वभावकथन ही तो वर्ण्य शरीर होने के कारण अलंकार्य होता है उसी को यदि अलंकार मान लिया जायगा

1- 'स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सा ऽलंकृतिर्यथा।' काव्यादर्श 2/8

2- व.जी. पृ0 24

तो फिर वह अलंकृत किसे करेगा ? अपने को ही तो अलंकृत कर नहीं सकता क्यो कि कोई भी स्वयं अपने कंधे पर चढ़ नहीं सकता । अथवा यदि 'तुष्यतुदुर्जन न्याय' से यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि स्वभावोक्ति 'अलंकार होती है तो जहाँ अन्य उपमा आदि अलंकार भी प्राप्त है वहाँ उसकी क्या व्यवस्था होगी क्यों कि स्वभावोक्ति अलंकार तो सर्वत्र विद्यमान रहेगा ही । अब उससे यदि दूसरे अलंकारों का भेद स्पष्ट रहा तो संसृष्टि और भेद स्पष्ट न रहा तो संकर अलंकार होगा। इस प्रकार किसी भी अलंकार का स्वतंत्र विषय ही न रहेगा केवल दो ही अलंकार होंगे — संसृष्टि अथवा सङ्कर । और ऐसी दशा में अन्य अलंकारों का लक्षण प्रस्तुत करना ही अपार्थ सिद्ध होगा। अतः निष्कर्ष यही निकला कि स्वभावोक्ति अलंकार्य है अलंकार नहीं।[1]

इस प्रकार यद्यपि आचार्य कुन्तक ने बड़े ही तर्कपूर्ण ढंग से स्वभावोक्ति की अलंकारता का अत्यन्त प्रबल शब्दों में प्रतिवाद किया फिर भी प्रायः परवर्ती किसी भी आचार्य को वह मान्य नहीं हो सका। प्रायः सभी आचार्यों ने स्वभावोक्ति का अलंकार के रूप में प्रतिपादन किया है, यह बात अवश्य रही है कि कुन्तक की आलोचना के अनन्तर उसके स्वरूप में पर्याप्त परिष्कार किया गया है। डा0 नगेन्द्र ने लिखा है कि- 'पण्डितराज जगन्नाथ ने स्वभावोक्ति को छोड़ ही दिया है।'[2] वस्तुतः पण्डितराज के विषय में इतनी दृढ़ता के साथ ऐसा अभिमत प्रस्तुत कर देना दुःसाहस के सिवा और कुछ नहीं है । क्यों कि पण्डितराज का ग्रन्थ 'रसगंगाधर' अपूर्ण है और उत्तर अलंकार का विवेचन करते हुए ही वह समाप्त हो जाता है। पण्डितराज के उतने अलंकारों के विवेचन में न वक्रोक्ति अलंकार ही आता है और न स्वभावोक्ति ही । वस्तुतः पण्डितराज के अलंकारों का वर्णनक्रम कुवलयानन्द के अलंकारों के वर्णन क्रम से पर्याप्त साम्य रखता है । कुवलयानन्द में वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति अलंकारों का वर्णन उत्तर अलंकार के अनन्तर आठ अन्य अलंकारों के वर्णन के बाद आता है। अतः पण्डितराज को वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति दोनों ही अलंकारविशेष के रूप में अभीष्ट थे या नहीं इसका कोई भी निर्णय दृढ़तापूर्वक दिया जाना संभव नहीं, साथ ही उचित भी नहीं है। यद्यपि पण्डितराज प्राचीन आचार्यों की मान्यता के अनुसार अर्थव्यक्ति अर्थ

1- व.जी.-वृ0 1/11-15 तथा वृत्ति

2- [illegible]

2- भा.का.सू., पृ0 326

गुण का स्वरूप निरूपण करने के अनन्तर इतना स्पष्ट रूप से कहते है कि आधुनिक आचार्य इसे ही स्वभावोक्ति अलंकार कहते है—

'अयमेवेदानीन्तनैः स्वभावोक्त्यलंकार इति व्यपदिश्यते।'*

इससे बल्कि यही सिद्ध होता है कि स्वभावोक्ति अलंकार उन्हे भी स्वीकार रहा है। अन्य आचार्यों ने तो स्वभावोक्ति अलंकार का वर्णन ही किया है किन्तु आचार्य हेमचन्द्र ने कुन्तक के मत को उद्धृत कर उसका खण्डन भी किया है । हेमचन्द्र ने अपने समर्थन में महिमभट्ट के कथन को उद्धृत किया है अतः महिमभट्ट के मत को यहाँ सर्वप्रथम प्रस्तुत किया जा रहा है।आचार्य महिमभट्ट ने शब्द एवं अर्थ के अनौचित्य को प्रस्तुत करते हुए मुख्य रूप से पाँच बहिरंग दोष स्वीकार किए है—(1) विधेयाविमर्श (2)प्रक्रमभेद (3)क्रमभेद (4)पौनरुक्त्य और (5)वाच्यावचन।[1] उन्होंने वाच्यावचन को दोष के अन्तर्गत ही अवाच्यवचन नामक दोष का भी ग्रहण किया है—

अनेन च वाच्यावचनेन सामर्थ्यादवाच्यवचनमपि संगृहीतं वेदितव्यम्। तस्यापीष्टार्थविपर्ययात्मकत्वात्।'[2] इसी दोष के विवेचन में वे प्रतिपादित करते है कि 'जो विशेषण केवल स्वरूप का अनुवादमात्र प्रस्तुत करने के वाला होता है और जिसके कारण अर्थ अप्रत्यक्ष-सा लगता है वह कवि-प्रतिभा से उत्पन्न न होने के कारण निःसार होता है और वह काव्य में अवाच्य अथवा अवर्णनीय होता है अतः यदि उसका वर्णन किया जाता है तो वह अवाच्यवचन दोष को प्रस्तुत करता है क्यों कि वह केवल वृत्त पूर्ण करने के लिए ही होता है कवित्व को प्रस्तुत करने के लिए नहीं।[3] इसी पर कोई प्रश्न करता है कि जैसे आप इस विशेषण को अवाच्य बताते है वैसे ही जब स्वरूप अथवा स्वभाव मात्र का कथन किया जाता है तो वह भी अवाच्य होने के कारण दोष को ही प्रस्तुत करता है अतः फिर स्वभावोक्ति की अलंकारता कैसे आचार्यों द्वारा स्वीकार की गई है ?[4] इसी प्रश्न के उत्तर रूप में महिमभट्ट स्वभावोक्ति की अलंकारता का निरूपण इस प्रकार करते है— 'इस संसार में वस्तु के दो रूप होते है एक सामान्य रूप, जिसमें

---

* रसगङ्गाधर, पृ० १४

1- 'इह खलु द्विविधमनौचित्यमुक्तमर्थविषयं शब्दविषयं चेति। ××× अपरं पुनर्बहिरंगं बहु प्रकारं सम्भवति। तद्यथा-विधेयाविमर्शः, प्रक्रमभेदः क्रमभेदः पौनरुक्त्यं वाच्यावचनं चेति।' व्यक्ति० पृ० 149-151

2- व्यक्ति० पृ० 376

3- यत्स्वरूपानुवादैकफलं तत्स्तुतिविशेषणम्। अप्रत्यक्षायमाणार्थं स्फुटमप्रतिभोद्भवम्।
तदवाच्यमिति ज्ञेयं वचनं तस्य दूषणम्। तद् वृत्तपूरणायैव न कवित्वाय कल्पते।
वक्रो०, 2/111-112

4- कथं तर्हि स्वभावोक्तेरलंकारत्वमिष्यते।
न हि स्वभावमात्रोक्तौ विशेषः कश्चनानयोः ।। वक्रो०, 2/113

वस्तु मे विकल्प विद्यमान रहते है । वही सामान्य रूप सभी शब्दो का विषय होता है और इसीलिए वे शब्द सामान्य अर्थ का बोध कराने मे समर्थ होते है । लेकिन वस्तु का दूसरा विशिष्ट स्वरूप भी होता है जो कि प्रत्यक्ष का विषय होता है । वही वस्तु का विशिष्ट स्वरूप प्रतिभासम्पन्न श्रेष्ठ कवियो की वाणी का विषय बनता है । क्यो कि रसो के अनुरूप शब्दो एवं अर्थों के चिन्तन मे सावधान हृदय कवि की क्षण भर के लिए विशिष्ट स्वरूप के स्पर्श से उत्पन्न प्रज्ञा ही तो प्रतिभा होती है। उसे ही भगवान शंकर का तृतीय नेत्र कहा गया है जिससे कि वे तीनो कालो मे विद्यमान पदार्थों का साक्षात्कार करते है । अतः पदार्थों के विशिष्ट स्वभाव की उक्ति अलंकाररूप मे स्वीकार की गई है क्योंकि कवि प्रतिभा के द्वारा उद्-भावित पदार्थ वहाँ साक्षात् से दिखायी पड़ते है । और जो वस्तु का सामान्य स्वभाव होता है वह अलंकार का विषय ही नही होता अन्यथा अविशिष्ट अर्थ को कौन अलंकृत ही कर सकता है[1] ।' इस प्रकार आचार्य महामहिमभट्ट की दृष्टि से वस्तु का विशिष्ट स्वभाव ही वर्णनीय होता है और वही अलंकार होता है । उसका सामान्य स्वभाव तो अवाच्य होता है । उसका वर्णन दोष होता है । वस्तुतः महिमभट्ट यहाँ कुन्तक के स्वभावोक्ति की अलंकारता के खण्डन का खण्डन करने नही बैठे है । बल्कि पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत स्वभावोक्ति की अलंकारता का अपनी दृष्टि से स्पष्टीकरण कर रहे है । आचार्य हेमचन्द्र जी ने इनकी उक्ति का जो अर्थ प्रस्तुत कर अपने पक्ष के समर्थन मे इनके कथन को उद्धृत किया है वह स्वयं समीचीन नही है । उन्होने जाति का लक्षण किया — 'स्वभावाख्यानं जातिः।' और स्वभाव का अर्थ किया अर्थ की तदवस्थता- 'अर्थस्यतादवस्थ्यं स्वभावः[2] ।' इस तदवस्थता का व्याख्यान उन्होने इस प्रकार किया है- तद्रूपैकगोचरा अवस्था यस्य स, तस्य भावस्तादवस्थ्यमिति । अयमर्थः — कवि प्रतिभया निर्विकल्पकप्रत्यक्षकल्पया विषयीकृताश्चानुभवमाना यथोपवर्ण्यन्ते स जातेर्विषयः[3] ।' अर्थात् [illegible]

---

1. उच्यते वस्तुनस्तावद् द्वैरूप्यमिह विद्यते ।
   तत्रैकमत्र(अन्ये) सामान्यं यद् विकल्पैकगोचरः ।।
   स एव सर्वशब्दानां विषयः परिकीर्तितः
   अत एवाभिधेयं ते सामान्यं बोधयन्त्यलम् ।।
   (अत एवाभिधेयं ते सामान्यं बोधयन्त्यलम्)
   विशिष्टमस्य यद्रूपं तत्प्रत्यक्षस्य गोचरः
   स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवाम् ।।— यतः —
   रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः ।
   क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः ।।

(शेष)

वस्तु का विशिष्ट स्वभाव अलंकार है और सामान्य स्वभाव अलंकार्य जब कि महिम भट्ट के अनुसार विशिष्ट स्वभाव तो अलंकार अवश्य है लेकिन सामान्यस्वभाव अलंकार्य नहीं है । उनकी दृष्टि में वस्तु का सामान्य स्वभाव सिद्ध है, अविस्पष्ट है, अवर्णनीय है और उसका वर्णन दोष है, अतः वह अलंकार्य कैसे हो सकता है जब कि उसका काव्य में वर्णन ही नहीं किया जा सकता। और इसीलिए यदि वस्तुतः विचार किया जाय तो महिमभट्ट कुन्तक की ही बात का समर्थन करते दिखायी पड़ते हैं । अन्तर केवल इतना है कि कुन्तक उसे तर्क की तुला पर तौल कर अलंकार्य करते हैं जब कि महिमभट्ट अलंकार जिसको कि उपचारतः स्वीकृति कुन्तक भी दे देते हैं । कुन्तक का कहना है कि काव्य में अभिप्रेत अर्थ अपने सहृदयाह्लादकारी स्वभाव से रमणीय होना चाहिए।[1] तृतीय उन्मेष में कुन्तक ने वस्तुवक्रता का वर्णन करते हुए पुनः स्वभावोक्ति की अलंकारता का निराकरण करते समय पूर्वपक्ष की ओर से स्वयं वह प्रश्न प्रस्तुत किया है जिसके कि आधार पर हेमचन्द्र जी कुन्तक का खण्डन करते हैं। यदि वे ज़रा-सा भी अपना ध्यान उस ओर आकृष्ट करते तो उन्हें अपने तर्कों का उत्तर अथवा खण्डन वहीं प्राप्त हो जाता। कुन्तक के अनुसार 'अत्यन्त रमणीय स्वाभाविक धर्म से युक्त रूप में केवल वक्रताविशिष्ट शब्दों द्वारा किया गया वस्तु का वर्णन वस्तुवक्रता को प्रस्तुत करता है।'[2] इसी के विषय में कुन्तक ने पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया कि 'अभी आपने प्रथम उन्मेष में जिस सहृदयाह्लादकारिणी स्वभावोक्ति की अलंकारता का खण्डन किया है उसे ही तो आप स्वीकार कर रहे हैं अतः आपका उसके दूषण का प्रयास व्यर्थ है क्यों कि वस्तु का सामान्यधर्म मात्र अलंकार्य होता है और अतिशययुक्त स्वभाव सौन्दर्य का परिपोषक अलंकार होता है।'[3] इसका उत्तर कुन्तक देते हैं कि आपका ऐसा तर्क प्रस्तुत करना उचित नहीं। क्यों कि काव्य को सहृदयाह्लादकारी होना चाहिए अतः अलौकिक अभिप्राय से शैली लेखी चमत्कार कोई सम्बन्ध नहीं रखती। फिर जो वस्तु उत्कृष्ट धर्म से युक्त नहीं है उसका अलंकार भी सौन्दर्यातिशय को प्रस्तुत करने में असमर्थ होगा जैसे अनुचित भित्तिस्थान पर उल्लिखित चित्र सौन्दर्यातिशय को प्रस्तुत नहीं कर पाता। अतः कवि को अत्यन्त रमणीय स्वाभाविक धर्म से

---

1. अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः । व.जी. 1/9

2. 'उदारस्वपरिस्पन्दसुन्दरत्वेन वर्णनम्।
वस्तुनो वक्रशब्दैकगोचरत्वेन वक्रता।। वही, 3/1

3. वही, पृ0 135

युक्त वर्णनीय वस्तु का ग्रहण करना चाहिए। और तदनुरूप उसके औचित्य के पोषक रूपकादि अलंकारों की योजना करनी चाहिए।[1] अतः कुन्तक के अनुसार वस्तु का सामान्य से भिन्न विशिष्टस्वरूप ही वर्णनीय होता है। यही बात महिमभट्ट ने भी कही है। वस्तु के इस विशिष्ट स्वरूप को कवि कभी तो प्रस्तुतौचित्य को ध्यान में रखते हुए अत्यल्प मात्रा में रूपकादि अलंकारों से अलंकृत करते हैं और कभी जब उन्हें उस वस्तु के सहज सौन्दर्य का ही प्राधान्य प्रतिपादित करना अभीष्ट होता है तो उसके किसी भी अलंकार को प्रस्तुत नहीं करते। उस समय उस वस्तु का लोकोत्तर सौन्दर्य ही सहृदयों को आह्लादित करने में सर्वथा समर्थ होता है। जैसे कि सर्वाकार अलंकार्य विलासवती रमणी भी स्नान के समय, विरहव्रतधारण करते समय अथवा सम्भोग की समाप्ति आदि पर अधिक अलंकारों को सहन नहीं कर पाती। उस समय उसका स्वाभाविक सौन्दर्य ही रसिकहृदयों को अत्यधिक आनन्दित करता है। अतः सर्वातिशायी सौन्दर्य युक्त पदार्थ के स्वभाव की अलंकार्यता ही उचित है अलंकारत्व नहीं। क्यों कि अतिशयहीन धर्म से युक्त वस्तु को अगर अलंकृत कर दिया जाय तो वह भित्तादि की भाँति अलंकृत हो कर भी सहृदयों को आनन्दित करने में असमर्थ ही रहेगी।[2] अतः स्वभावोक्ति की अलंकार्यता ही समीचीन है। लेकिन उस अलंकार्य को ही यदि सोचकर के अलंकार कहा जाता है कि उस समय वर्णनीय पदार्थ के औचित्य के माहात्म्य से वह पदार्थ स्वभाव ही अतिशययुक्त ढंग से वर्णित होकर अपनी महिमा से अन्य अलंकारों को सहन न करके स्वयं ही सौन्दर्यातिशय को प्रस्तुत करता है तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि यह हमारा ही पक्ष होगा।'[3]

इस तरह आचार्य हेमचन्द्र की बात का खण्डन स्वयं कुन्तक के ही शब्दों से हो जाता है। और वस्तुतः कुन्तक का कथन ही यहाँ समीचीन है। क्यों कि जिस समय काव्य में वस्तु के विशिष्ट स्वभाव का वर्णन किया जाता है उस समय उस वस्तु का सामान्य स्वभाव तो वर्णित होता ही नहीं जिससे कि उस सामान्य स्वभाव को अलंकार्य और विशिष्ट स्वभाव को अलंकार स्वीकार किया जा सके। और जब

1- वही, पृ० 135

2- द्रष्टव्य, वही पृ० 135-138

3- 'यदि वा प्रस्तुतौचित्यमाहात्म्यान्मुख्यतया भावः स्वभावः सातिशयत्वेन वर्ण्यमानः स्वमहिम्ना भूषणान्तरासहिष्णुः स्वयंशोभातिशयशालित्वादलंकार्योऽपि अलंकरणमित्यभिधीयते। तदयमस्मत्पक्ष एव यत्नः।—वही, पृ० 139

काव्यगत अलंकार के स्वरूप का निरूपण किया जा रहा है तो उस समय अलंकार के साथ साथ ही अलंकार्य के स्वरूप का भी स्पष्ट निरूपण होना चाहिए। लौकिक कटक कुण्डलादिक अलंकार तो रमणियों के शरीर से अलग सोनारों की दूकानों पर भी प्राप्त होते हैं अतः वहाँ अलंकार का अन्यत्र और अलंकार्य का अन्यत्र स्वरूप निरूपण किया जा सकता है। परन्तु काव्य की स्थिति तो इससे सर्वथा भिन्न है । यहाँ तो वस्तुतः अलंकार और अलंकार्य का विभाग ही नहीं है उन्हें तो केवल अपोद्धारबुद्धि से उनका स्वरूप निरूपण करने के लिए कल्पित ढंग से विभक्त रूप में प्रस्तुत किया जाता है ।अतः जहाँ अलंकार होगा वहाँ अलंकार्य भी निश्चित रूप से होगा ।और इसीलिए यदि वस्तु के विशिष्ट स्वभाव को अलंकार मान लिया जायगा तो अलंकार्य कुछ शेष रहेगा ही नहीं। क्यों कि वहाँ वस्तु का सामान्य स्वभाव तो वर्णित होता ही नहीं वही विशिष्ट स्वभाव ही वर्ण्यविषय अथवा काव्यशरीर होता है।अतः स्वभावोक्ति की अलंकार्यता ही समीचीन है, अलंकारत्व नहीं ।

(2) रसवदलंकार

आचार्य कुन्तक ने 'स्वभावोक्ति' की ही भाँति पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत रसवद-लंकार का भी खण्डन किया है क्यों कि उन लोगों ने ही रस को अलंकार रूप में प्रतिपादित किया था । कुन्तक रस को सर्वथा अलंकार्य ही सिद्ध करते हैं और उसकी अलंकारता का निराकरण करते हैं । कुन्तक के पूर्व मुख्यतः रसवदलंकारविषयक तीन धारणायें उपलब्ध होती हैं जो इस प्रकार हैं —

(1) पहली धारणा भामह, दण्डी तथा उद्भट आदि आचार्यों की है जो कि रसवर्णन को ही अलंकार मानते हैं ।

(2) दूसरी धारणा उन आचार्यों की है जो चेतन पदार्थों के वर्णन विषय रूप में रसवदलंकार और अचेतन पदार्थों के वर्णन विषय रूप में उपमादि अलंकारों की व्यवस्था करते हैं । वे कौन से आचार्य हैं ? कुछ स्पष्ट नहीं ।केवल इनके मत का ही 'ध्वन्यालोक' तथा 'वक्रोक्तिजीवित' में उल्लेख प्राप्त होता है ।

(3)तीसरी धारणा स्वयं आनन्दवर्धन की है जो कि अपने से भिन्न वाक्यार्थ के प्रधान रहने पर रसादि के गौण रूप में प्रस्तुत होने पर रसवदादि अलंकार स्वीकार करते हैं ।

आचार्य कुन्तक ने क्रमशः इन तीनों ही मान्यताओं का बड़े ही तर्कपूर्ण ढंग से खण्डन किया है । उनके खण्डन में उनके प्रधानतया दो तर्क हैं —

(1)रसवदलंकार में अपने (अलंकार्य)स्वरूप के अतिरिक्त किसी दूसरे की प्रतीति नहीं होती जिसे कि रसवद् अलंकार के अलंकार्य रूप में समझा जा सके ।

(2) रसवदलंकार कहने में शब्द और अर्थ की संगति नहीं होती।[1] इन्हीं दो प्रधान तर्कों के सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा कुन्तक ने प्राचीन आचार्यों द्वारा स्वीकृत रसवदलंकार की मान्यता का निराकरण किया है । पहले तर्क को परिपुष्ट करते हुए वे कहते हैं — श्रेष्ठ कवियों के समस्त अलंकृत वाक्यों में 'यह अलंकार्य है और यह अलंकार है,ऐसा अपोद्धार बुद्धि से किया गया पृथग्भाव सभी प्रमाताओं के हृदय में परिस्फुरित होता है । लेकिन 'रसवदलंकार में युक्त वाक्य में तो अत्यन्त सावधान हृदयप्रमाता के हृदय में भी अलंकार्य और अलंकार का कुछ भी पृथग्भाव स्फुरित नहीं होता ।[2]

(1)क्यों कि यदि शृंगारादि ही प्रधान रूप से वर्ण्यमान होने के कारण अलंकार्य है तो उनसे भिन्न कोई अलंकार होना चाहिए अथवा यदि रस स्वरूप के ही सहृदया-ह्लादकारी होने के कारण उसे ही अलंकार कहा जाता है तो उससे भिन्न किसी अन्य अलंकार्य की अवस्था होनी चाहिए। लेकिन ऐसा कोई भी विवेचन प्राचीन भामह,दण्डी आदि आलंकारिकों के लक्षणों एवं उदाहरणों में नहीं प्रस्तुत किया गया।क्योंकि भामह का लक्षण है —'रसवद् दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसम्।'[3]

1- अलंकारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात् ।
   स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासंगतेरपि ।।-व.जी. 3/11।

2- 'सर्वेषामेवालंकृतानां सत्कविवाक्यानामिदमलंकार्यमिदमलंकरणमित्यपोद्धारविहितो विविक्तभावः सर्वस्य कस्यचित् प्रमातुश्चेतसि परिस्फुरति।रसवदलंकारवति वाक्ये पुनरतिविचक्षणस्यापि न किंचिदेतदेव पृथक्त्वेन ... प्रस्तुत किया गया अर्थ डा० नगेन्द्र की पंक्तियों के आधार पर है।उसमें कोई असंगति भी नहीं दिखायी पड़ती ।वस्तुतः डा० दे के संस्करण में 'सर्वेषामेवालंकृतानाम्'के स्थान पर 'सर्वेषामेवालंकृतीनाम् ' पाठ मुद्रित है जिससे निश्चय ही अर्थ में असंगति पड़ती है।सम्भव है कि मात्रा की गड़बड़ी मुद्रण में हो गयी है। परन्तु डा०नगेन्द्र द्वारा सम्पादित 'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित'(पृ0538)पर आचार्य विश्वेश्वर जी ने जो अपनी विवेकाधिक संस्कृत अनुवृत्ति के आधार पर मनमाना पाठ परिवर्तन किया है वह और भी अधिक असंगत है ।उन्होंने पादटिप्पणी (सं01)में डा० दे के पाठ को असंगत बताकर मूल में इस प्रकार परिवर्तन किया है—'सर्वेषामेवालंकाराणां सत्कविवाक्यगतानाम्' और उसका हिन्दी रूपान्तर किया है कि — 'सत्कवियों के काव्य वाक्य में आये

इस लक्षण की व्याख्याये इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है —

(क) जिसमें शृंगारादि रस स्पष्ट रूप में दिखाये गये हों वह रसवद् अलंकार होगा'—इस व्याख्या के अनुसार समास का अर्थ भूत काव्य के अतिरिक्त और दूसरा पदार्थ नहीं दिखायी पड़ता। यदि यह कहा जाय कि भामह के अनुसार काव्य ही रस—वद्‌लंकार है तो उचित नहीं, क्यों कि भामह ने स्वयं पहले यह कह रखा है कि काव्य के अंगभूत शब्दों एवं अर्थों के पृथक् पृथक् अलंकार उन्हें अभीष्ट है—

शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयन्तु नः।[1]

अतः यदि यहां वे काव्य को ही अलंकार कहते हैं तो उनके उपक्रम एवं उपसंहार में वैषम्य दोष उपस्थित हो जाता है।

(ख) इसकी दूसरी व्याख्या यह भी हो सकती है कि जिसके द्वारा शृंगारादि रस स्पष्ट रूप में दिखाये गए हों वह रसवद्‌लंकार होगा।' इस व्याख्या के अनुसार यदि यह कहा जाय कि प्रतिपादन और वैचित्र्य अलंकार होगा तो वह भी ठीक नहीं क्यों कि प्रतिपाद्यमान से भिन्न ही प्रतिपादनवैचित्र्य उसकी उपशोभा का कारण होता है न कि स्वयं प्रतिपाद्य ही।

(ग) अथवा यदि यह व्याख्या भी प्रस्तुत की जाय कि स्पष्ट रूप से प्रदर्शित शृंगारादि रसों का प्रतिपादनवैचित्र्य ही अलंकार है तो भी समाधान उचित नहीं क्योंकि शृंगारादि के स्पष्ट दर्शन में स्वयं शृंगारादि रसों के स्वरूप की ही निष्पत्ति होगी किसी अलंकार की नहीं।

(घ) यदि यह कहा जाय कि रसवत् काव्य का अलंकार रसवद्‌लंकार होगा तो भी इस अलंकार के स्वरूप का कोई स्पष्टीकरण नहीं होता।

(ङ) यदि यह कहा जाय कि उसी अलंकार के कारण काव्य में रसवत्त्व आता है तो फिर वह रसवत् (काव्य) का अलंकार न होकर रसवान् अलंकार होगा जिसके कारण काव्य भी रसवत् हो जाता है।

(शेष) हुए सब ही अलंकारों में 'यह अलंकार्य है' और यह अलंकार है' इस प्रकार पृथक् पृथक् रूप से किया हुआ (अलंकार्य अलंकार भाव) अलग अलग सभी ज्ञाताओं (विद्वानों) के मन में प्रतीत होता है।' निश्चय ही इस वाक्य तथा इसके हिन्दी रूपान्तर की संगति लगाना आचार्य जी के ही विवेक की बात थी। अन्यथा किसी भी विद्वान को इस वाक्य की असंगति स्पष्ट दिखाई पड़ेगी। अलंकार्य और और अलंकार का पृथक् विवेचन अलंकृत में ही सम्भव है, न कि अलंकार में ही। आचार्य जी के मन में ही केवल कटककुण्डल में ही राशियों के भेद की भी प्रतीति हुई होगी। अन्य को तो नहीं हो सकती।

1. भामह, काव्या० 3/6

(ज) अथवा यदि कोई यह तर्क प्रस्तुत करे कि उस रसवान् अलंकार के कारण काव्य पहले रसवद् हुआ फिर उसी रसवानलंकार को ही रसवद् काव्य का अलंकार मान कर रसवदलंकार कह दिया गया जैसे कि 'इसका पुत्र अग्निष्टोमयाजी होगा' शब्द पहले भूतार्थ भूत में किसी दूसरे के विषय में जिसने कि अग्निष्टोम यज्ञ कर रखा है निष्पन्न भाव से प्रसिद्धि को प्राप्त कर लिया रहता है और तब बाद में वह भविष्यति अर्थ के साथ सम्बन्ध की योग्यता रखने से सम्बन्ध का अनुभव करता है । परन्तु रसवदलंकार के विषय में ऐसा नहीं है । क्यों कि इसके स्वरूप की प्राप्ति ही रसवत् काव्य का ~~अलंकार रस रूप के आश्रय~~ के सम्बन्धी रूप में ही होती है जब कि इसके काव्य की के सम्बन्धी होने का हेतु काव्य की रसवत्ता है जो कि इसी के कारण सम्भव होती है अतः दोनों में अन्योऽन्याश्रय-दोष उपस्थित हो जाता है ।

(छ) अथवा यदि व्याख्या स्वीकार की जाय कि 'जिसके अलंकार्य रस विद्यमान है' वह रसवान् अलंकार होगा तो भी या तो काव्य का स्वरूप सामने आता है अथवा अलंकार का और दोनों ही दशाओं में अलंकार और अलंकार्य का विभाग सम्भव नहीं यह प्रतिपादित हो किया जा चुका है। अतः रसवद् की अलंकार्यता ही समुचित है अलंकारत्व नहीं । उदाहरणार्थ दण्डी के इस अधोलिखित उद्धरण में—

मृतेति प्रेत्य संगन्तुं यया मे मरणं स्मृतम् ।[1]
सैवावन्ती मया लब्धा कथमत्रैव जन्मनि ।।

में रति परिपोष रूप वर्णनीयशरीरभूता चित्तवृत्ति से भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं दिखाई पड़ती । अतः इस उद्धरण में भी रसवद् की अलंकार्यता ही सिद्ध होती है ।
आचार्य दण्डी ने रसवदलंकार का लक्षण दिया है 'रसवद्रससंश्रयात्।' इस लक्षण की व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है—

(1) रस जिसका संश्रय है वह हुआ रससंश्रय । उसके कारण रसवदलंकार होता है।' इस व्याख्या के अनुसार यह बताना आवश्यक है कि रस के अतिरिक्त कौन-सा पदार्थ है जो रस को अपना संश्रय बनाता है । अगर कहा जाय कि काव्य है तो उसका खण्डन पहले ही किया जा चुका है, उसका अलंकारत्व अपने में ही क्रिया विरोध होने से उपपन्न नहीं होता है।

1-काव्यादर्श, 2/280

(2) दूसरी व्याख्या यह भी की जा सकती है कि जो रस का संश्रय है अथवा रस के द्वारा जिसका संश्रयण किया जाता है उसके कारण रसवदलंकार होता है तो भी यह तो बताना ही पड़ेगा कि रस के अतिरिक्त वह कौन सा पदार्थ है । और ऐसी दशा में पूर्व व्याख्या का दोष इसमें भी समुपस्थित हो जाता है।[1] यद्यपि 'रसवद्रससंश्रयात्' ऐसा पाठ 'काव्यादर्श' के किसी भी उपलब्ध संस्करण में प्राप्त नहीं होता है ।[2] सर्वत्र 'रसवद्रसपेशलम्' यही पाठ मिलता है। साथ ही किसी टीकाकार ने भी 'रसवद्रससंश्रयात् इस पाठान्तर का निर्देश नहीं किया इसीलिए डा0 नगेन्द्र आदि ने इसे स्पष्ट शब्दों में दण्डी का लक्षण नहीं स्वीकार किया । उन्होंने इसे किसी अज्ञातनामा आचार्य का ही कहना अधिक समीचीन समझा है।[3] किन्तु कुन्तक के विवेचन से स्पष्ट है कि उनके समय में दण्डी के ये दोनों ही पाठ उपलब्ध थे । कुन्तक दण्डी के इस समय प्राप्त होने वाले पाठ का भी उल्लेख करते हैं और कहते हैं कि 'रसवद्रसपेशलम्' ऐसा पाठ कर देने से भी उक्त लक्षण में कोई वैशिष्ट्य नहीं उपस्थित हो जाता –

'रसपेशलमिति पाठे न किंचिदत्रातिरिच्यते।'[4]

इससे स्पष्ट है कि 'रसवद्रससंश्रयात्' भी दण्डी के वर्तमान समय में प्राप्त होने वाले पाठ का पाठान्तर है ।

आचार्य उद्भट ने रसवद् का लक्षण दिया है –

'रसवद् दर्शितस्पष्ट श‍ृङ्गारादि रसोदयम् ।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम् ॥'[5]

निश्चित ही उत्तरार्ध की पंक्ति से इन्होंने भामह के ही लक्षण को विवेचित किया है। उनके अनुसार रस के आस्पद स्वशब्द 'स्थायीभाव, संचारी भाव, विभाव और अभिनय होते हैं । इन्हीं के द्वारा जहाँ श‍ृङ्गारादि रसों का स्पष्ट उदय दिखाया जाता है वहाँ रसवदलंकार होता है । कुन्तक ने उद्भट की इस 'स्वशब्दवाच्यता' की बड़ी मीठी चुटकी ली है । उन्होंने यह प्रश्न उपस्थित किया कि उद्भट को रस की स्वशब्दवाच्यता मान्य है या रसवत् की ?

1- द्रष्टव्य, व.जी.पृ0 160
2- ,, काव्यादर्श 2/275
3- व.जी.पृ0 160
4- [illegible]
5- का.सा.सं.पृ052 – डा0 नगेन्द्र ने उद्भट की इस कारिका के उत्तरार्ध का जो अर्थ अपने ग्रन्थ 'भा0का0भू0, पृ0 35 पर किया है वह सर्वथा असमीचीन एवं असंगत है।

अगर रस की स्वशब्दवाच्यता मानते है तो आशय यह होगा कि शृंगारादि रसो का आस्वादन उनके वाचकभूत शृंगारादि शब्दो से हो जाता है क्यो कि रस तो आस्वादनीय होते है —'रस्यन्त इति रसाः।' और ऐसा स्वीकार करना यही स्वीकार कर लेना होगा कि 'घृतपूर' इत्यादि खाद्यपदार्थों का नाम ले लेने मात्र से उनके आस्वाद का आनन्द मिल जायगा। जो सर्वथा असम्भव है।[1] और यदि रसवत् की स्वशब्दवाच्यता मान्य है तो वह भी युक्तिसंगत नही क्यो कि जब शृंगारादि के द्वारा वाच्य रस का ही यह आस्वाद नही हो सकता तो दूसरे की तो बात ही क्या ? और रसवद् की अलंकारता का खण्डन तो किया ही जा चुका है। इस प्रकार कुन्तक ने उक्त तर्कों मे पहले मुख्य तर्क का प्रतिपादन किया कि इस अलंकार मे अपने स्वरूप से भिन्न किसी अन्य का दर्शन ही नही होता जिसे उसके अलंकार्य रूप मे रखा जाय। अतः वह स्वयं अलंकार्य है अलंकार नही। कुन्तक के उक्त तर्क निश्चित ही अकाट्य है जैसा कि उनके विवेचन मे स्पष्ट किया जा चुका है। इन तर्कों के अतिरिक्त भी कुन्तक ने एक अन्य तर्क भी प्रस्तुत किया है जो पाण्डुलिपि के भ्रष्ट होने के कारण स्पष्ट नही है।

दूसरा प्रधान तर्क कुन्तक ने यह प्रस्तुत किया है कि रसवदलंकार मानने मे शब्द और अर्थ की संगति नही बैठती। रसवत् शब्द जिसके पास रस है -'रसो विद्यते यस्य' इस विग्रह मे मतुप् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। अब उससे षष्ठी समास करने पर अथवा विशेषण समास करने पर रसवदलंकार शब्द की निष्पत्ति होती है। यदि षष्ठी समास स्वीकार किया जाय कि 'रसवतः अलंकारः इति रसवदलंकारः' तो प्रश्न सामने आता है कि रसवत् है कौन ? यदि काव्य को ही रसवत् मान लिया जाय तो फिर कौन-सा पदार्थ शेष बचता है जिसे अलंकार कहा जायगा ? अतः षष्ठी समास करने पर शब्दार्थसंगति नही बैठती। इसी तरह यदि विशेषण समास स्वीकार किया जाय कि 'रसवांश्चासावलंकारश्च रसवदलंकारः' तो सिवाय 'रस' के अतिरिक्त और कोई पदार्थ दिखाई नही देता जिसे रसवान् अलंकार कहा जा सके। अतः इस पक्ष मे भी शब्द और अर्थ की संगति नही बैठती। अतः पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत रसवदलंकार अलंकार्य है उसका अलंकारत्व कथमपि मान्य नही।

1- तत्र पूर्वस्मिन् पक्षे-रस्यन्त इति रसास्ते स्वशब्दवाच्यतामेव तिष्ठन्तः शृंगारादिषु वर्तमानाः सहृदयैरास्वाद्यन्ते। तदिदमुक्तमपि-यत् स्वशब्दैरभिधीयमानाः प्रतिपत्तृणामास्वादयोग्यतामुपयान्ति पूर्वोक्तेनैव न्यायेन घृतपूरप्रभृतयः पदार्थाः स्वशब्दैरभिधीयमाना आस्वादसम्पदं समादधतीत्येवं सर्वस्य कस्यचित् ... इतिनयतोऽयः।'—
व.जी. पृ० 159

इस प्रकार कुन्तक ने भामह, दण्डी एवं उद्भट आदि आचार्यों द्वारा स्वीकृत रसवदलंकारविषयक पहली धारणा का बड़े ही तर्कपूर्ण ढंग से निराकरण किया। पूर्वाचार्यों के विवेचन के दृष्टि में रखने पर कुन्तक के तर्क निश्चित ही अकाट्य है ।[1]

अब रसवदलंकारविषयक दूसरी धारणा सामने आती है जिसके अनुसार चेतन पदार्थ के वर्णनविषय के रूप में रसवदलंकार की और अचेतन पदार्थ के वर्णनविषय रूप में उपमादि अलंकारों की व्यवस्था की गयी थी। इस धारणा का खण्डन आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में भलीभाँति किया था । कुन्तक संक्षेप में उसी की ओर इंगित कर देते हैं । पिष्टपेषण करना उचित नहीं समझते ।[2] आनन्दवर्धन ने मुख्य रूप में ये तर्क प्रस्तुत किए हैं - यदि चेतन पदार्थों के वाक्यार्थी भाव को रसादि अलंकारों का विषय माना जायगा तो उपमा आदि अलंकारों का विषय या तो प्रविरल हो जायगा या बिल्कुल समाप्त ही हो जायगा। क्यों कि जहाँ भी अचेतन पदार्थों के व्यवहार का वाक्यार्थीभाव होता है वहाँ भी किसी न किसी रूप में चेतन पदार्थों के वृत्तान्त की योजना रहती ही है । अतः ऐसी दशा में उपमादि अलंकारों की प्राप्ति दुर्लभ हो जायगी । यदि यह कहा जाय कि चेतन वस्तुओं का वृत्तान्त भले ही रहे लेकिन प्रधान रूप में वाक्यार्थीभाव यदि अचेतन वस्तुओं के वृत्तान्त का ही है तो वहाँ उपमादि अलंकार ही माने जायेंगे रसादि नहीं, तब तो बड़ा अनर्थ हो जायगा, क्योंकि बड़े बड़े काव्य प्रबन्ध जो कि रस के निधानभूत हैं वह भी नीरस कहलाने लगेंगे । अतः उपमादि एवं रसादि अलंकारों की चेतन अथवा अचेतन पदार्थों के वर्णन विषय के रूप में व्यवस्था कथमपि समीचीन नहीं क्योंकि कोई भी ऐसा अचेतन पदार्थों का वृत्तान्त नहीं मिलेगा जहाँ कि चेतन वस्तुओं के वृत्तान्त की योजना प्राप्त न हो भले ही वह विभावरूप में ही क्यों न हो । अतः ऐसा विभाजन स्वीकार करना उचित नहीं। अन्यथा या तो बहुत बड़े रस काव्यों की नीरसता स्वीकार करनी पड़ेगी अथवा उपमादि अलंकारों की प्रविरलविषयता या निर्विषयता।[3]

अब रसवदलंकार विषयक तीसरी धारणा है स्वयं आचार्य आनन्दवर्धन की । उनके अनुसार जिस काव्य में प्रधानतया वाक्यार्थीभाव किसी दूसरे का रहता है जिसके

1- द्रष्टव्य, व.जी. पृ0 157-162

2- ,, ,, पृ0 162-165

3- ,, ध्वन्या0 पृ0 198-204

कि अंग रूप में रसादि प्रयुक्त होते है वहाँ अंग रूप में प्रयुक्त रसादि ही रसवदादि अलंकार होते है ।जहाँ पर रसादिक का ही वाच्यार्थीभाव रहता है वहाँ ध्वनि का क्षेत्र होता है रसवदादि अलंकारो का नहीं। वहाँ पर उस रसादि ध्वनि के उपमा आदि अलंकार होते है । किन्तु जहाँ प्राधान्यवश वाक्यार्थीभाव दूसरे पदार्थ का रहता है वहाँ यदि रस आदि के द्वारा चारुता की पुष्टि की जाती है तो रसादि अलंकार होते है[1] । आचार्य कुन्तक ने इनके भी अभिमत का खण्डन किया है । पाण्डुलिपि की भ्रष्टता के कारण खण्डन विधि का स्पष्ट निरूपण नहीं किया जा सकता । प्राप्त विवरण के आधार पर कुन्तक ने जो इनके लक्षण में दोष दिखाया है वह यह है कि आनन्द ने जो 'काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिः' कहा है उससे रस आदि की आलंकारता सिद्ध होती है व रसवत् को नहीं। क्यों कि रसवत् में जो 'मत्' प्रत्यय है उसका जीवितभूत कुछ भी उनके द्वारा प्रतिपादित नहीं किया गया[2] । और वस्तुतः आनन्द के इस विवेचन में इस तर्क की अकाट्यता सिद्ध है । इसके अतिरिक्त कुन्तक ने आनन्दवर्द्धन द्वारा संकीर्ण एवं शुद्ध रसवदलंकार के रूप में उद्धृत उदाहरणों में उनके द्वारा किए गए रसवदलंकार के विवेचन का बड़े ही विस्तार के साथ खण्डन किया है किन्तु सिद्धान्त कीदृष्टि से वह अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है । अतः इस प्रसंग में वह अनुपादेय है[3]। आनन्दवर्धन द्वारा स्वीकृत इन रसवदादि अलंकारों को मम्मट ने भी केवल उसी रूप में स्वीकार ही नहीं किया बल्कि जहाँ आनन्द आदि प्राचीन आचार्यों ने रसवत्, प्रेयस, ऊर्जस्वि और समाहित चार ही अलंकार माने थे वहाँ मम्मट ने भावोदय भावसन्धि, भावशबलता तीन अलंकार और भी जोड़ दिए[4]। आगे चल कर रुय्यक[5], विश्वनाथ[6], विद्यानाथ[7] तथा अप्पय्यदीक्षित[8] आदि आचार्यों ने मम्मट का ही अनुसरण किया। हेमचन्द्र ने इसे अलंकार नहीं माना ।उन्होंने इसे गुणीभूत व्यंग्य का भेद ही कहा[9]।

1- प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गन्तु रसादयः ।
   काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः ।।ध्वन्या02/5 तथा देखे वृत्ति
2- द्रष्टव्य, व़ जी. पृ0 166
3- देखे वही, पृ0161-165
4- द्रष्टव्य,का. प्र. पृ0 195-196
5- अलं0स0 पृ0 252-259
6- सा. द. पृ0366-368
7- प्र0रु0पृ0290-291
8- कुवलयानन्द का. 170-171
9- रसवत्प्रेयस्वी ऊर्जस्विसमाहितानि गुणीभूतव्यंग्यप्रकारा एव'हेम. काव्या0 पृ0404

इस प्रकार कुन्तक ने अपने पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत रसवदलंकारविषयक तीनो ही धारणाओ का बड़े तर्कपूर्ण ढंग से खण्डन किया और जैसा कि दिखाया जा चुका है निश्चित ही तीनो मतो का खण्डन करने मे दिए गए कुन्तक के तर्क अत्यन्त प्रबल एवं अकाट्य है ।

<u>कुन्तक द्वारा स्वीकृत रसवदलंकार का स्वरूप :-</u>

अब स्वयं कुन्तक द्वारा स्वीकृत रसवदलंकार का स्वरूपनिरूपण एवं विवेचन किया जायगा। कुन्तक के अनुसार रसवद् कोई उपमा आदि से भिन्न अलंकारविशेष नही है जैसा कि अन्य आचार्यों ने स्वीकार कर रखा है । उनके रसवदलंकार के लक्षण के अनुसार सभी रूपकादि अलंकार रसवत् हो सकते है । रसवत्का अर्थ है जो रस के तुल्य हो। 'रसेन तुल्यम्' इस अर्थ मे 'तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः'[1] सूत्र से वति प्रत्यय होने पर रसवत् शब्द निष्पन्न होता है । रस का कार्य है काव्य मे सरसता का सम्पादन करना और सहृदयोको आह्लादित करना।अतः जो भी रूपक और उपमा आदि अलंकार काव्य को सरस बनायेगे और सहृदयो को आह्लाद प्रदान करेगे वे सभी रसवदलंकार कहे जायेगे। यही कुन्तक की स्वयं की रसवदलंकारविषयक धारणा है ।उनके अनुसार उपमादिक जब रसवत् हो जाते है तो वे सकल अलंकारो के प्राणभूत एवं काव्यैक सर्वस्व हो उठते है।और उन्हे रसवदलंकार वैसे ही कहा जाता है जैसे कि ब्राह्मण के सदृश आचरण करने वाले क्षत्रिय को ब्राह्मणवत् क्षत्रिय' कहा जाता है।[2] यद्यपि कुन्तक ने रसवदलंकार का जैसा विवेचन प्रस्तुत किया है उसके अनुसार उसमे वे दोष तो नही प्राप्त हो सकते जो कि पूर्वाचार्यों के रसवदलंकार के लक्षणों में विद्यमान है फिर भी कुन्तक के रसवदलंकार के लक्षण को सर्वथा सुस्पष्ट भी स्वीकार नही किया जा सकता।वस्तुतः रसवदलंकार विशेष की कल्पना ही समीचीन नही प्रतीत होती । कुन्तक के विरुद्ध तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि जब किसी क्षत्रिय को ब्राह्मणवत् कहा जाता है केवल 'ब्राह्मणवत्क्षत्रियः' कहा जाता है केवल 'ब्राह्मणवत्' नही कहा जाता।उसी तरह यदि रूपक

1- अष्टा05,1/115

2- यथा स रसवन्नाम सर्वालंकारजीवितम्।
काव्यैकसारतां याति तथेदानीं विविच्यते।
रसेनवर्तते तुल्यं रसवत्त्वविधानतः
योऽलंकारो स रसवत् तद्विदाह्लादनिर्मितेः ।।

–वक्रो वृत्ति पृ0174-175

अथवा उपमा को रसवदलंकार स्वीकार किया जायगा तो केवल रसवदलंकार ही कहना समीचीन नही होगा बल्कि रसवद्रूपकालंकार अथवा रसवदुपमालंकार कहना समीचीन होगा। शब्दार्थासंगति दोष को तो यथा कथंचित् इनके लक्षण मे भी दूर किया जा सकता। दूसरी बात कुन्तक के इस अलंकारनिरूपण से जो सामने आती है वह यह है कि जहाँ कुन्तक द्वारा स्वीकृत रसवदलंकार नही होता बल्कि अन्य अलंकार होते है, वहाँ काव्य, सरस और सहृदयो को आह्लादित करने मे समर्थ नही होता क्योकि सरसता सम्पादन और सहृदयाह्लादन की क्षमता तो रसवदलंकारो मे ही निहित होती है। इस बात का कुन्तक निषेध भी नही कर सकते क्योकि उन्ही के शब्दो मे —

'प्रमाणवत्स्वादायातः प्रवाहः केन वार्यते।'[1]

परन्तु ऐसा कुन्तक को अभीष्ट नही क्योकि फिर अन्य स्वतंत्र अलंकारो का स्वरूपनिरूपण ही व्यर्थ सिद्ध होगा। अतः, अन्ततोगत्वा रसवदलंकारविशेष की कल्पना ही असमीचीन है, यही सिद्ध होता है।

(3) प्रेयोऽलंकार

आचार्य भामह ने प्रेयोऽलंकार का कोई लक्षण ही नही दिया। उन्हो ने केवल उदाहरण ही प्रस्तुत किया है। दण्डी के अनुसार प्रियतर कथन को प्रेयोऽलंकार कहते है।[2] साथ ही दण्डी ने भामह के ही उदाहरण को उस अलंकार के उदाहरण रूप मे प्रतिपादित किया है। विदुर के घर कृष्ण आये हुए है और उनसे विदा हो रहे है। उसी समय विदुर कहते है कि 'हे गोविन्द! आज आपके मेरे घर पर पधारने पर जो आनन्द मुझे प्राप्त हुआ है वह आनन्द कालान्तर मे पुनः आपके आने से ही प्राप्त होगा।'[3] यहाँ पर चूँकि विदुर की उक्ति बड़ी ही प्रियतर है अतः प्रेयोऽलंकार है। परन्तु आचार्य कुन्तक इसका खण्डन करते है। उनका कहना है कि यहाँ जो प्रियतर कथन है वही तो वर्णनीय होने के कारण वस्तु का स्वभाव है अलंकार्य है, अतः उसी को

1- व.जी. पृ० 98

2- 'प्रेयः प्रियतराख्यानम्'-काव्यादर्श0 2/275

3- अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।
   कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः।। वही, 2/276 तथा भामह काव्या05/5

अलंकार मान लिया जायगा तो फिर अलंकार्य क्या होगा ? एक क्रिया का विषयभूत एक ही पदार्थ एक साथ ही कर्म और कारण दोनो नही हो सकता।अतः अपने स्वरूप से अतिरिक्त के प्रतिभासित न होने के कारण प्रेयस् भी रसवत् की भांति अलंकार्य है अलंकार नही।एक ही वस्तु अपने मे ही क्रिया विरोध होने के कारण अलंकार और अलंकार्य दोनो हो नही सकती ।अतः प्रेयस् की अलंकारता दण्डी और भामह के लक्षणो एवं उदाहरणो के अनुसार सिद्ध नही होती ।आचार्य उद्भट ने दण्डी और भामह से भिन्न प्रेयस्वत् अलंकार का स्वरूप निरूपित किया है।डा0 डे ने संकेत किया है कि कुन्तक ने प्रेयस्वत् को अलंकार मानने मे एक और आपत्ति उठाई है जिसका कुछ भी निर्देश पाण्डुलिपि के भ्रष्ट होनेके कारण नही किया जा सकता।[1] सम्भव है कि कुन्तक ने यहां पर उद्भट के अभिमत का खण्डन किया हो।वैसे उद्भट द्वारा निरूपित प्रेयस् अलंकार रसादि की ही कोटि मे आता है।क्योंकि उनका लक्षण है-

'रत्यादिकानां भावानामनुभावादि सूचनैः ।
यत् काव्यं बध्यते सद्भिस्तत्प्रेयस्वदुदाहृतम्?'[2]

अतः उसकी भी अलंकारता स्वीकार्य नही हो सकती।इन आचार्यो के अनन्तर आनन्दवर्धन तथा उनके अनुयायियो ने देवादि विषयक रति अथवा विशेष रूप से व्यंजित व्यभिचारी रूप भाव के गौण होने पर उसी भाव को प्रेयोऽलंकार कहा है।अतः रसवद् की भांति ही उसकी भी अलंकारता असिद्ध हो जाती है ।हेमचन्द्र के शब्दो मे यह गुणीभूतव्यंग्य एवं कुन्तक के शब्दो मे अलंकार्य है ।इसके अतिरिक्त कुन्तक ने एक पद्य —

'इन्दोर्लक्ष्म त्रिपुरजयिनः'[3] इत्यादि को उद्धृत किया है जिसमे कि आगे चलकर कुन्तक ने व्याजस्तुति अलंकार माना है।[4] सम्भवतः कुन्तक के कुछ पूर्ववर्ती आचार्यों के अनुसार यहां व्याजस्तुति और प्रेयस् का संकर मान्य था।कुन्तक उसका खण्डन करते है और यह प्रतिपादित करते है कि यहां संकर नही,केवल व्याजस्तुति ही अलंकार है क्योंकि यही जो प्रेयः कथन है वही तो अलंकार्य है, जिसे कि व्याजस्तुति अलंकृत करती है ।

1- द्रष्टव्य,व.जी.पृ0 169
2- का.सा.सं पृ050
3- द्रष्टव्य, व.जी.पृ0 169
4- वही0 3.पृ0 143

यदि उस प्रेयःकथन को भी अलंकार मान लिया जायगा तो उन दोनो से भिन्न कोई तीसरी वस्तु तो बचती ही नही जिसे कि अलंकार्य कहा जा सके।अतः इससे भी यही सिद्ध होता है कि प्रेयस् अलंकार्य ही है अलंकार नही हो सकता।ऐसा कोई भी स्थल मिलना ही असम्भव है जहाँ कि प्रेयस् को अलंकार रूप मे स्वीकार किया जा सके।[1]

(4) ऊर्जस्वि अलंकार

इस प्रकार रसवत् और प्रेयस् की अलंकारता का निराकरण कर कुन्तक ऊर्जस्वि की अलंकारता का निराकरण करते हुए भामह दण्डी एवं उद्भट के लक्षणो की एवं उदाहरण आलोचना करते है।भामह ने तो कोई लक्षण दिया ही नही दण्डी के अनुसार अत्यधिक अहंकार युक्त कथन ऊर्जस्वि अलंकार होता है [2] । भामह और दण्डी दोनो ही आचार्यों के उदाहरणो से दण्डी के इसी लक्षण की पुष्टि होती है।कुन्तक दोनो ही आचार्यों के उदाहरणो को प्रस्तुत कर रसवदलंकार की ही भाँति उनकी भी अलंकार्यता सिद्ध करते है । और यह उचित भी है क्योंकि यहाँ पर यही अहंकारयुक्त कथन ही तो वर्णनीय होने के कारण वस्तुस्वभाव अथवा अलंकार्य होता है । उद्भट का लक्षण उक्त आचार्यों के लक्षणो से भिन्न है । उनके अनुसार काम,क्रोधादि के कारण अनौचित्य प्रवृत्त भावो एवं रसो का निबन्धन ऊर्जस्वि अलंकार होता है [3]।कुन्तक खण्डन करते हुए कहते है कि यदि भाव अनौचित्यप्रवृत्त होगा तो रसभंग हो जायगा ।जैसा कि आनन्दवर्धन ने कहा ही है कि-

> अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम् [4] ।

लेकिन उद्भट ने जो उदाहरण दिया है -

> तथा कामोऽस्य ववृधे यथा हिमगिरेः सुताम् ।
> संग्रहीतुं प्रववृते हठेनापास्य सत्पथम् ।। [5]

1- व.जी.पृ० 167-169

2- ऊर्जस्विरूढाहंकारम् -काव्यादर्श,2/275

3- अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणम्।
भावानां रसानांच बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते।।का.सा.सं.पृ054

4- ध्व0,पृ0 330

5- का.सा.सं. पृ0 54

उसमें कुन्तक समुचित रस का सुन्दर परिपोष स्वीकार करते हैं । और कुमारसम्भव से 'चतुर्भिरपि तान्यहानि'[1] इत्यादि श्लोक उद्धृत कर उसे वस्तुस्वभाव कह कर अलंकार्य सिद्ध करते हैं । और कहते हैं कि जो दोष रसवदलंकार के स्वीकार किए गए हैं वे ही दोष इस ऊर्जस्वि अलंकार में भी विद्यमान हैं । अतः यह भी अलंकार्य ही है अलंकार नहीं। वस्तुतः पाण्डुलिपि की भ्रष्टता के कारण डा० डे कुन्तक का मूल पाठ तो सम्पादित कर ही नहीं सके साथ ही जो निर्देश भी किया है वह कुन्तक के मन्तव्य को अत्यधिक स्पष्ट नहीं कर पाता। हाँ, जैसा डा० शंकरन ने अपने प्रबन्ध में व.जी. से एक उद्धरण प्रस्तुत किया है उससे स्पष्ट होता है कि कुन्तक रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि सभी अलंकार्यता ही स्वीकार करते हैं इसीलिए आनन्दवर्धन आदि द्वारा स्वीकृत भी रसवत् प्रेयस् ऊर्जस्वि आदि अलंकारों को वे अलंकार्य कोटि में ही रखते हैं और उनके अलंकारत्व का खण्डन करते हैं । वह उद्धरण है -

> 'तस्मादेवंविधस्य चिरन्तनप्रसिद्धिनिबन्धनात् रसवत्तदाभासानां यथायोगमेकस्मिन्
> विषयतामवाप्नुवतः सम्यगतीव अलंकार्यतयैव युक्तानि, न पुनरलंकारत्वम्।'[2]

(5) उदात्तालंकार

आचार्य भामह, दण्डी तथा उद्भट तीनों ही आचार्यों द्वारा किया गया उदात्त अलंकार का विवेचन स्फुट ही है। उनके अनुसार उदात्त अलंकार दो प्रकार का होता है- पहला जिसमें नाना रत्नादिक विभूतियों से युक्त वस्तु का वर्णन होता है- और दूसरा जिसमें महात्माओं के उदात्त चरित का वर्णन रहता है । इनमें से पहले प्रकार का तो भामह स्पष्ट लक्षण निर्देशपूर्वक विवेचन करते हैं[3] किन्तु दूसरे प्रकार का लक्षण न देकर केवल उदाहरण ही प्रस्तुत करते हैं। आचार्य दण्डी दोनों का ही स्पष्ट लक्षणनिर्देशपूर्वक विवेचन करते हैं —

> 'आशयस्य विभूतेर्वा यन्महत्त्वमनुत्तमम् ।[4]
> उदात्तं नाम तं प्राहुरलंकारं मनीषिणः ।।'

1- कु.स. 6/95

2- Some Aspects पृ० 126

3- 'नानारत्नादियुक्तं यत् तत्किलोदात्तमुच्यते।' 3/12 तथा द्रष्टव्य 3/11

4- काव्यादर्श, 2/300

उनमे से पहले प्रकार के उदात्त की अलंकारता का खण्डन करते हुए कुन्तक यह तर्क प्रस्तुत करते है कि उसके अनुसार वस्तु अलंकार होती है । कैसी वस्तु अलंकार होती है?इसके लिए उद्भट ने विवेचन किया कि 'ऋद्धिमद्' वस्तु उदात्तालंकार होती है।[1] अब यहाँ यदि विचार किया जाय तो स्पष्ट ही परिलक्षित होता है कि यही 'ऋद्धि-मद्वस्तु' वर्ण्यमान है अलंकार्यरूप- है अतः यह अलंकार नही हो सकती ।क्योंकि अपने मे ही क्रियाविरोध दोष उपस्थित हो जाता है।यहाँ वस्तुस्वरूप से भिन्न और कुछ भी प्रतिभासित नही होता जिसे उसके अलंकार्य रूप मे स्वीकार किया जा सके ।यदि'ऋद्धि मद्वस्तु'मे बहुव्रीहि समास मानकर कोई यह व्याख्या प्रस्तुत करे कि जिसके अथवा जिसमे ऋद्धिमद्वस्तु हो वह काव्य ही स्वयं अलंकार है तो उचित नही क्यो कि काव्य के अलंकार होते है काव्य ही स्वयं अलंकार नही होता। अथवा यदि यह व्याख्या प्रस्तुत की जाय कि जिसके अथवा जिसमे ऋद्धिमद्वस्तु हो वह अलंकार उदात्त होगातो वही वर्णनीय उदात्त अलंकार से अतिरिक्त अलंकार की कल्पना करनी पड़ेगी।अतः पहले उदात्त प्रकार को अलंकार मानने मे व शब्दार्थासंगति रूप दोष भी उपस्थित हो जाता है।[2]

इसी तरह दूसरे उदात्त प्रकार की भी अलंकारता सिद्ध नही होती है ।कुन्तक यहाँ उद्भट के ही लक्षण को उद्धृत करते है क्योंकि उन्होने दण्डी आदि से कुछ वैशिष्ट्य प्रतिपादित कियाहै । उनके अनुसार महापुरुषो का चरित जो कि उपलक्षणता को प्राप्त होता है इतिवृत्तता को नही वह उदात्त अलंकार होता है।उपलक्षणता से आशय उसके अंग रूप मे अथवा गौणरूप मे वर्णन से है[3] ।कुन्तक प्रश्न करतेहै कि महानुभावो के जिस व्यवहार को आप केवल उपलक्षणभूत वाला स्वीकार करते है उसका प्रस्तुतवाक्यार्थ से कोई सम्बन्ध है अथवा नही है यदि आप सम्बन्ध स्वीकार करते है तो वह अन्य पदार्थ की तरह ही यही वह उसके लीन न होने के कारण अलग से प्रतिपादित होकर भी उसके अंग रूप मे ही सामने आयेगा न कि अलंकार रूप मे, जैसे हाथ पैर आदि को शरीर का अंग ही कहा जाता है अलंकार नही ।और यदि सम्बन्ध नही स्वीकार करते है तो भिन्न वाक्य मे रहने वाले पदार्थ की तरह उस महात्मा

1- 'उदात्तमृद्धिमद्वस्तु' -व.जी., पृ० 57

2- द्रष्टव्य,व.जी. पृ० 171/172

3- चरितं च महात्मनाम् ।उपलक्षणतां प्राप्तं नेतिवृत्तत्वमागतम्।

— का.सा.सं. पृ० 57

के व्यवहार की उस प्रस्तुत वाक्यार्थ में सत्ता ही नहीं रहेगी अतः उसके अलंकार्यत्व को चर्चा ही कैसी ? इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि दोनों ही प्रकार का उदात्त अलंकार अलंकार्य रूप ही होता है। अलंकार रूप नहीं।[1] यद्यपि कुन्तक ने उदात्त की अलंकारता का खण्डन किया अवश्य फिर भी मम्मट,[2] रुय्यक,[3] विश्वनाथ[4] तथा अप्पय्यदीक्षित[5] आदि परवर्ती आचार्यों ने उद्भटाभिमत ही द्विविध उदात्तालंकार स्वरूप को स्वीकार किया। विद्यानाथ ने केवल ऋद्धिमद्वस्तु वर्णन को ही उदात्त माना है।[6] आचार्य हेमचन्द्र भी उदात्त की पृथक् अलंकारता नहीं स्वीकार करते। वे प्रथम प्रकार के उदात्त को अतिशयोक्ति अथवा जाति में अभिन्न मानते हैं और दूसरे प्रकार को ध्वनि अथवा गुणीभूतव्यंग्य का विषय मानते हैं[7]। अतः यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो प्रथम प्रकार को जाति से अभिन्न कह कर तथा दूसरे को ध्वनि का विषय बताकर वे कुन्तक के अनुसार उदात्त की अलंकार्यता का ही समर्थन करते हैं। और वस्तुतः उदात्त का जैसा स्वरूप आचार्यों ने प्रतिपादित किया है उसके अनुसार उसकी आलंकार्यता ही समीचीन प्रतीत होती है क्योंकि वह वर्णन विषय रूप ही तो होता है।

(6) समाहित

आचार्य भामह ने तो समाहित अलंकार का भी केवल उदाहरण ही प्रस्तुत किया है लक्षण नहीं किया। किन्तु उनके उदाहरण और दण्डी के समाहित के उदाहरण में पर्याप्त साम्य है अतः दण्डी का ही लक्षण भामह के उदाहरण को भी समाहित अलंकारयुक्त सिद्ध कर देता है[8]। दण्डी के अनुसार जहाँ कहीं किसी भी कार्य को आरम्भ करने वाले को

1- द्रष्टव्य, व.जी पृ0 172

2 का.प्र. 10/115

3- अलं.स.पृ0 230-231

4- सा.द. 10/94-95

5- कुवलयानन्द का0 162

6- प्र.रु.य.पृ0 466

7- काव्यानुशासन पृ0 403-404

8- द्रष्टव्य, भामह, काव्या03/10 तथा काव्यादर्श 2/299

दैववशात् पुनः उस कार्य की सिद्धि का साधन प्राप्त हो जाता है वहाँ समाहित अलंकार होता है।[1] आगे चल कर मम्मट, रुय्यक आदि परवर्ती आचार्यों ने इसका स्मरण समाधि अलंकार के रूप में किया है। मम्मट का लक्षण है -

समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः ।[2]

किन्तु आचार्य उद्भट ने भामह एवं दण्डी द्वारा अभिमत समाहित के स्वरूप से भिन्न समाहित का स्वरूप निरूपित किया है। उनके अनुसार जहाँ पर रसों, भावों अथवा रसाभासों या भावाभासों की प्रशान्ति को उपनिबद्ध किया जाता है साथ ही अन्य रसों के अनुभावादि का वर्णन नहीं होता है वहाँ समाहित अलंकार होता है।[3] निश्चित ही उद्भट का यह लक्षण आनन्द आदि ध्वनिवादी आचार्यों की भावप्रशम अथवा भावशान्ति ध्वनि को प्रस्तुत करता है। परन्तु जैसे उद्भट ने रसध्वनि को रसवदलंकार, भावध्वनि को प्रेयस्वदलंकार, रसाभास अथवा भावाभास ध्वनि को ऊर्जस्वि अलंकार कहा था उसी प्रकार भाव शान्तिध्वनि को समाहित अलंकार कहा है । ध्वनिवादियों से इनका वस्तुतः अन्तर केवल यही है कि ध्वनिवादी इन अलंकारों को सर्वदा उन ध्वनियों के गुणीभाव में मानते हैं जब कि उद्भट की दृष्टि में ऐसा कोई भेद नहीं है। आचार्य कुन्तक ने दण्डी तथा उद्भट दोनों के मतों का खण्डन किया है, परन्तु किस ढंग से खण्डन किया है पाण्डुलिपि के अत्यधिक भ्रष्ट होने के कारण उसका निरूपण कर सकना अत्यन्त कठिन है। हाँ, कुन्तक ने जो यह कहा है कि-

'तथा समाहितस्यापि प्रकार द्वयशोभिनः ।'[4] अर्थात् जैसे ऊर्जस्वि, उदात्त आदि की अलंकारता नहीं सिद्ध होती वैसे ही समाहित के भी दोनों ही प्रकारों की अलंकारता सिद्ध नहीं होती । इससे स्पष्ट होता है कि उनकी दृष्टि में समाहित भी अलंकार्य कोटि में ही आता है। वस्तुतः जिस दृष्टि से रसवदादि अलंकारों का विवेचन किया गया है उसी दृष्टि से समाहित के विषय में भी विचार करने पर इसकी अलंकार्यता की ही सिद्धि होती है । क्यों कि भामह एवं दण्डी द्वारा स्वीकृत समाहित का स्वरूप वर्णनीय वस्तु के स्वरूप से सर्वथा अभिन्न ही है । अतः वह अलंकार्य ही होगा । इसी प्रकार उद्भटादि द्वारा स्वीकृत भी समाहित रसकोटि में आने से रसवदादि की ही भाँति अपनी अलंकार्यता को ही सिद्ध करता है। आचार्य वामन का

1- किंचिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात् पुनः । तत्साधनसमापत्तिर्या तदाहुः समाहितम् ।। काव्यादर्श 2/298

2- का०प्र० 10/125

3- रसभावतदाभासवृत्तेः प्रशमबन्धनम् । अन्यानुभावनिःशून्यरूपं यत्तु समाहितम् ।। का०सा०सं० 4/56

4- व.जी., पृ० 175

समाहित अलंकार का लक्षण सबसे विलक्षण है। उनके अनुसार जिस वस्तु का सादृश्य ग्रहण किया जाता है उसी को सम्बन्धित समाहित अलंकार होती है।[1] उदाहरण रूप में वे विक्रमोर्वशीय से -

'तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः[2]।'

आदि श्लोक उद्धृत करते है और उसमें समाहित अलंकार की संगति दिखाते हुए कहते है कि यहाँ लता में उर्वशी का सादृश्य ग्रहण करते हुए पुरुरवा के लिए वही लता उर्वशी बन गई।

(7) आशीः

कुन्तक के पूर्ववर्ती आचार्यों में केवल दण्डी ने ही मुक्तकण्ठ ढंग से आशीः अलंकार का निरूपण किया है। उद्भट, वामन तो उसका उल्लेख भी नहीं करते। आचार्य भामह उसका उल्लेख भी करते है साथ ही उसका लक्षणानुरूप उदाहरण भी प्रस्तुत करते है परन्तु उनके विवेचन से स्पष्ट हो सकता है कि उसकी अलंकारता स्वीकार करने में उनका स्वारस्य नहीं है उनका कहना है कि -

आशीरपि च केषाञ्चिदलंकारतया मता।
सौहृदय्याविरोधोक्तौ प्रयोगोऽस्यास्तदुयथा[3]।।'

आचार्य दण्डी के अनुसार अभिलषित वस्तु के विषय में आशंसन अथवा प्रार्थना को आशीः अलंकार कहते है।[4] इस अलंकार की अलंकारता आगे भी चल कर मम्मट आदि प्रायः किसी भी आचार्य को मान्य नहीं हुई। लेकिन जैसे कि भरत ने इसे एक लक्षण विशेष के रूप में प्रयुक्त किया गया था[5] उसी को ध्यान में रखते हुए विश्वनाथ आदि कुछ आचार्यों ने इसे केवल नाट्यालंकार के रूप में स्वीकार किया है[6]। कुन्तक उसका कोई लक्षण अथवा उदाहरण नहीं देते। वे केवल इतना ही कहते है कि -यहाँ पर आशीः

1- 'यत्सादृश्यं तत्सम्बन्धितः समाहितम्।' का. सू. वृ. 4/3/29

2- विक्रमोर्वशीयम् 4/66

3- भामह काव्या03/55

4- 'आशीर्नामाभिलषिते वस्तुन्याशंसनं यथा।' काव्यादर्श 2/357

5- ना. शा. 16/28

6- सा. द. 6/199

अलंकार के लक्षणों व एवं उदाहरणों को नहीं प्रस्तुत किया जाता है। उनमें प्रधान रूप से आशंसनीय अर्थ ही वर्णनीय होने के कारण अलंकार्य होता है अतः जो दोष प्रेयोऽलंकार में दिखाए गए हैं वे यहाँ भी विद्यमान हैं। अतः आशीः अलंकार सिद्ध नहीं हो सकता। वह अलंकार्य ही है।[1] हेमचन्द्र ने भी आशीः की अलंकारता का निराकरण करते हुए कहा है कि वह तो केवल प्रियकथन मात्र होती है। अतः उसे अलंकार मानने का अर्थ यही होता है कि 'गतोऽस्तमर्कः' आदि वार्ताओं को भी अलंकार मान लिया जाय। हाँ, यदि उसमें भाव का ज्ञापन स्वीकार किया जाता है तो भी वह अलंकार न होकर गुणीभूत-व्यंग्य का विषय होगी।[2]

(8) विशेषोक्ति

कुन्तक के पूर्ववर्ती प्रायः सभी आचार्यों ने विशेषोक्ति अलंकार स्वीकार किया है रुद्रट ने इसे विशेष अलंकार कहा है[3]। साथ ही परवर्ती आचार्यों ने भी इसकी अलंकारता स्वीकार की है। आचार्य भामह के अनुसार 'विशिष्टता का प्रतिपादन करने के लिए जहाँ एक गुण की हानि होने पर दूसरे गुण की विद्यमानता का वर्णन किया जाता है वहाँ विशेषोक्ति अलंकार होता है।[4] इसके उदाहरण रूप में भामह ने अधोलिखित श्लोक उद्धृत किया है –

'स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः।
हरताऽपि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम्।।'[5]

यहाँ पर कामदेव के शरीर की हानि तो वर्णित की गई परन्तु उसके बल की विद्यमानता प्रतिपादित की गई जिससे कि वह अकेले ही तीनों लोकों पर विजय प्राप्त करता है। वस्तुतः यहाँ शरीर के नष्ट हो जाने पर बल नष्ट हो जाना चाहिए था। पर वैसा हुआ नहीं। इसमें कामदेव का सर्वातिशायी पराक्रम प्रतिपादित होता है। फलतः विशेषोक्ति है। जैसा कि डा0 डे ने निर्देश किया है कुन्तक केवल भामह के इसी उदाहरण को

1- व.जी. पृ0 220

2- काव्यानुशासन, पृ0 404 तथा विवेक

3- रु0 काव्या0 9/5

4- एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्थितिः।
विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिर्मता यथा।। भामह काव्या0 3/23

5- वही, 3/24

उद्धृत कर कहते है कि यहां समस्त लोकों में प्रसिद्ध विजयी भाव से व्यतिरेकी कामदेव का स्वभाव मात्र ही वाच्यार्थ है । अतः वह अलंकार्य है[1] । लेकिन कुन्तक यहाँ पर विशेषोक्ति की अलंकारता का खण्डन करने में न्याय नहीं करते है यहां किसी को भी उनकी सहृदयता पर अपने आप सन्देह उत्पन्न हो सकता है । यहां स्पष्ट ही कन्दर्प के स्वभाव से व्यतिरिक्त उक्तिवैचित्र्य परिलक्षित होता है। यहां वाच्यार्थ अथवा वर्णनीय है कि 'कामदेव अकेले ही समस्त लोकों पर विजय प्राप्त कर लेता है' ऐसा कामदेव का स्वभाव यहां अलंकार्य है । और उसे अलंकृत करता है यह विशिष्ट कथन कि 'जिसका शरीर तो शंकर भगवान् द्वारा अपहृत कर लिया गया परन्तु इतना होने पर भी शंकर जिसकी शक्ति न छीन सके।' इस कथन से कामदेव का स्वभाववर्णन निश्चय ही और भी सौन्दर्य सम्पन्न हो कर सहृदयों को आह्लादित करता है । अतः विशेषोक्ति की अलंकारता सर्वथा सिद्ध हो जाती है । यहां अलंकार और अलंकार्य के विभाग की कोई कठिनाई नहीं। यदि ऐसा नहीं स्वीकार किया जायगा तो स्वयं कुन्तक द्वारा स्वीकृत विभावनालंकार भी अलंकार नहीं हो सकेगा।क्यों कि वहां भी तो लोकोत्तर स्वरूप वर्णन ही वाच्यार्थ होता है ।

(9-11) हेतु, सूक्ष्म और लेश

कुन्तक के पूर्ववर्ती आचार्यों में हेतु सूक्ष्म और लेश को वाणी के उत्तम अलंकारों के रूप में प्रतिष्ठित करने वाले आचार्य दण्डी है –

'हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम् ।'[2] इनके अतिरिक्त आचार्य वामन तथा उद्भट् ने इन अलंकारों का कोई उल्लेख ही नहीं किया । आचार्य भामह ने इनका उल्लेख अवश्य किया परन्तु उनके अलंकारत्व का खण्डन करने के लिए । वक्रोक्ति का अभाव होने के कारण इनकी अलंकारता उत्पन्न नहीं होती क्यों कि वाणी का अलंकार तो वक्रोक्ति ही है-

हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः ।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः[3] ।।

1- द्रष्टव्य, व.जी.पृ0 220

2- काव्यादर्श, 2/235

3- भामह,काव्या0 2/86

दण्डी के अनन्तर इन तीनों ही अलंकारों को स्वीकार करने वाले आचार्य रुद्रट एवं अप्पय्यदीक्षित[1] हैं। वामन, उद्भट, हेमचन्द्र तथा जयदेव ने भामह का ही अनुगमन किया है। इनमें से किसी की भी अलंकारता का निरूपण इन आचार्यों ने नहीं किया। मम्मट[2], रुय्यक[3], विद्यानाथ[4], विद्याधर[5] तथा विश्वेश्वर[6] आदि ने केवल सूक्ष्म अलंकार का ही निरूपण किया है। भोज[7] तथा विश्वनाथ[8] ने हेतु और सूक्ष्म दो अलंकारों का निरूपण किया है। पण्डितराज के उपलब्ध ग्रन्थ में केवल लेश[9] का ही वर्णन उपलब्ध होता है। हेतु अथवा सूक्ष्म की अलंकारता उन्हें मान्य थी अथवा नहीं इसके विषय में कुछ भी कह सकना कठिन है। आचार्य कुन्तक ऊपर उद्धृत किए गए भामह के कथन को उद्धृत कर वैचित्र्य का अभाव होनेके कारण उक्त तीनों ही अलंकारों की अलंकारता अस्वीकार करते हैं। जैसा कि डा० डे निर्देश करते हैं कुन्तक ने इन तीनों के एक एक उदाहरण को प्रस्तुत कर उनका खण्डन किया है। उनमें से हेतु और लेश के उदाहरण तो स्वयं आचार्य दण्डी के हैं तथा सूक्ष्म का उदाहरण तो यद्यपि दण्डी का नहीं है फिर भी दण्डी के उदाहरण से पूर्ण साम्य रखता है। इन तीनों उदाहरणों को प्रस्तुत कर कुन्तक कहते हैं कि यहाँ यहाँ पर केवल वस्तु का स्वभाव ही रमणीय है। अतः ये अलंकार्य ही हैं अलंकार नहीं।[10] इससे अधिक कुन्तक द्वारा किया गया विवेचन उपलब्ध नहीं। आचार्य दण्डी ने हेतु का कोई लक्षण नहीं दिया। केवल कारक ज्ञापक हेतुओं का प्रतिपादन कर उनके उदाहरण ही प्रस्तुत किए हैं।[11] उनके विषय में भामह तथा कुन्तक की आलोचना बिल्कुल ठीक ही है क्योंकि केवल कथनमात्र को प्रस्तुत करने से कोई चमत्कार नहीं उत्पन्न होता। जैसा कि हेमचन्द्र ने भी कहा है —

1- द्रष्टव्य, रुद्रट काव्याल० 7/82-83, 98-102 तथा कुवलयानन्द का० 167, 151 तथा।

2- का.प्र. 10/122-123

3- अलं.स., पृ० 217

4- प्रता० व्या० पृ० 465

5- एकावली 8/69

6- अलंकारकौस्तुभ, पृ० 364

7- स.कं., 3/12 तथा 3/21

8- सा.द. 10/64 तथा 91-92

9- रस गं० पृ० 810

10- द्रष्टव्य, व.जी., पृ० 220-221

11- काव्यादर्श, 2/235

'कारणमात्रन्तु न वैचित्र्यमात्रमिति न हेतुरलंकारान्तरम्।'[1]

साथ ही केवल वस्तुमात्र का वर्णन होने के कारण उसे 'अलंकार्य' कोटि में ही रखना समीचीन भी है। भोजराज का 'क्रियायाः कारणं हेतुः'[2] लक्षण भी दण्डी के लक्षण से कोई वैशिष्ट्य नहीं स्थापित करता। रुद्रट तथा विश्वनाथ का हेतु का हेतुमान के साथ अभेद[3] कथन रूप हेतु भी अपह्नुति से अतिरिक्त किसी चमत्कार को प्रस्तुत नहीं करता इसका निरूपण हेमचन्द्र ने पहले ही कर रखा है।[4] दण्डी के अनुसार इंगित अथवा आकार से लक्षित होने वाला अर्थ सूक्ष्मता के कारण सूक्ष्म अलंकार कहा जाता है।[5] सूक्ष्म का प्रायः इसी से मिलता जुलता हुआ लक्षण ही मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, विद्याधर आदि सभी आचार्यों को मान्य रहा। परन्तु जैसा कि लक्षण से ही स्पष्ट है यहाँ वस्तुस्वभाव की ही रमणीयता विराजमान रहती है। कवि ऐसा वस्तु वर्णन ही करता है कि उससे काव्य में एक अपूर्वचमत्कार आ जाता है। अतः निश्चित ही यह अलंकार्य कोटि में ही रखने योग्य है। रुद्रट का सूक्ष्म अलंकार का लक्षण इन आचार्यों के लक्षणों से भिन्न है। उनके अनुसार जहाँ पर अयुक्तिमान अर्थवाला शब्द अपने अर्थ से सम्बन्धित दूसरे युक्तियुक्त अर्थ की प्रतीति कराता है वहाँ सूक्ष्म अलंकार होता है।[6] परन्तु जैसा उन्होंने इसका उदाहरण दिया है उस पर तथा इस लक्षण पर विचार करने से यह विदित हो जाता है कि इस अलंकार में कोई वैचित्र्य नहीं है जिससे कि उसे अलंकार स्वीकार किया जाय। दण्डी ने लेश के दो लक्षण प्रतिपादित किए हैं। पहले के अनुसार आकारादिक से प्रकट हो गई किसी वस्तु का बहाने से छिपा लेना लेश अलंकार होता है।[7] मम्मट आदि के अनुसार यही व्याजोक्ति[8] अलंकार है। यदि इसमें वस्तुतः विचार किया जाय तो वस्तु स्वभाव की ही रमणीयता सामने आती है। अतः इस प्रकार के विषय में कुन्तक का इसे अलंकार्य कहना ही समीचीन है।

1- काव्यानुशासन, पृ० 397

2- स.क. 3/12

3- रुद्रटकाव्या०, 7/82 तथा साहित्यद० 10/64

4- काव्यानुशासनविवेक पृ० 397

5- 'इंगिताकारलक्ष्योऽर्थः सौक्ष्म्यात् सूक्ष्म इति स्मृतः।' काव्यादर्श, 2/260

6- रु. काव्या० 7/98

7- 'लेशो लेशेन निर्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम्।' काव्यादर्श 2/265

8- 'व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम्।' का.प्र. 10/118

दण्डी के दूसरे लक्षण के अनुसार जहाँ निन्दा के व्याज से स्तुति अथवा स्तुति के व्याज से निन्दा की जाती है वहाँ लेश अलंकार होता है।[1] आगे चल कर रुद्रट, अप्पय्यदीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने दण्डी के इसी लेशस्वरूप को स्वीकार किया है।[2] उनके अनुसार जहाँ दोष का गुणीभाव और गुण का दोषीभाव, उस प्रकार के कर्म के कारण, उपनिबद्ध किया जाता है वहाँ लेश अलंकार होता है। अर्थतः इन सब का आशय लगभग एक ही है। यद्यपि अप्पय्य दीक्षित तथा पण्डितराज दोनों ही आचार्यों ने इसकी व्याजस्तुति से भिन्नता प्रतिपादित की है लेकिन इसमें निश्चितरूप से चमत्कार व्याजस्तुति का ही है। अतः इसका उसी में अन्तर्भाव समीचीन है। पृथक् अलंकारता स्वीकार करना समीचीन नहीं।

इस प्रकार कुन्तक अपने पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत ग्यारह अलंकारों की अलंकारता का खण्डन कर उन्हें अलंकार्य कोटि में स्थापित करते हैं। केवल रसवदलंकार ही एक ऐसा अलंकार है जिसको कि स्वरूप भेद से पुनः उन्हों ने अलंकार कोटि में रखा है। उसका विवेचन रसवदलंकार के प्रसंग में किया जा चुका है। रसवदलंकार की ही भांति वे दीपक और सहोक्ति अलंकारों के पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत स्वरूप का खण्डन कर उससे भिन्न स्वरूप प्रदान कर उन्हें अलंकार रूप में स्वीकार करते हैं। वह इस प्रकार है।

(12) दीपक अलंकार

आचार्य भरत के अनुसार अनेकों अधिकरणों के अर्थ वाले शब्दों का एक वाक्य से संयुक्त रूप से सम्यक् प्रकाशक दीपक कहा जाता है।[3] भरत का लक्षण अधिक स्पष्ट नहीं कहा जा सकता। दीपक का एक दूसरा भी लक्षण दिया गया है जिसके अनुसार काव्य और नाटक में जो वस्तु विस्तृत, मधुर एवं समस्त गुणों से विभूषित होती है उसे दीपक कहते हैं।[4] उन्हों ने इसका केवल एक ही उदाहरण प्रस्तुत किया है। साथ ही इसका कोई विभाजन भी नहीं प्रस्तुत किया जैसा कि परवर्ती आचार्यों ने किया है। उनका उदाहरण है—

'सरांसि हंसैः कुसुमैश्च वृक्षा मत्तैर्द्विरेफैश्च सरोरुहाणि।
गोष्ठीभिरुद्यानवनानि चैव तस्मिन्न शून्यानि सदा क्रियन्ते॥'[5]

1- 'लेशमेके विदुर्निन्दां स्तुतिं वा लेशतः कृताम्।' – काव्यादर्श, 2/268

2- द्र० [illegible], 7/100, कुवलयानन्द का० 158 तथा [illegible] पृ० 510-[illegible]।

3- नानाधिकरणार्थानां शब्दानां सम्प्रदीपकम्।
एकवाक्येन संयुक्तं तद्दीपकमिहोच्यते॥ (ना. शा. 16/53)

4- प्रसूतं [illegible] गुणैः [illegible] काव्ये नाटके [illegible]॥ वही, 16/54

5- ना. शा. पृ० 325

इस उदाहरण से भरत के अभिमत के विषय में कि उन्हें केवल क्रियापद ही दीपक रूप में मान्य है अथवा अन्य कर्ता आदि भी कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। भरत के अनन्तर आचार्य भामह सामने आते हैं । उन्हों ने दीपक का कोई लक्षण नहीं दिया। केवल उसके तीन विभाग प्रस्तुत किए हैं – आदिदीपक, मध्यदीपक और अन्तदीपक तथा इनके तीन उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।[1] उन उदाहरणों के विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि केवल क्रियापद ही दीपक होता है।आचार्य कुन्तक भामह द्वारा क्रियापद की ही दीपकता को स्वीकार करने का खण्डन करते हैं ।इसके खण्डन में वे अधोलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं –

(1) प्रत्येक वाक्य में क्रियापद ही प्रकाशक होता है ऐसा स्वीकार कर लेने पर भामहाभिमत दीपकालंकार से व्यतिरिक्त स्थलों पर भी दीपक अलंकार स्वीकार करना पड़ेगा।क्योंकि क्रियापद का वाक्य के साथ सम्बन्ध होने से सर्वत्र ही प्रकाशकत्व सिद्ध है ।

(2) दूसरी बात क्रिया पद की प्रकाशकता से कोई शोभा तो काव्य में आ नहीं जाती। अतः उसका अलंकारत्व ही नहीं उपपन्न होता।

(3) साथ ही यदि केवल प्रकाशकता अर्थात् पदों के साथ सम्बन्ध होने के कारण क्रिया पद को दीपक स्वीकार किया जाता है तो अन्य पदों को भी दीपक स्वीकार करना पड़ेगा क्योंकि वाक्य में स्थित प्रत्येक पद एक दूसरे का प्रकाशक होता है क्यों कि उनमें परस्पर सम्बन्ध विद्यमान रहता है।

(4)यदि यह कहना चाहें कि क्रिया पद आदि,मध्य अथवा अन्त में व्यवस्थित होने पर अतिशय को प्राप्त कर लेता है अतः अलंकार हो जाता है तो यह भी कहना समीचीन नहीं क्यों कि केवल क्रियापद के ही आदि,मध्य अथवा अन्त में विद्यमान रहने से वाक्यादि के स्वरूप में परस्पर कोई अतिरेक नहीं आ जाता।

(5)साथ ही जो वाक्य का आदि मध्य और अन्त क्रिया पद के प्रकार भेद का कारण है वही उस वाक्यार्थ के वाक्यों में भी सम्भव है अतः पुनः दीपक का आनन्त्य सामने आ जाता है।[2]

1- आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते ।
एकस्यैव त्र्यवस्थत्वादिति तद् भिद्यते त्रिधा।।
अमूनि कुर्वते ऽन्वर्थामस्याख्यामर्थदीपनात् ।
त्रिभिर्निदर्शनैश्चेदं त्रिधा निर्दिश्यते यथा।। -भामह,काव्या 2/25-26
तथा देखें वही, 2/27, 28 और 29

2- द्रष्टव्य, व.जी.पृ० 178

इन तर्कों के अतिरिक्त कुन्तक ने दो तर्क और भी प्रस्तुत किए हैं जो पाण्डुलिपि के दोषवश अधिक स्पष्ट नहीं हैं। वे इस प्रकार हैं —

(1) ''दीपकालंकारविहितवाक्यान्तर्वर्तिनः क्रियापदस्याप्यादि-मध्यान्तवर्तित्वमेव (0मेव ?) काव्यान्तरव्यपदेशः। (2) यदि वा समानविभक्तानां बहूनां कारणानामेकक्रियापदं प्रकाशकं दीपकमित्युच्यते, तथापि काव्यच्छायातिशयकारितायाः किन्निबन्धनमिति वक्तव्यमेव।'[1] यहाँ दूसरे तर्क में 'विभक्तानां' के स्थान पर '0विभक्तीनां' और 'कारणानां' के स्थान पर 'कारकाणां' पाठ परिवर्तित कर देने पर अर्थ की कुछ संगति इस प्रकार हो जाती है कि- यदि समानविभक्ति वाले बहुत से कारकों का प्रकाशक एक क्रियापद दीपक कहा जाता है तो भी तो यह बताना ही पड़ेगा कि काव्य के सौन्दर्यातिशय को उत्पन्न करने का हेतु क्या है? लेकिन इस प्रश्न के उत्तर की ओर आचार्य भामह ने कोई निर्देश किया ही नहीं। अतः यह निश्चित स्वीकार करना पड़ेगा कि भामह का दीपकालंकारविवेचन अस्पष्ट है। इस प्रश्न का उत्तर उद्भट ने दिया है। इसीलिए कुन्तक उन्हें अभियुक्ततर कहते हैं। उद्भट के अनुसार काव्यसौन्दर्यातिशय को प्रस्तुत करने वाला तत्त्व प्रस्तुत और अप्रस्तुत की विधि के असमर्थ होने पर प्राप्त होने वाला प्रतीयमान सादृश्य होता है। इसी लिए उद्भट ने लक्षण किया है —

'आदिमध्यान्तविषयाः प्राधान्येतरयोगिनः।
अन्तर्गतोपमाधर्मा यत्र तद्दीपकं विदुः॥'[2]

अर्थात् प्रस्तुत और अप्रस्तुत से सम्बन्ध रखने वाले वाक्य के आदि, मध्य अथवा अन्त में विद्यमान वे धर्म दीपक कहे जाते हैं जिनमें कि उपमा विद्यमान रहती है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि क्रिया पद की दीपकता कुन्तक को अस्वीकार नहीं है किन्तु भामह के लक्षण की अस्पष्टता ही उन पर कुन्तक द्वारा प्रहार का कारण बनी। उद्भट से कुन्तक का वैलक्षण्य इस रूप में है कि उद्भट केवल क्रिया पद को ही दीपक स्वीकार करते हैं जब कि कुन्तक क्रिया पद के साथ ही साथ कर्तृपदादि के निमित्तभूत बहुत से पदों को दीपक स्वीकार करते हैं।[3]

1- व.जी., पृ0178-179
2- का.अ.सं., 1/14
3- 'क्रियापदमेकमेव दीपकमिति तेषां तात्पर्यम्। अस्माकं पुनः कर्तृपदादि निबन्धनानि दीपकानि बहूनि सम्भवन्तीति। -व.जी., पृ0185

<u>कुन्तकाभिमत दीपक का स्वरूप :</u>

कुन्तक का स्वयंकृत दीपकालंकारविवेचन पाण्डुलिपि के अत्यधिक दूषित होने के कारण अत्यन्त सुस्पष्ट ढंग से प्रतिपादित नहीं किया जा सकता । फिर भी जो कुछ स्वरूप स्पष्ट हो सका है उसे प्रस्तुत किया जा रहा है । कुन्तक के अनुसार 'वर्णनीय पदार्थ के औचित्य युक्त, अम्लान एवं सहृदयों के आनन्दजनक धर्म को प्रकाशित करती हुई वस्तु दीपकालंकार होती है।[1] 'वह दीपक दो प्रकार का होता है -

(1) एक तो जहाँ पर बहुत से पदार्थों का केवल एक ही प्रकाशक होता है। उसे केवलदीपक कहते हैं ।

(2) और दूसरा जहाँ पर बहुत से पदार्थों के बहुत से प्रकाशक होते हैं । उसे पंक्तिसंस्थ दीपक कहते हैं।[2]

इस दूसरे दीपक प्रकार के वे पुनः तीन भेद करते हैं - पहला भेद तो वही होता है जहाँ कि बहुत से पदार्थों के बहुत से प्रकाशक होते हैं।

दूसरा भेद दीपकदीपक होता है अर्थात् जो अन्य वस्तु को प्रकाशित करने के कारण दीपक होता है उसी कर्मभूत को जब दूसरा कर्तृभूत प्रकाशित करता है तो दीपक दीपक होता है[3] । जैसे -

'बाहुलतावपुरभूषयदाली तामनूननवयौवनयोगः ।

तम्पुनर्मकरकेतनलक्ष्मीस्तां मदो दयितसंगमभूषः ।।,[4] इस श्लोक में दीपकदीपक है। क्योंकि कामिनियों के शरीर की प्रकाशक है बाहुलता अतः वह दीपक हुई और उस बाहुलता को प्रकाशित करता है नवयौवन का संयोग। इसी प्रकार नवयौवन के संयोग की प्रकाशक है कामदेव की शोभा। अतः यहाँ उत्तर उत्तर पद पूर्व पूर्व पद के दीपक रूप में उपनिबद्ध होकर दीपकदीपक को प्रस्तुत करते हैं।

1- औचित्यावहमम्लानं तद्विदाह्लादकारणम्।
   अशक्तं धर्ममर्थानां दीपयद्वस्तु दीपकम्।।- व.जी. पृ0 180

2- द्रष्टव्य वही, पृ0 180-181

3- वही, पृ0 182

4- शिशु वध. 10/33

तीसरा प्रकार है दीपितदीपक । अर्थात् जो कर्मभूत वस्तु किसी अन्य दीपक के द्वारा प्रकाशित हुई है वह कहलायेगी दीपित । लेकिन जब वही दीपित वस्तु ही अन्य किसी को कर्तारूप में प्रकाशित करेगी तो वहाँ दीपितदीपक अलंकार होगा।[1] उदाहरणार्थ भामह का श्लोक -

'मदो जनयति प्रीतिं सानङ्गं मानभङ्गुरम् ।

स प्रियासंगमोत्कण्ठां साऽसह्यां मनसः शुचम् ।।[2]' ग्रहण किया जा सकता है यहाँ प्रीति मद के द्वारा प्रकाशित अर्थात् दीपित है और प्रकाशक है अनंग का। उससे दीपित अनंग प्रकाशक है प्रियासंगमोत्कण्ठा का और वह प्रकाशक है असह्य मनः शोक की । अतः यहाँ दीपितदीपक है। स्पष्ट ही कुन्तक का यह पंक्तिसंस्थदीपक अन्य आचार्यों द्वारा स्वीकृत मालादीपक के तुल्य है।

पाण्डुलिपि की अत्यधिक भ्रष्टता के कारण दीपक का और अधिक स्वरूप स्पष्ट किया जा सकना असम्भव है।

(13) सहोक्ति अलंकार

आचार्य कुन्तक ने पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत सहोक्ति की अलंकारता का खण्डन कर उसका एक अपूर्व मौलिक लक्षण प्रस्तुत किया है । डा० डे ने केवल इतना ही निर्देश किया है कि कुन्तक भामह के सहोक्ति के लक्षण और उदाहरण उदाहरण का विवेचन कर उनका खण्डन कर देते हैं और उनके द्वारा अभिमत सहोक्ति की अलंकारता को अस्वीकृत कर देते हैं[3]। आचार्य हेमचन्द्र ने सहोक्ति की अलंकारता का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि —

'कश्चित्तु — समासोक्तिः सहोक्तिश्च नालंकारतया मता।

अलंकारान्तरत्वेन शोभाशून्यतया तथा ।। इति सहोक्तिसमासोक्ती न मन्यते इति प्रतिपादयति[4] ।' निश्चित ही उक्त कारिका कुन्तक की ही है। यद्यपि डा० डे

1- व.जी.पृ० 182-183

2- भामह, काव्यालं02/27

3- द्रष्टव्य, व.जी.पृ० 210

4- काव्यानुशासनविवेक, पृ0378

पाण्डुलिपि के अत्यन्त भ्रष्ट होने के कारण इस कारिका को सम्पादित नहीं कर सके। आचार्य कुन्तक पहले समासोक्ति की अलंकारता का निराकरण कर बाद ही सहोक्ति की अलंकारता का निराकरण करते है । इतना ही नहीं, इन दोनों की अलंकारता का खण्डन करने में दिये गये तर्क 'अलंकारान्तरत्वेन शोभाशून्यतयी' को उ0 दे उद्धृत भी करते है । अस्तु इस विवेचन से यह स्वीकार करने में तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता कि उक्त कारिका कुन्तक के वक्रोक्ति जीवित की ही है । आचार्य भामह के सहोक्ति लक्षण के अनुसार -जहाँ एक ही समय में होने वाली दो वस्तुओं से सम्बद्ध क्रियाओं का प्रतिपादन एक पद के द्वारा किया जाता है वहाँ सहोक्ति अलंकार होता है।[1] आचार्य दण्डी के अनुसार गुणों एवं कर्मों के सहभाव का कथन सहोक्ति अलंकार होता है।[2] आचार्य उद्भट शब्दशः भामह के ही लक्षण को स्वीकार करते है ।[3] आचार्य वामन का भी लक्षण शब्दशः भामह के लक्षण से गृहीत है।[4] इस प्रकार इन समस्त आचार्यों ने सहार्थक शब्द की सामर्थ्य से सहोक्ति अलंकार का वैचित्र्य स्वीकार किया है। रुद्रट ने यद्यपि बड़े घटाटोप के साथ सहोक्ति ~~एवं औपम्यालंकार~~ तीनों प्रकारों का वास्तवालंकार के अन्तर्गत तथा एक प्रकार की सहोक्ति का औपम्यालंकार के अन्तर्गत निरूपण किया है लेकिन उनके समस्त विवेचन का आशय भामह आदि के आशय से लगभग अभिन्न ही है। सहोक्ति अलंकार कहलाने का कारण सहार्थक शब्द का प्रयोग ही है । कुन्तक ने सम्भवतः सहोक्ति की अलंकारता का खण्डन इसी आधार पर किया था कि उस अलंकार का अन्तर्भाव उपमा आदि अलंकारों में ही हो जाता है क्योंकि चमत्कार का कारण वहाँ औपम्य ही है सहार्थक शब्द का प्रयोग नहीं। भामह के सहोक्ति अलंकार के उदाहरण —

हिमपाताविलदिशो गाढालिंगनहेतवः ।
वृद्धिमायान्ति यामिन्यः कामिनां प्रीतिभिः सह।।[5]

1- भामह, काव्या0, 3/39

2- काव्यादर्श, 2/351

3- का.सा.सं0, पृ072

4- का.सू.वृ. 4/3/28

5 भामह, काव्या0, 3/40

~~6- ...~~

को उद्धृत कर कुन्तक ने कहा है कि यहाँ पर परस्पर रातों और कामियों की प्रीतियों का सादृश्य सम्बन्ध ही मनोहारिता का कारण है अतः यहाँ उपमा ही मानना उचित है।[1] इतना तो यहाँ स्वीकार ही करना पड़ेगा कि इन पूर्वाचार्यों ने ही नहीं बल्कि परवर्ती आचार्यों ने भी 'सहोक्ति' अलंकार का नामकरण अधिकांश सहार्थक शब्द के प्रयोग के कारण ही किया है। यहाँ तक कि कुन्तक का खण्डन करने वाले आचार्य हेमचन्द्र जी स्वयं कहते हैं--

'सहार्थबलाद् धर्मस्यान्वयः सहोक्तिः।'[2]

आचार्य हेमचन्द्र जी ने कुन्तक का खण्डन करते हुए कहा कि 'यदि आप यह कहते हैं कि सहोक्ति अलंकार में परस्पर सादृश्य सम्बन्ध ही मनोहारिता का कारण होता है अतः सहोक्ति प्रतीयमानोपमा के स्वरूप का अतिक्रमण न करने के कारण उपमा ही है, हाय! तब तो रूपक, अपह्नुति और अप्रस्तुतप्रशंसा आदि का भी अलग से निरूपण नहीं करना चाहिए। क्योंकि वहाँ भी उपमानोपमेय भाव की प्रतीति होने के कारण केवल उपमा अलंकार ही स्वीकार किया जाना चाहिए अन्य अलंकार नहीं। और जैसा कि वामन ने कह भी रखा है कि प्रति वस्तु इत्यादि उपमा के प्रपंच हैं। अथवा यदि यह कहो कि रूपक आदि में तत्त्व का आरोप आदि किया जाता है अतः उस वैशिष्ट्य के कारण रूपकादि व्यवहार होता है तो फिर सहोक्ति आदि ने कौन-सा अपराध कर रखा है कि उसे आप सहोक्ति नहीं कहना चाहते जब कि सहार्थक शब्द की सामर्थ्य से उपस्थित होने वाला सादृश्य सम्बन्ध रूप वैशिष्ट्य उसमें विद्यमान है।[3] वस्तुतः आचार्य जी यहाँ दुराग्रहवश ही सहोक्ति की अलंकारता का समर्थन करने का प्रयास कर रहे हैं अन्यथा रूपकादि अलंकारों के कारणभूत तत्त्वारोपादि के साथ सहार्थक शब्द के प्रयोग की तुलना कैसी इसलिए ही नहीं स्वयं आचार्य जी विनोक्ति की अलंकारता का निषेध करते हुए सहृदयों की दुहाई देकर कहते हैं कि सहृदय लोग ही बतावें कि क्या इस विनोक्ति अलंकार में कोई विनोक्ति कृत वैचित्र्य है। जो इसे अलंकार कहा जाय। सहोक्ति में तो सहार्थ के बल से साम्यसम्बन्ध की प्रतीति होती है अतः वहाँ वैचित्र्य निश्चित रूप से विद्यमान है।[4] यहाँ वहाँ में इतना कहकर ही सहृदयों को सहोक्ति में वैचित्र्य की प्रतीति और विनोक्ति में वैचित्र्य-

---

1- व.जी. पृ० 210

2- काव्यानुशासन, 6/13

3- द्रष्टव्य काव्यानुशासनविवेक पृ० 378

4- 'xxx वदन्तु सहृदयाः यदि किमपि विनोक्तिकृतं वैचित्र्यमवभासते, सहोक्तौ च सहार्थबलात् साम्यसम्बन्धप्रतीतिर्भवत्येव वैचित्र्यमिति।'

- वही, पृ० 402

प्रतीति का अभाव स्वीकार करवाना चाहते है या और कुछ ? यदि किसी भी सहृदय को सहोक्ति मे साम्यसम्बन्ध की प्रतीति होती है तो निश्चय ही वह प्रतीति उसे विनोक्ति मे भी होगी।अतः यह सिद्ध हो जाता है कि इन दोनो ही अलंकारो मे चमत्कार सहार्थक अथवा विनार्थक शब्द के प्रयोग से नही बल्कि प्रतीयमान सादृश्य के कारण है।अतः इन दोनो की ही पृथक् अलंकारता स्वीकार करना समीचीन नही । अन्यथा हेमचन्द्र जी के ही शब्दो मे शब्दमात्र के सम्बन्ध से अलंकारता की कल्पना करने पर हा, धिक् आदि उक्तियो मे भी अलंकारता स्वीकार करनी पड़ेगी और फिर न जाने कितनी उक्तियाँ अलंकार बन कर सामने आ जायगी।[1] अतः सहोक्ति की अलंकारता को अस्वीकार करने मे कुन्तक का ही पक्ष समर्थनीय है।

कुन्तकाभिमत सहोक्ति का स्वरूप :

कुन्तक के अनुसार जहाँ प्रधान रूप से विवक्षित अर्थ की सिद्धि के लिए एक ही वाक्य से एक साथ ही अनेक अर्थों का कथन किया जाता है वहाँ सहोक्ति अलंकार होता है।कहने का आशय यह कि जहाँ पर प्रस्तुत अर्थ की सिद्धि के लिए विच्छित्तिपूर्वक दूसरे वाक्य द्वारा कही जाने योग्य वस्तु का भी उसी वाक्य के द्वारा कथन कर दिया जाता है वहाँ सहोक्ति अलंकार होता है।[2] इसके उदाहरण रूप मे कुन्तक ने उत्तररामचरित से 'हे हस्त । दक्षिण मृतस्य शिशोर्द्विजस्य'[3] आदि तथा किरातार्जुनीय से 'उच्यतां स वचनीयमशेषम्' इत्यादि तथा 'किं गतेन नहि युक्तमुपैतुम्' इत्यादि[4] पद्यों को और विक्रमोर्वशीय से ' सर्वक्षितिभृतान्नाथ दृष्टा सर्वांगसुन्दरी।

रामा रम्ये वनोद्देशे मया विरहिता त्वया।।[5] श्लोको को उद्धृत किया है ।पूर्वोदाहृत दो श्लोको मे सहोक्ति का विवेचन उन्होने किया कैसे ,कुछ भी स्पष्ट नही।अन्तिम श्लोक के विषय मे उन्हो ने लिखा है - यहाँ पर प्रधानभूतविप्रलम्भशृंगार के परिपोषण की

1- 'किंच शब्दमात्रयोगेनालंकारकल्पने हा धिगादृयुक्तावप्यलंकारत्वप्रसंगः प्राप्नोतीति।'
-काव्यानुशासनविवेक पृ०402

2- यत्रैकेनैव वाक्येन वर्णनीयार्थसिद्धये।
उक्तियुक्तमपरस्यापि सा सहोक्तिः सताम्मता।- व.जी.पृ० 3।।

3- उ रा.च.2/10

4- किरात० 9/39-40

5. विक्रमोर्वशीय 4/51।

सिद्धि के लिए दो वाक्यार्थों को एक साथ एक ही वाक्य से उपनिबद्ध किया गया है अतः सहोक्ति अलंकार है।[1] यह उर्वशी की विरहव्यथा से व्याकुल पुरूरवा की उक्ति है। वे विरहावस्था में अत्यन्त पीड़ित हो उन्मत्त की भांति जंगल के पशुपक्षियों, वृक्षों, लताओं एवं पर्वतों से अपनी प्रियतमा के विषय में पूछते हुए पर्वत से पूछते हुए, कि हे पर्वतराज ! क्या मुझसे वियुक्त सर्वांगसुन्दरी प्रियतमा को तुमने इस रमणीय वन प्रदेश में देखा है? वस्तुतः राजा की ही उक्ति की प्रतिध्वनि कन्दरा से आती है जिसे उन्मादवश राजा समझते हैं कि यह पर्वतराज का उत्तर है और वह कह रहा है कि हे राजाधिराज, आपसे वियुक्त सर्वांगसुन्दरी प्रियतमा को मैंने इस रमणीय वन प्रदेश के में देखा है। राजा खुशी के मारे झूम उठते हैं। लेकिन जब चारों ओर सुनसान दिखाई पड़ता है और यह समझते हैं कि यह मेरे ही वाक्य की प्रतिध्वनि है तो वे मूर्च्छित हो जाते हैं । इस तरह विप्रलम्भशृंगार अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त हो जाता है। यहाँ कवि ने ऐसी वाक्यरचना प्रस्तुत की है जिससे कि एक साथ दोनों वाक्यार्थों का प्रतिपादन हो गया है। अतः सहोक्ति अलंकार है। निश्चित ही कोई भी सहृदय कुन्तक की इस सहोक्ति अलंकार की व्याख्या को अनुपयुक्त नहीं कह सकता।

कुन्तक ने श्लेष से इसका पार्थक्य सिद्ध करने के लिए एक पूर्वपक्ष प्रस्तुत कर उसका समाधान इस प्रकार किया है । पूर्वपक्षी की ओर से यह प्रश्न किया गया कि जब एक वाक्य से अनेक अर्थों की प्रतीति होती है तो क्यों न मान लिया जाय इसका कुन्तक उत्तर देते हैं कि यह कहना समीचीन नहीं। क्योंकि श्लेष में दोनों वाक्यार्थ अथवा उनमें से एक वाक्यार्थ मुख्य होता है लेकिन सहोक्ति में ऐसा नहीं है क्योंकि यहाँ दो अथवा बहुत से वाक्यार्थ सभी गौण रूप में सामने आते हैं और उनका पर्यवसान प्रधान अर्थ में होता है। साथ ही श्लेष में एक ही शब्द के द्वारा प्रदीपप्रकाश की तरह एक साथ ही दो अर्थों का अथवा दो शब्दार्थों का प्रकाशन होता है अतः वहाँ शब्द सामान्य हो जाता है। लेकिन सहोक्ति में वैसे अपने अंशों के अभाव के कारण एक ही वाक्य के पुनः पुनः आवृत्त होने पर दूसरी वस्तु प्रकाशित होती है। अतः यहाँ आवृत्ति होने पर शब्द व्यापकता को प्राप्त कर लेती है। अतः श्लेष से सहोक्ति का भेद है। यदि इस उदाहरण में कोई यह कहना चाहे कि 'सर्वक्षितिभृतान्नाथ' इस वाक्य के एकदेश में श्लेष का अनुप्रवेश सम्भव है तो कोई बात नहीं उस वाक्य के एकदेश में सम्भव होने वाला

1- वही, पृ० 211

श्लेष अंगभूत है और प्राधान्य तो सहोक्ति का ही है । यहाँ कोई यह शंका किया कर सकता है कि जब अन्य अर्थ की प्रतीति आवृत्ति के कारण होती है तब तो अर्थान्वय मे सहभाव का अभाव होने के कारण सहोक्ति हो ही नही सकती। तो इसका उत्तर यह है कि अलंकार सहोक्ति बताया गया है सहप्रतिपत्ति नही। अतः एक साथ कथन से ही प्रस्तुत का उत्कर्ष व्यक्त होता है एक साथ अर्थ प्रतीति होने से नही।[1]

इस प्रकार कुन्तक इन दो अलंकारो के प्राचीन स्वरूप को अमान्य ठहरा कर नवीन स्वरूप प्रदान करते है । इनके अतिरिक्त अनेको अलंकारो को पृथक अलंकारत्व का निराकरण कुन्तक कुछ अलंकारो मे उनका अन्तर्भाव करते हुए करते है । उनका विवेचन करने से पूर्व दो अलंकार और बचते है जिनका निराकरण कुन्तक ने किया है। वे है यथासंख्य और उपमारूपक। उन्ही का विवेचन पहले प्रस्तुत किया जा रहा है।

(14) यथासंख्य

कुन्तक के पूर्ववर्ती आचार्यो मे भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट ने यथासंख्य का प्रायः एक ही सा लक्षण प्रस्तुत किया है। यहाँ तक कि भामह और उद्भट की परिभाषा तो शब्दशः एक ही है । इन सब के अनुसार - भिन्न धर्म वाले अनेक निर्दिष्ट पदार्थों का यथाक्रम अनुनिर्देश यथासंख्य अलंकार होता है।[2] वामन ने इसे क्रम कहा है।[3] इसका भामह द्वारा दिया गया उदाहरण इस प्रकार है —

पद्मेन्दु भृंगमातंगपुंस्कोकिलकलापिनः ।
वक्त्रकान्तीक्षणगतिवाणीवालैस्त्वया जिताः ।[4]

यहाँ यथाक्रम पद्म को मुख के द्वारा, चन्द्रमा को कान्ति के द्वारा, भ्रमर को नेत्र के द्वारा, ~~चन्द्रमा को कान्ति के द्वारा,~~ गज को गमन के द्वारा, पुंस्कोकिल को वाणी के द्वारा और मयूर को केशो के द्वारा जीतने का वर्णन किया गया है अतः यहाँ यथासंख्य अलंकार है। कुन्तक का कहना है कि इसमे किसी प्रकार का उक्तिवैचित्र्य नही है अतः इसके द्वारा कोई काव्य मे कमनीयता नही आ पाती । अतः इसको अलंकार मानना समीचीन नही क्योंकि अलंकार तो रमणीयता को अथवा सौन्दर्यातिशय को उत्पन्न करने वाला उक्तिवैचित्र्य होता है।[5] हेमचन्द्र ने भी यथासंख्य को अलंकारता का निषेध किया

1- द्रष्टव्य, व.जी.पृ0 212

2- भूयसामुपदिष्टानामर्थानामसधर्मणाम्। क्रमशो योऽनुनिर्देशो यथासंख्यं तदुच्यते। भामह काव्यालंकार

3- का.सू.वृ. 4/3/17

4- भामह काव्या0 2/90

5- व.जी.पृ0 220

है उन्हों ने उसे भग्नप्रक्रमतादोष का अभाव मात्र कहा है। उसमें यथासंख्य कृत कोई वैचित्र्य नहीं होता जिससे कि उसे अलंकार कहा जा सके।[1] यद्यपि कुन्तक के परवर्ती भी प्रायः सभी आचार्यों ने यथासंख्य को अलंकार रूप में वर्णित किया है किन्तु यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो कुन्तक और हेमचन्द्र का कथन ही अधिक युक्ति संगत प्रतीत होता है।

(15) उपमारूपक

उपमारूपक अलंकार का पृथक् विवेचन करने वाले आचार्य भामह ही हैं। उनके अनुसार उपमान के साथ उपमेय का तद्भाव अर्थात् अभेद प्रतिपादित करते हुए जिस उपमा को प्रस्तुत किया जाता है उसे उपमारूपक अलंकार कहते हैं।[2] जैसे -'समस्त आकाश के विस्तार का मानदण्ड एवं सिद्धवनिताओं के मुख चन्द्र का अभिनवदर्पण रूप विष्णु का चरण सर्वोत्कर्ष से युक्त है।'[3] इस वाक्य में उपमारूपकालंकार है। भामह के ये लक्षण और उदाहरण स्वयं ही अस्पष्ट हैं। यहाँ केवल रूपक अलंकार ही स्वीकार किया जा सकता है। कुन्तक ने भामह के इस अलंकार को अनुपपन्न बताया है। परन्तु उनके तर्क क्या रहे कुछ कह सकना कठिन है। सम्भव है कि उन्हों ने यही तर्क दिया हो कि इसका कोई स्वतंत्र स्वरूप ही नहीं है फिर भामह के उदाहरण से तो यह स्पष्ट ही रूपक प्रतीत होता है। आचार्य दण्डी ने उपमारूपक को रूपक का एक प्रकार निरूपित किया है। वे उपमान और उपमेय (गौण और मुख्य) के साधर्म्य का वर्णन होने पर उपमा रूपक कहते हैं।[4] जैसे- मद से लाल यह मुखचन्द्र उदयकालिक लालिमा से युक्त चन्द्रमा के साथ प्रतिस्पर्धा कर रहा है।[5] इस वाक्य में उपमारूपक है। क्यों कि मुखचन्द्र की चन्द्रमा के साथ स्पर्धा दिखाकर साधर्म्य स्थापित किया गया है। दण्डी का यह रूपक प्रकार निश्चित ही भामह के स्वतंत्र उपमारूपकालंकार की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। इन दो आचार्यों के अतिरिक्त उपमा-

---

1- काव्यानुशासन पृ० 402

2- भामह, काव्या० 3/35

3- समग्रगगनायाममानदण्डो रथाङ्गिनः। पादो जयति सिद्धस्त्रीमुखेन्दुनवदर्पणः॥ भामह, काव्या० 3/36

4- काव्यादर्श, 2/88

5- अयमालोहितच्छायो मदेन मुखचन्द्रमाः। सन्नद्धोदयरागस्य चन्द्रस्य प्रतिगर्जति॥ काव्यादर्श 2/89

रूपक का उल्लेख करने वाले तीसरे आचार्य वामन है । उन्होने उपमारूपक को संसृष्टि के एक भेद रूप मे प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार एक अलंकार जब दूसरे अलंकार का निमित्त (योनि) होता है तो संसृष्टि होती है। अतः जहाँ रूपक उपमा से उत्पन्न होता है वहाँ उपमा रूपक होता है। जैसे स्तुतबकालोक रूप लताओं के कन्दभूत कूर्ममूर्ति सर्वातिशायी है। इस वाक्य मे पहले लोको की उपमा लताओ से दी गयी और फिर उसके कन्द का कूर्ममूर्ति पर आरोप किया गया। अतः उपमाजन्य रूपक होने के कारण उपमारूपक अलंकार हुआ। अपने लक्षण के अनुसार वामन के भी उपमारूपक रूप संसृष्टि का स्वरूप यथाकथंचित् समीचीन ही है। और यही कारण है कि कुन्तक ने एक स्वतंत्र अलंकार के रूप मे उपमारूपक की प्रतिष्ठा करने वाले आचार्य भामह का ही खण्डन किया है । दण्डी अथवा वामन का नही। इस प्रकार उन अलंकारो का विवेचन समाप्त होता है जिनके लक्षणो को अनुपपन्न बताकर कुन्तक ने उनकी अलंकारता का निषेध किया था । अब उन अलंकारो का विवेचन किया जायगा जिनका कि अन्तर्भाव कुन्तक ने किसी विशिष्ट अलंकार मे किया है । सर्वाधिक अलंकारो का अन्तर्भाव कुन्तक ने उपमा मे किया है । अतः पहले उपमा का स्वरूप निरूपित कर उसमे अन्तर्भूत होने वाले अलंकारो को प्रस्तुत किया जायगा।

(16) उपमालंकार

दुर्भाग्यवश पाण्डुलिपि के अत्यन्त भ्रष्ट होने के कारण कुन्तक का सम्पूर्ण उपमा-विषयक विवेचन सुस्पष्ट ढंग से प्रस्तुत नही किया जा सकता । और न कुन्तक द्वारा स्वीकृत उसके भेद प्रभेदो का ही निरूपण किया जा सकता है । फिर भी जो स्वरूप डा० डे के निर्देशो एवं उनके द्वारा सम्पादित मूल के आधार पर स्पष्ट हो सका है वह प्रस्तुत किया जा रहा है। जहाँ पर प्रस्तुत पदार्थ का उसके विवक्षित किसी धर्म विशेष की मनोज्ञता की सिद्धि के लिए उस मनोहारित्व के अतिशय से सम्पन्न किसी अप्रस्तुत पदार्थ के साथ सादृश्य निरूपण किया जाता है वहाँ उपमा अलंकार होता है। इस उपमा को प्रस्तुत करते है क्रिया पद । क्रियापद से आशय यहाँ केवल वाक्यवाचक सामान्य से है न कि केवल आख्यात पद से । अतः जहाँ पर क्रिया गौण रूप से भी रहेगी वहाँ [1] वह उपमा की वाचक होगी । लेकिन क्रियापद उस उपमा को तभी प्रस्तुत कर सकेंगे [illegible]

1- द्रष्टव्य का.सू.वृ. 4/3/30-32 तथा-वृत्ति

स कूर्ममूर्तिमधिशेते स्तुतबकालोकलतिकाकन्दः ।

कि उसका प्रतिपादन वैदग्ध्यपूर्ण भंगिमा से किया जायगा, अन्यथा सहृदयाह्लादकारित्व ही नहीं होगा तो फिर अलंकारत्व कैसा ? क्रियापद के साथ ही इव आदि, तथा उसे प्रस्तुत करने में समर्थ कुछ शब्द विशेष कुछ प्रत्यय एवं बहुव्रीहि आदि समास भी उपमा के वाचक होते हैं। साथ ही उपमा में उपमान और उपमेय के साधारण धर्म का कथन आवश्यक होता है। और क्रिया पद तथा इवादिक इस उपमा को तभी प्रस्तुत कर पाते हैं जब कि उनका वाक्यार्थ में विद्यमान पदार्थों के साथ सम्बन्ध विद्यमान रहता है।[1] वस्तुतः डा० डे ने उपमा का निरूपण करने वाली जिन कारिका एवं वृत्ति भाग को मुद्रित किया है उससे उपमा का अधिक स्पष्ट स्वरूप सामने नहीं आता। उक्त लक्षण उपमासामान्य अथवा पूर्णोपमा को प्रस्तुत करता है। उक्त विवेचन से कुन्तक के उपमाविषयक कुछ मन्तव्य इस प्रकार सामने आते हैं। (1) उपमा में उपमेय के किसी धर्म की रमणीयता का प्रतिपादन करने के लिए उस धर्मातिशय से युक्त धर्मी हुए उपमान के साथ उपमेय का सादृश्य स्थापित किया जाता है, केवल धर्म का ही सादृश्य नहीं है। (2) उपमा में वैदग्ध्यभंगी अर्थात् वक्रोक्ति का होना परमावश्यक है अन्यथा सहृदयाह्लादकारित्व का अभाव होने से वह अलंकार ही नहीं होगी। (3) उपमान और उपमेय के साधारण धर्म का प्रतिपादन आवश्यक होता है। (4) इस उपमा के वाचक मुख्य अथवा गौण उभयरूप क्रिया पद, इवादि शब्द बहुव्रीहि समास तथा कुछ प्रत्यय अथवा औपम्य के प्रतिपादन में समर्थ कुछ विशिष्ट शब्द हुआ करते हैं। (5) इस उपमा का विषय सम्पूर्ण वाक्यार्थ होता है जिसमें विद्यमान सभी पदार्थ एक दूसरे से परस्पर भलीभाँति सम्बद्ध होते हैं। इस प्रकार कुन्तक का यह लक्षण निश्चित ही उपमा अथवा पूर्णोपमा के स्वरूप का सुस्पष्ट एवं समीचीन ढंग से निरूपण करता है। इसके बाद जैसा कि डा० डे निर्देश करते हैं कुन्तक ने मुख्यक्रियापद पदार्थोपमा, इवादिप्रतिपादकपदार्थोपमा, आख्यातपदप्रतिपादकपदार्थोपमा तथा वाक्योपमा आदि के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। उन्होंने उपमा के लुप्तोपमादि प्रभेदों का निरूपण किया था अथवा नहीं

1- विच्छित्तिपरिस्पन्दमनोहारिपरिवृत्तये ।
वस्तुनः केनचित् साम्यं तदुत्कर्षवतोपमा।
तां साधारणधर्मोक्तौ वाक्यार्थे वा तदन्वयात्।
इवादिरपि विच्छित्त्या यत्र वक्ति क्रियापदम्।*
तथा वृत्ति - व.जी. पृ० 197-198

कुछ पता नही चलता । इतना तो निश्चित ही स्वीकार करना पड़ेगा कि कुन्तक को 'प्रतीयमानोपमा' भी मान्य थी क्यो कि प्रतिवस्तूपमा का अन्तर्भाव प्रतीयमानोपमा मे करते हुए इस बात का वे स्पष्ट निर्देश करते है —

'तदेवं प्रतिवस्तूपमायाः प्रतीयमानोपमायामन्तर्भावोपपत्तौ सत्याम्'[1]

अब उन अलंकारो का विवेचन किया जायगा जिन्हे कि अन्य आचार्यो ने स्वतंत्र अलंकार के रूप मे स्वीकार कर रखा है परन्तु उनका अन्तर्भाव कुन्तक उपमा मे करते है । वे अलंकार है - 1- प्रतिवस्तूपमा 2- उपमेयोपमा 3- अनन्वय 4- तुल्ययोगिता 5- निदर्शना तथा 6- परिवृत्ति । अब इनका यथाक्रम विवेचन प्रस्तुत किया जायगा ।

(17) प्रतिवस्तूपमा

कुन्तक प्रतिवस्तूपमा का अन्तर्भाव प्रतीयमानोपमा मे करते है । उनका कहना है कि प्रतिवस्तूपमा का अलग से लक्षण करना ही बेकार है । भामह के अनुसार 'यहाँ पर यथा तथा इन शब्दो के प्रयोग के बिना भी समानवस्तुविन्यास के कारण गुणसाम्य की प्रतीति होती है वहाँ प्रतिवस्तूपमा अलंकार होता है।'[2] जैसे जिनकी सम्पत्ति समस्त सत्पुरुषो के लिए साधारण है ऐसे कितने गुणी है ? अथवा जो स्वादिष्ट एवं पके फलो से झुके हुए है वे मार्गस्थ वृक्ष ही कितने है ?[3] इन दोनो वाक्यो मे गुण साम्य की प्रतीति होने के कारण प्रतिवस्तूपमा अलंकार है । कुन्तक भामह के इस उदाहरण का विवेचन करते हुए कहते है कि यहाँ समान विवक्षित मे युक्त गुणी एवं मार्गवृक्ष दोनो का ही कवि विवक्षित विलक्षण रूप साम्य के अतिरिक्त और कोई मनोहारिता का कारण नही दिखाई पड़ता अतः इसका प्रति प्रतीयमानोपमा मे ही अन्तर्भाव समीचीन है ।[4] हेमचन्द्र ने भी प्रतिवस्तूपमा का अलग से निरूपण नही किया । हाँ, उन्हो ने उसका अन्तर्भाव उपमा मे न कर के निदर्शना मे स्वीकार किया है । निदर्शन अलंकार के प्रसंग मे उनका स्पष्ट कथन है कि -'केचित्तु प्रतिवस्तूपमां, प्रकारद्वयेन निदर्शनां च दृष्टान्तमाहुः, तदा न लक्ष्यते । xxx निदर्शनालक्षणेनैव व्याप्तत्वात् ।'[5]

1- व.जी., पृ0 201

2- भामह, काव्या0, 2/34

3- 'कियन्तः सन्ति गुणिनः साधुसाधारणश्रियः ।
स्वादुपाककलानम्राः कियन्तो वाऽध्वशाखिनः ।। वही, 2/36

4- व.जी., पृ0 200

5- काव्यानुशासनविवेक, पृ0 354

(18) उपमेयोपमा

आचार्य भामह के अनुसार उपमेयोपमा अलंकार वहाँ होता है जहाँ पर क्रम से उपमान को उपमेय और उपमेय को उपमान रूप में प्रस्तुत किया जाता है । जैसे सुगन्धयुक्त, नयनों को आनन्दित करने वाला मदिरामद से लाल तुम्हारा मुख कमल के समान है, और कमल तुम्हारे मुख के समान है।[1] इस वाक्य में मुख और कमलकी क्रम से उपमेयोपमानता का वर्णन होने से उपमेयोपमालंकार है। कुन्तक इसका भी उपमा में ही अन्तर्भाव करते हैं क्यों कि इसका लक्षण उपमा के लक्षण से अभिन्न है । उभयत्र उपमान और उपमेय का सादृश्य ही अलंकारता को प्रस्तुत करता है। अतः लक्षण के स्वरूप में कोई भेद नहीं है। [illegible] यहाँ पर केवल भेद यही है कि उपमान और उपमेय क्रम से उपमेय और उपमान हो जाते हैं परन्तु इससे दोनों के लक्षणस्वरूप में भिन्नता तो नहीं आ जाती। उपमान और उपमेय के स्वरूप में भले भिन्नता हो।[2] हेमचन्द्र भी उपमेयोपमा का अन्तर्भाव उपमा में ही करते हैं[3]।

(19) तुल्ययोगिता

आचार्य भामह के अनुसार जहाँ पर न्यून का भी विशिष्ट के साथ गुण साम्य प्रतिपादन करने की इच्छा से समान कार्यक्रिया के साथ सम्बन्ध वर्णित होता है वहाँ तुल्ययोगिता अलंकार होता है।[4] जैसे किसी राजा की चाटुकारिता में तत्पर किसी कवि की इस उक्ति में - कि हे राजन् । शेषनाग, हिमालय और आप तीनों ही महान्, गौरवशाली, एवं स्थिर हैं क्यों कि आप तीनों ही बिना मर्यादा का उल्लंघन किए इस चलती हुई पृथ्वी को धारण करते हैं[5]। तुल्ययोगिता अलंकार विद्यमान है ।क्यों कि न्यून राजा का विशिष्ट शेषनाग एवं हिमालय से गुणसाम्य प्रतिपादित करने की इच्छा से तीनों का चलती

1- भामह, काव्या० 3/37-38

'अम्भोजमिव चलाक्ष्याः स्वदास्यमिव पंकजम्।'

2- वक्रोक्ति०, तृ उ०, पृ० 201

3- काव्यानुशासन, पृ० 347-48

4- भामह, काव्या० 3/27

5- शेषो हिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिराः।

यदलंघितमर्यादाश्चलन्तीं बिभृथ क्षितिम्। भामह, काव्या० 3/28

हुई पृथ्वी की धारण रूप क्रिया के साथ समान सम्बन्ध स्थापित किया गया है ।आचार्य कुन्तक उपमेयोपमा की भांति ही इसको भी पृथक् अलंकारता का खण्डन करते है और कहते है कि इसमे भी दो भिन्न वस्तुओ मे केवल साम्यातिरेक ही तो प्रस्तुत किया जाता है और वे दोनो मुख्य रूप से वर्णनीय वस्तु ही होते है।अतः इसका भी स्पष्ट रूप से उपमा मे ही अन्तर्भाव हो जाता है —'या अथा भवत्युपमितिः स्फुटम्।'[1] हेमचन्द्र भी तुल्ययोगिता अलंकार का निरूपण नहीं करते।

(20) अनन्वय

आचार्य भामह के अनुसार 'जहाँ सादृश्य का अभाव प्रतिपादित करने की इच्छा से उसी को उसी के साथ उपमानोपमेयता वर्णित की जाती है वहाँ अनन्वय अलंकार होता है।[2] जैसे 'ताम्बूल की रक्तिमा के मण्डलवाला, स्फुरित होती हुई दन्तरश्मियो से युक्त नील कमल की कान्ति के तुल्य नयनो वाला तुम्हारा मुख तुम्हारे मुख के ही सदृश है।[3] 'इस वाक्य मे किसी नायिका के मुख के सादृश्य का अभाव प्रतिपादित करने के लिए उसके मुख की तुलना उसी के मुख मुख मे की गई है। कुन्तक इसको भी पृथक् अलंकारता का निराकरण कर इसका अन्तर्भाव उपमा मे ही करते है । उनका कहना है कि इस अलंकार मे लक्षण तो उपमा का ही घटित होता है,अन्तर केवल इतना ही है कि इसमे उपमान काल्पनिक होता है। अतः इन अलंकारो मे भिन्नरूपता उक्तिवैचित्र्य के प्रभेदो की है न कि लक्षण के प्रभेदो की।[4] लक्षण तो एक ही है।उसमे भिन्नरूपता उक्तिवैचित्र्य की है। आचार्य हेमचन्द्र भी इसको पृथक् अलंकारता अस्वीकार करते है और उपमा मे ही इसका अन्तर्भाव करते है।उनका भी तर्क वही है जो कि कुन्तक का है अर्थात् यदि ऐसे वैचित्र्य के कारण पृथक् पृथक् लक्षण किया जायगा तब तो अतिप्रसंग उपस्थित हो जायगा क्यो कि इस प्रकार के तो सहस्रो कि वा अनन्त वैचित्र्य सम्भव है।[5]

1- व.जी. पृ020।   2- भामह, काव्या03/45

3- ताम्बूलरागवलयं स्फुरद्दशनदीधिति।इन्दीवराभनयनं तवेव वदनं तव।।का0, 3/46

4- 'तदेवमभिधावैचित्र्यप्रकाराणामेवंविधं वैरूप्यम्, न पुनर्लक्षणभेदानाम्।' व.जी. पृ0[illegible]

5- काव्यानुशासन, पृ0347-348 'सन्ति हि प्रकारान्तर(?)रभिधावैचित्र्यप्रकाराणामानन्त्या-
दतिप्रसंगः स्यादिति।'

(21) निदर्शना

आचार्य भामह के अनुसार बिना यथा, इव और वति का प्रयोग किए ही जहाँ उनके विशिष्ट अर्थ (अर्थात् सादृश्य) का प्रदर्शन केवल क्रिया के द्वारा ही कर दिया जाता है वहाँ निदर्शना अलंकार होता है।[1] जैसे श्री सम्पन्न मनुष्यों को यह बताते हुए कि उदय पतन के लिए होता है, यह मन्दप्रभ सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा है।[2] यहाँ पर सूर्य की विशिष्ट क्रिया के द्वारा ही उदयप्राप्त सूर्य और श्रीसम्पन्न व्यक्ति का पतन रूप सादृश्य यथा आदि के बिना ही प्रतिपादित किया गया है। अतः निदर्शना अलंकार है। कुन्तक ने निदर्शना अलंकार की भी पृथक् अलंकारता का खण्डन कर उसका भी उपमा में ही अन्तर्भाव किया है, जैसा कि डा० दे निर्देश करते हैं। परन्तु कुन्तक ने किस प्रकार इसका अन्तर्भाव उपमा में किया यह ग्रन्थ से कुछ स्पष्ट नहीं होता। भामह के लक्षण में तो यथा, इव आदि शब्दों के प्रयोग के पर सिद्ध हो जाता है कि उन्हें दोनों में सादृश्य प्रतीति ही अभीष्ट है। अतः उनके द्वारा अभिमत निदर्शना का तो निश्चित ही प्रतीयमानोपमा में अन्तर्भाव हो सकता है। साथ ही दण्डी उद्भट आदि के भी निदर्शना प्रकारों का अन्ततः पर्यवसान सादृश्यप्रतीति में ही होता है अतः उनका भी प्रतीयमानोपमा में ग्रहण किया जा सकता है। उसमें कोई आपत्ति नहीं परिलक्षित होती।

(22) परिवृत्ति

आचार्य भामह के अनुसार 'जहाँ अन्य वस्तु के परित्याग से विशिष्ट वस्तु का ग्रहण वर्णित होता है और जिसमें अर्थान्तरन्यास विद्यमान रहता है वहाँ परिवृत्ति अलंकार होता है।[3] जैसे- 'उस (राजा) ने याचकों को धन देकर यशः श्री को प्राप्त किया। समस्त लोक का हित करने वाले सज्जनों का यह सुदृढ़ व्रत है।[4] 'इस वाक्य में धन के परित्याग से यशश्री का ग्रहण वर्णित है साथ ही दूसरे वाक्य में अर्थान्तरन्यास भी है। अतः परिवृत्ति अलंकार है। आगे चल कर अन्य आचार्यों ने केवल विनिमय को ही परिवृत्ति स्वीकार किया और अर्थान्तरन्यास की सत्ता का बन्धन उससे हटा दिया।

1- भामह, काव्या०, 3/33

2- अयं मन्दद्युतिर्भास्वानस्तं प्रति यियासति।
उदयः पतनायेति श्रीमतो बोधयन्नरान्॥ वही, 3/34

3- भामह, काव्या०, 3/41

4- 'प्रदाय वित्तमर्थिभ्यः स यशोधनमाददे।
सतां विश्वजनीनानामिदमस्खलितं व्रतम्॥ वही, 3/42

कुन्तक ने विनिमय तथा परिवृत्ति की अलंकारता का ही खण्डन किया है । उनका कहना है कि अलंकार गौण तथा अलंकार्य मुख्य होता है। परिवृत्ति में जिन पदार्थों का परिवर्तन होता है वे दोनों ही मुख्य होते हैं उनमें किसी के प्राधान्य का कोई निश्चित नियम नहीं होता अतः उनमें परस्पर अलंकार भाव हो ही नहीं सकता। अथवा जब अन्य गुणों का विरोध होने पर साम्य की महत्ता विद्यमान रहती हैं तो वहाँ उपमा अलंकार ही उचित प्रतीत होता है। वस्तुतः पाण्डुलिपि के दूषित होने के कारण कुन्तक के तर्कों एवं विवेचन को स्पष्टतया प्रस्तुत नहीं किया जा सकता । वस्तुतः वस्तु विनिमय में किसी भी प्रकार का चमत्कार न होने और केवल वस्तुस्वरूप का ही प्रतिपादन होने से उसे अलंकार कोटि में न रख कर अलंकार्य कोटि में ही रखना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। 'राजा ने याचकों को धन देकर यशः श्री को प्राप्त किया' यही तो वर्णनीय विषय है । अलंकार्य है । उसे अलंकार कैसे कहा जा सकता है । रही भामह द्वारा स्वीकृत अर्थान्तरन्यास के सद्भाव की बात । उसके कारण निश्चित ही अर्थान्तरन्यास अलंकार स्वीकार किया जा सकता है परिवृत्ति नहीं ।

इस प्रकार कुन्तक ने जिन अलंकारों का अन्तर्भाव उपमा में किया था उनका अधिक से अधिक जितना स्पष्ट विवेचन कर सकना सम्भव था प्रस्तुत किया गया । उक्त अलंकारों की संख्या घटाने के विषय में किया गया कुन्तक का प्रयास निश्चित ही श्लाघनीय एवं समीचीन भी है। अन्यथा थोड़े थोड़े वैचित्र्य को लेकर अनन्त अलंकारों की कल्पना सम्भव हो सकती है । साथ ही वैसी कल्पना करने पर अलंकारों के स्वरूप में परस्पर स्पष्ट विभाजन की रेखा खींच सकना भी असम्भव हो जाना स्वाभाविक ही है । इसी अलंकार विस्तार के चक्कर में परवर्ती आलंकारिकों ने न जाने कितने ऐसे अलंकारों की कल्पना कर डाली है जिनमें कोई चारुत्व नहीं है । अतः ऐसा विस्तार उचित नहीं। अब दो अलंकार और शेष बचते हैं - विरोध और समासोक्ति जिनका कि अन्तर्भाव कुन्तक ने सम्भवतः श्लेष में किया है।

(23) श्लेष

यह बड़े दुःख की बात है कि आचार्य कुन्तक का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अलंकार श्लेष का विवेचन पाण्डुलिपि की अत्यधिक भ्रष्टता के कारण कुछ भी स्पष्ट नहीं किया जा सका

1- द्रष्टव्य, व.जी. पृ0205

डा0 डे ने केवल यही निर्देश किया है कि कुन्तक श्लेष का शब्दश्लेष, अर्थश्लेष एवम् उभयश्लेष रूप त्रिविध विभाजन प्रस्तुत करने में सम्भवतः उद्भट का अनुसरण करते हैं।[1]

(24) विरोध

आचार्य कुन्तक ने विरोध का अन्तर्भाव श्लेष में किया है। उनके तर्कों का कोई पता नहीं चलता। वे श्लेष से विरोध को अभिन्न मानते हैं।[2] लेकिन कुन्तक का यह अन्तर्भाव कुछ अधिक समीचीन नहीं प्रतीत होता। क्योंकि भामह तथा उद्भट ने जिस प्रकार से विरोध अलंकार का लक्षण एवं उदाहरण प्रस्तुत किया है, उनके उदाहरणों में कहीं श्लेष की गन्ध तक नहीं है। उनके मत के अनुसार किसी विशेष का प्रतिपादन करने के लिए जब गुण अथवा क्रिया के विरुद्ध अन्य क्रिया का कथन किया जाता है तो विरोध अलंकार होता है।[3] जैसे किसी राजा की चाटुकारिता करते हुए कवि की इस उक्ति में कि — 'हे राजन्! समीपस्थ उपवनों की छाया से शीतल भी यह भूमि अत्यन्त दूर देश में रहने वाले भी आपके शत्रुओं को सन्तप्त करती है।[4]' स्पष्ट ही शीतलता गुण का सन्तप्त करने रूप क्रिया से विरोध होने के कारण विरोध है। साथ ही इस वाक्य में चमत्कार भी इस विरोध के कारण विद्यमान है। अतः कोई भी सहृदय इसकी अलंकारता को नकार नहीं सकता। साथ ही किसी भी सहृदय को इसमें श्लेष का गन्ध भी पा सकना असम्भव ही है। अतः कुन्तक का कथन इन आचार्यों के लक्षणों एवं उदाहरणों को ध्यान में रखने पर अपने आप अग्राह्य हो जाता है। आचार्य वामन द्वारा स्वीकृत विरोध जिसे कि परवर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत 'असंगति' अलंकार कहा जा सकता है वह भी श्लेष की परिधि से बाहर ही है।[5] उसका भी अन्तर्भाव यथाकथंचित भामह आदि द्वारा स्वीकृत इसी विरोध में किया जा सकता है। इसी प्रकार दण्डी, रुद्रट एवं परवर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत विरोध का भी सर्वथा श्लेष में अन्तर्भाव करना समीचीन नहीं। यदि श्लेष में अन्तर्भाव करने का कथमपि आग्रह किया भी जा सकता है तो वहीं पर जहाँ कि विरोधश्लेषमूलक है। जैसे दण्डी के इस उदाहरण —

1- द्रष्टव्य, व.जी.पृ0 205

2- 'श्लेषैवाविरोधविभिन्नत्वात्' -वही, पृ0 209

3- द्रष्टव्य भामह, काव्या03/25 तथा काव्या0पृ063

4- उपान्तरूढोपवनच्छायाशीतापि भूरसौ ।
विदूरदेशानपि वः सन्तापयति विद्विषः । भामह, काव्या03/26

5- द्रष्टव्य काव्या0सू04/3/12 तथा वृत्ति एवं का.प्र0 10/126

'कृष्णार्जुन सखापि दृष्टिः कर्णाबलम्बिनो।
याति विश्वसनीयत्वं कथ्यते क्लमाविनि[1] ।।' मे विरोध न स्वीकार कर श्लेष को सत्ता स्वीकार की जा सकती है। यद्यपि चमत्कार यहाँ विरोध की प्रतीति होने से ही है । अतः प्राधान्य उसी का है ।

(25) समासोक्ति

समासोक्ति की अलंकारता का खण्डन कुन्तक ने इस आधार पर किया है कि उसमें दूसरे अलंकार के रूप में कोई शोभा नहीं होती।[2] आचार्य भामह के अनुसार जहाँ किसी (एक पदार्थ) के वर्णन करने पर उसके समान विशेषण वाले किसी अन्य पदार्थ की प्रतीति होती है वहाँ संक्षिप्तार्थता के कारण समासोक्ति अलंकार होता है।[3] भामह का उदाहरण है-

'स्कन्धवानृजुरव्यालः स्थिरोऽनेक महाफलः ।
जातस्तरुरयं चोच्चैः पातितश्च नभस्वता।।[4]

कुन्तक ने इसका खण्डन करते हुए कहा है कि यहाँ पर यदि तरु और महापुरुष दोनों को मुख्य माना जाता है तो महापुरुष के पक्ष में विशेषण तो है अतः विशेष्यविधायक पदान्तर को भी कहना चाहिए। अथवा यदि विशेषणों की अन्यथा अनुपपत्ति होने से विशेष्य को प्रतीयमान रूप में कल्पना की जाती है, तो ऐसी कल्पना का कुछ भी लाभ दिखायी नहीं देता। अतः स्पष्ट ही इसमें शोभाशून्यता है[5] । वैसे भामह द्वारा उदाहृत इस श्लोक में समासोक्ति के बजाय यदि अप्रस्तुत प्रशंसालंकार स्वीकार किया जाय तो अधिक अच्छा होगा। क्योंकि श्लिष्ट विशेषणोंके कारण अप्रस्तुत तरु के द्वारा प्रस्तुत महापुरुष की और अप्रस्तुतवायु के द्वारा प्रस्तुत किसी दुर्जन व्यक्ति के दुरसाम्य की प्रतीति स्पष्ट ही चमत्कारिणी प्रतीत होती है । यदि कोई यह तर्क प्रस्तुत करना चाहे कि समासोक्ति में प्रस्तुत व्यवहार से अप्रस्तुत व्यवहार की प्रतीति होती है जब कि

1- काव्यालंकार, 2/339
2- अलंकारान्तरवेन शोभाशून्यत्वात्‌ व जी. पृ०210
3- भामह, काव्यालंकार, 2/79
4- वही, 2/80
5- व.जी. पृ०210

अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत व्यवहार से प्रस्तुत व्यवहार की तो यह तर्क ही उचित नहीं । क्यों कि भामह के समासोक्ति लक्षण में प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत का कोई ऐसा नियमन नहीं है । साथ ही दण्डी के लक्षण में भी कोई ऐसा नियमन नहीं[1] । यहाँ तक कि आचार्य वामन ने तो दोनों ही अलंकारों में उपमेय की ही प्रतीयमानता स्वीकार की है[2] । ऐसा नियमन केवल उद्भट करते हैं[3]। जैसा कि डा० दे निर्देश करते हैं, कुन्तक 'अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्सरः[4]' आदि श्लोक को, जिसमें कि अभिनव गुप्त ने भामह के अनुसार समासोक्ति अलंकार बताया है, उद्धृत कर उसका विवेचन करते हैं पर क्या इसका कोई निर्देश उन्होंने नहीं किया। लगता तो यह है कि कुन्तक ने यहाँ प्रतीयमान रूपक सिद्ध किया होगा। क्यों कि 'उपोढरागेण विलोलतारकम्[5]' आदि श्लोक को वे रूपक प्रकरण में उद्धृत करते हैं । यद्यपि डा० दे ने यहाँ यह निर्देश नहीं किया कि वह प्रतीयमानरूपक के उदाहरण रूप में है जब कि उसी के अनन्तर उद्धृत 'लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्' के विषय में वे निर्देश करते हैं कि उसे कुन्तक ने प्रतीयमानरूपक के रूप में उद्धृत किया है[6] । अतः उद्भटादि आचार्यों द्वारा स्वीकृत भी समासोक्ति का लोप में तो नहीं परन्तु प्रतीयमान रूपक में निश्चित ही अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिए उसे पृथक् अलंकार के रूप में स्वीकार करना वस्तुतः समीचीन नहीं है ।

इस प्रकार पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत उन समस्त अलंकारों का विवेचन समाप्त होता है जिनकी कि अलंकारता कुन्तक को मान्य नहीं थी । चाहे वे अलंकार्य रहे हों, अथवा वैचित्र्य से हीन रहे हों या कि पृथक् अलंकार के रूप में उल्लिखित होने योग्य न हो कर किसी में अन्तर्भूत हो गए हों । अब वे अलंकार शेष बचते हैं जिनकी कि अलंकारता कुन्तक को मान्य है, यह बात दूसरी है कि उनके स्वरूप में उन्होंने कुछ परिवर्तन किया हो। अब उन्हीं अलंकारों का विवेचन किया जायगा।

1- देखें काव्यादर्श 2/205
2- द्रष्टव्य का. सू. 4/3/3-4 तथा वृत्ति
3- प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानैर्विशेषणैः ।
   अप्रस्तुतार्थकथनं समासोक्तिरुदाहृता ।। का.अ.सं. 5.10।
4- उद्धृत वक्रो०पृ० 114-115 देखें लोचन पृ० 115
5- व.जी.पृ० 187
6- वही, पृ० 187

(26) रूपकालंकार

उपचारवक्रता का निरूपण करते हुए कुन्तक ने यह बताया था कि वह रूपकादि अलंकारों का मूल होती है[1]। इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि रूपक का प्राण उपचारवक्रता है। इस लिए कुन्तक ने रूपक का लक्षण किया कि जहाँ पर कोई वस्तु, उस सादृश्य को धारण करती हुई जो कि उपचार अर्थात् सम्बन्ध के अध्यारोप का एकमात्र प्राण होता है, अपने स्वरूप का अर्पण कर देती है। वहाँ रूपक अलंकार होता है[2]। जैसा डा0 डे निर्देश करते हैं इस में विद्यमान सादृश्य को प्रतीयमान होना चाहिए[3]। कुन्तक ने भामह का ही अनुसरण करते हुए इस रूपक के दो भेद किए हैं-5(1) समस्त वस्तु विषयरूपक और (2) एकदेशविवर्ति रूपक। समस्त वस्तु विषयरूपक वह होता है जिसके द्वारा अपने सुन्दर स्वरूप के समर्पण से समस्त वाक्य में विद्यमान सारे के सारे पदार्थ अलंकार्य होने के कारण रूपान्तर को प्राप्त करा दिए जाते हैं[4]। जैसे- 'कोमल शरीर रूपी लता का वसन्तावतार, सुन्दर मुख रूपी चन्द्रमा का शुक्लपक्षारम्भ तथा कामदेव रूपी मन का मदस्वरूप यौवनारम्भ सर्वातिशायी है[5]।' यहाँ पर समस्तवस्तु विषय रूपक है। एकदेश विवर्तिरूपक के विषय में कुन्तक ने पूर्वाचार्यों से अपना वैमत्य व्यक्त किया है। उन्होंने पूर्वाचार्यों के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि उन आचार्यों के अनुसार जो एकदेश से विघटित हो जाता है अथवा विशेष रूप से विद्यमान रहता है वह एकदेश विवर्तिरूपक होता है। कुन्तक इन दोनों ही मतों को अयुक्त बताते हैं। परन्तु उन्हें एकदेशविवर्तिरूपक किस रूप में मान्य था यह ग्रन्थ से स्पष्ट नहीं हो पाता[6]। उन्होंने रूपक के विषय में कहा है कि यदि इस अलंकार को उत्प्रेक्षा अथवा सन्देह आदि अलंकारों का साहाय्य प्राप्त हो जाता है तो यह अपूर्व ही वक्रता को प्रस्तुत करता है[7]।

1- 'यन्मूला सरसोल्लेखा रूपकादिरलंकृतिः' - व.जी. 2/14

2- उपचारैकसर्वस्वं (यत्र तद् ?)साम्यमुद्वहत्। यदर्पयति रूपं स्वं वस्तु तद्रूपकं विदुः ।। वही, पृ0 185

3- वही, पृ0 185   4- समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च। ऐसे वही [illegible]

5- [illegible] ।
[illegible] ।।-वही, पृ0 186

6- द्रष्टव्य वही, पृ0 186-187

7- [illegible] ।
[illegible] ।। वही, पृ0 187 तथा वृत्ति

(27) अप्रस्तुतप्रशंसा

आचार्य कुन्तक के अनुसार 'जहाँ पर अप्रस्तुत भी पदार्थ अथवा असत्यभूत वाक्यार्थ उपचार के एकमात्र प्राणभूत सादृश्य का अथवा दूसरे निमित्तनिमित्तादि सम्बन्धों का आश्रयण कर वर्णनीय पदार्थ की शोभा को समुल्लसित करते हुए वर्णनीय विषय बन जाते हैं वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार होता है।'[1] इस लक्षण से अप्रस्तुतप्रशंसा की भी उपचारमूलकता सिद्ध हो जाती है। इसकी ओर कुन्तक ने उपचारवक्रता का विवेचन करते हुए भी निर्देश किया है -

> 'आदिग्रहणादप्रस्तुतप्रशंसाप्रकारस्य कस्यचिदन्यापदेशलक्षणस्योपचारवक्रतैव जीवितत्वेन लक्ष्यते ।'[2]

कुन्तक के इस कथन से यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है कि ~~जहाँ पर कुन्तक के इस कथन से यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है कि~~ जहाँ पर सादृश्यनिबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा होती है उसी का प्राण उपचार है। ~~अन्य~~ जहाँ निमित्तनिमित्तादि सम्बन्धों से अप्रस्तुतप्रशंसा होती है वहाँ नहीं । प्रस्तुत पदार्थ दो प्रकार का होता है पहला तो वह होता है जो कि वाक्य में अन्तर्भूत पद मात्र से सिद्ध होता है । और दूसरा वह होता है जिसका कार्य समस्त वाक्य में व्यापक रूप से विद्यमान रहता है और जिसका अपने विविध विलासों से विशिष्ट प्राधान्य रहता है । इस अलंकार में कविगण इन दोनों ही प्रकारों के प्रस्तुतपदार्थों को प्रतीयमान ढंग से अपने हृदय में स्थापित कर उनकी शोभासम्पत्ति के लिए उससे भिन्न दूसरे अप्रस्तुत पदार्थ का वर्णन करते हैं जिसका कि प्रस्तुत पदार्थ से या तो सादृश्य सम्बन्ध रहता है अथवा निमित्तनिमित्तादि सम्बन्ध ।[3] उन्होंने सादृश्य के अतिरिक्त केवल निमित्तनिमित्तादि सम्बन्ध का ही उल्लेख किया है । साथ ही उसका जो एक उदाहरण उन्होंने —

> 'इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन जडिता दृष्टिर्मृगीणामिव'[4]

इत्यादि श्लोक को उद्धृत किया है उसे आगे चल कर रुय्यक तथा मम्मट प्रभृति ने

1- अप्रस्तुतोऽपि विच्छित्तिं प्रस्तुतस्यावतारयन् ।
यत्र तत्साम्यमाश्रित्य सम्बन्धान्तरतोऽपि वा ।।
वाक्यार्थोऽसत्यभूतो वा प्राप्यते वर्णनीयताम्।
अप्रस्तुतप्रशंसेति कथितासावलंकृतिः ।। 3 व.जी. पृ0 188

2- वही , पृ0 103   3- द्रष्टव्य वही, पृ0 188-189

4- बालरामायण 1/42

कार्यकारणभावसम्बन्ध से उपस्थित होने वाली अप्रस्तुतप्रशंसा के उदाहरण रूप में उद्धृत किया[1] है । इतना ही नहीं, कुन्तक द्वारा प्रस्तुत पदार्थ का द्विविध स्वरूप निरूपण भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है । उनके इस द्विविध निरूपण से समस्त पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत अप्रस्तुतप्रशंसा लक्षणों की संगति हो जाती है । यदि वे वाक्यान्तर्भूतप्रस्तुतपदार्थ की प्रशंसा का वर्णन न करते तो निश्चित ही वामन की अप्रस्तुतप्रशंसा का लक्षण सर्वथा असाध्य सिद्ध होता क्योंकि वामन के अनुसार उपमेय अर्थात् प्रस्तुत के किंचिन्मात्र से कथन होने पर समान वस्तु का न्यास होने पर अप्रस्तुतप्रशंसा होती है।[2] कुन्तक ने वामन द्वारा उद्धृत -'लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र'[3] इत्यादि श्लोक को ही इसके उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है । यहाँ पर जो अपर ही लावण्य सिन्धु का उपादान किया गया है उसी से रमणीय रूप प्रस्तुत पदार्थ के स्वरूप की प्रतीति होती है । यद्यपि आगे चल कर नरेन्द्रप्रभसूरि ने इस श्लोक में अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार का खण्डन किया है तथा भेद में अभेद रूपा, अभेद में भेद रूपा अतिशयोक्ति और व्यतिरेक का विषय बतलाया है[4] । परन्तु सूरि जी का विवेचन समीचीन नहीं प्रतीत होता क्योंकि कुन्तक के किसी भी पूर्ववर्ती आचार्य को अथवा स्वयं कुन्तक को अतिशयोक्ति का ऐसा स्वरूप मान्य नहीं रहा । यदि उद्भट में भेद में अभेद अथवा अभेद में भेद रूपा अतिशयोक्ति की बात कही भी थी तो वहाँ किसी निमित्त का कथन आवश्यक था[5] । जब कि उक्त श्लोक में ऐसे किसी भी निमित्त का वर्णन नहीं है । साथ ही उसमें कुन्तक एवं वामन दोनों के ही अप्रस्तुतप्रशंसालक्षण पूर्णतया घटित भी हो जाते हैं । दुर्भाग्यवश कुन्तक ने जो अपर पठित वाक्यार्थान्तर्भूतप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण एवं विवेचन प्रस्तुत किया था वह उपलब्ध नहीं होता अतः उसके निश्चित

1- द्रष्टव्य अलं०स०पृ० 134 तथा अलं० महो० पृ० 283

2- उपमेयस्य किंचिल्लिंगमात्रेणोक्तौ समानवस्तुन्यासे प्रस्तुतप्रशंसा। वृत्ति का० सू०वृ० 4/3/4

3- उद्धृत का.सू.वृ. पृ० 87 तथा व.जी. पृ० 189

4- द्रष्टव्य अलं० महो० पृ० 287

5- निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलंकारतया बुधाः ॥
भेदेऽनन्यत्वमन्यत्र नानात्वं यत्र बध्यते ।
तथा सम्भाव्यमानार्थनिबन्धेऽतिशयोक्तिगीः ॥

का.सा. सं. 2/11-12

स्वरूप के विषय में कुछ कह सकना कठिन है । फिर भी ऐसा लगता है कि उसके अंतर्गत उन्होंने अप्रस्तुतप्रशंसा के उस स्वरूप का विवेचन किया था जिसमें किसी अचेतनादि पदार्थों को सम्बोधित कर अप्रस्तुत रूप में वर्णन कर प्रस्तुत की प्रतीति कराई जाती है क्योंकि ऐसे स्थलों पर अचेतनादिक के सम्बोधन के कारण वाच्यार्थ अनुपपन्न होता है । पण्डितराज जगन्नाथ ने ऐसे स्थलों पर प्रतीयमान से अभेद की कल्पना प्रस्तुत की है[1] । तथा नरेन्द्रप्रभ सूरि जी ने वाच्यार्थ का ही सम्भव, असम्भव और सम्भवासम्भव त्रिविध विभाजन कर असम्भव के अन्तर्गत इसका विवेचन किया है[2] ।सम्भव है कि इन आचार्यों पर कुन्तक के विवेचन का प्रभाव रहा हो ।

(28) पर्यायोक्त अलंकार

आचार्य कुन्तक के अनुसार जहाँ किसी दूसरे वाक्य द्वारा कही जाने योग्य वस्तु का उससे भिन्न वाक्य के द्वारा समर्थन या प्रतिपादन कराया जाता है जिससे कि वाक्य में अपूर्व सौन्दर्य आ जाता है वहाँ पर पर्यायोक्त अलंकार होता है[3] ।पर्यायोक्त अलंकार का लगभग यही स्वरूप कुन्तक के पूर्ववर्ती एवं परवर्ती सभी आचार्यों को मान्य रहा है ।केवल लक्षणों की शब्दावली का अन्तर रहा है, आशय प्रायः एक ही रहे हैं ।कुन्तक ने पर्यायवक्रता से इसका भेद निर्देश करते हुए कहा है कि पर्यायवक्रता में केवल पदार्थ ही वाच्यरूप से विषय होता है जब कि पर्यायोक्त अलंकार में वाक्यार्थ भी अंगरूप से विद्यमान रहता है।[4]

(29) व्याजस्तुति अलंकार

दुर्भाग्यवश इस अलंकार के केवल कुछ उदाहरण ही ग्रन्थों में मिलते हैं ।इसके लक्षणस्वरूप का कोई भी निरूपण उपलब्ध नहीं होता । कुन्तक के प्रायः सभी पूर्ववर्ती भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट आदि आचार्यों ने मुख्यरूप से स्तुति के लिए प्रयुक्त की गई निन्दा का प्रतिपादन होने पर भी व्याजस्तुति अलंकार स्वीकार किया है[5] ।परन्तु परवर्ती

1- अस्यैव वाच्यार्थः क्वचित् प्रतीयमानतादात्म्येनैवाध्यवसितो xx क्वचित्तु [illegible] प्रतीयमानाभेदकल्पनेति।' -रसगंगाधर पृ०६५।

2- 'वाच्यो ऽप्यर्थस्त्रिविधः [illegible] सम्भवासम्भवोभयैः । अलं०म०8/44

3- यद्वाक्यान्तरवक्तव्यं तदन्येन समर्प्यते ।
येनोपशोभानिष्पत्त्यै पर्यायोक्तं तदुच्यते। व०जी० पृ० 190

4- वही, पृ० 191

5- दूराधिकगुणस्तोत्रव्यपदेशेन तुल्यताम्। किञ्चिद्विधित्सोर्या निन्दा व्याजस्तुतिरसौ यथा।
-भामह, काव्या03/31

मम्मट रुय्यक आदि आचार्यों ने जहाँ प्रतिपादित की गई स्तुति से निन्दा की प्राधान्येन प्रतीति होती है वहाँ भी व्याजस्तुति अलंकार ही माना है । और व्याजस्तुति की व्याख्या- 'व्याजेन स्तुतिः-- व्याज रूपा वा स्तुतिः 'किया है।[1] परन्तु कुन्तक ने व्याजस्तुति के जो उदाहरण दिए है उनसे यही प्रतीत होता है कि उन्हें पूर्वाचार्यों का ही अभिमत मान्य था । क्यों कि सभी उदाहरणों मे निन्दा के द्वारा ही स्तुति की प्रतीति होती है[2]।

(30) उत्प्रेक्षा अलंकार

कुन्तक के अनुसार जहाँ वर्णनीय के उत्कर्षोन्मेष को प्रतिपादित करने की इच्छा से सम्भावनाकृत अनुमान के कारण, अथवा काल्पनिक सादृश्यवश या कि काल्पनिक एवं वास्तविक दोनों ही सादृश्यों के कारण समुल्लिखित वाक्यार्थ से व्यतिरिक्त अर्थ की योजना की जाती है वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है।यह योजना दो प्रकार से होती है-एक तो जहाँ पर प्रस्तुत के अतिशय को प्रतिपादित करने के लिए अप्रस्तुत के सदृश प्रस्तुत का सादृश्य बताया जाता है। और दूसरी जहाँ पर अप्रस्तुत रूप ही प्रस्तुत के स्वरूप को विस्तृत कर अप्रस्तुत का प्रस्तुत के स्वरूप पर समारोप किया जाता है । इस उत्प्रेक्षा के प्रकाशक इव इत्यादि शब्द होते है । और यदि इवादिक का वाचक रूप मे प्रयोग नहीं होता तो ही प्रतीय- मानरूप मे वाच्यवाचक सामर्थ्य से आक्षिप्त अपने अर्थ द्वारा उत्प्रेक्षा को प्रकाशित करते है[3]।निश्चित ही कारिका एवं वृत्ति भाग दोनों के अत्यन्त अस्पष्ट होने के कारण कुन्तका- भिमत उत्प्रेक्षा अलंकार के स्वरूप एवं उसके प्रकारों का सुस्पष्ट निरूपण कर सकना बहुत कठिन है । वृत्ति मे वे सम्भावनानुमानोत्प्रेक्षा ,काल्पनिकसादृश्योत्प्रेक्षा, वास्तविकसादृश्यो- त्प्रेक्षा और उभयोत्प्रेक्षा के उदाहरण प्रस्तुत करते है[4]। तदनन्तर वे उत्प्रेक्षा के एक अन्य प्रकार का निरूपण करते है जो इस प्रकार है । जहाँ पर किसी क्रिया के विषय मे क्रियारहित भी वस्तु को अपने स्वभाव की महिमा के अनुरूप कर्ता रूप मे प्रस्तुत किया जाता है जिसका हेतु अनुभव करने वाले की वैसी प्रतीति होती है।वहाँ दूसरे प्रकार की उत्प्रेक्षा होती है । निष्क्रिय वस्तु पर कर्तृता का यह आरोप वर्णनीय के अत्यधिक उत्कर्ष को ही

1- व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रूढिरन्यथा। 'का0प्र010/112 तथा वृत्ति
2- द्रष्टव्य, व.जी.पृ0 191
3- ,, ,, पृ0 192
4- ,, ,, पृ0 193-194

उपपादित योजना करता है।[1] कुन्तक ने अर्थान्तरन्यास का लक्षण पूर्ववर्ती भामह आदि आचार्यों के लक्षणों के अनुरूप ही किया। दण्डी तथा उद्भट आदि ने उसके अनेक भेदप्रभेद किये है। परन्तु कुन्तक ने वैसा नही किया। साथ ही उन्होंने प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत वाक्यों के सामान्य विशेषभाव का भी कोई निर्देश नही किया है जैसा कि परवर्ती मम्मट आदि आचार्यों ने किया है।

(35) <u>आक्षेपालंकार</u>

कुन्तक द्वारा स्वीकृत आक्षेपालंकार का स्वरूप भी प्रायः उनके पूर्ववर्ती एवं परवर्ती सभी आचार्यों के समान ही है। जहाँ पर प्रस्तुत वस्तु के उत्कृष्ट सौन्दर्य का प्रतिपादन करने के लिए निषेध की विच्छित्ति से उसी प्रस्तुत वस्तु का ही आक्षेप किया जाता है वहाँ आक्षेप अलंकार होता है।[2] कुन्तक द्वारा दिया गया उदाहरण पढ़ने मे नही आ सका।

(36) <u>विभावना</u>

कुन्तक के अनुसार जहाँ पर सौन्दर्य की सिद्धि के लिए वर्णनीय पदार्थ का किसी विशेष रूप से उस विशेष के अपने कारण का परित्याग कर वर्णन किया जाता है वहाँ विभावना अलंकार होता है।[3] कहने का आशय यही है कि बिना कारण के उसके कार्य का अथवा फल का वर्णन विभावना है। यही प्रायः विभावना के विषय मे सभी आचार्यों का मत रहा है। विशेषोक्ति अलंकार का विवेचन करते हुए यह बतलाया गया है कि विशेषोक्ति की अलंकारता का कुन्तक ने खण्डन किया है। कुन्तक के तर्कों का तो [illegible] ज्ञान नही। परन्तु भामह के उदाहरण को प्रस्तुत कर बिना स्वभावकथन की ओर कुन्तक ने निर्देश कर उसकी अलंकारता का निषेध किया था। उसी आधार पर स्वयं कुन्तक के विभावना अलंकार की अलंकारता का निषेध किया जा सकता है। कुन्तक का विभावना का उदाहरण है —

1- वाक्यार्थान्तरविन्यासो मुख्यतात्पर्यसाम्यतः ।
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः यः समर्पकतयाहितः ।। व.जी.पृ० 213

2- निषेधच्छाययाक्षेपः कान्तिं प्रथयितुं पराम् ।
आक्षेप इति स ज्ञेयः प्रस्तुतस्यैव वस्तुनः ।। वही, पृ० 214

3. वर्णनीयस्य केनापि विशेषेण विभावना ।
स्वकारणपरित्यागपूर्वकं कान्तिपुष्टये ।। वही, 215

'असम्भृतमण्डनमंगयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य।

कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साथ वयः प्रपेदे॥'[1]

इसमें भी तो पार्वती के सहज लोकोत्तर यौवन का ही वर्णन है। उसे अलंकार क्यों कहा जाय? यदि यह तर्क प्रस्तुत करें कि यहाँ कारण के परित्याग से कार्य की स्थिति का वर्णन होने से चमत्कार है अतः इसका अलंकारत्व समीचीन है। तो वैसे ही विशेषोक्ति में भी कारण के होते हुए भी कार्य के न होने का वर्णन होने से चमत्कार होता है अतः उसका भी अलंकारत्व समीचीन है। वैसे आचार्य हेमचन्द्र ने विभावना और विशेषोक्ति दोनों ही की पृथक् अलंकारता का खण्डन किया है। उन्होंने विरोध अलंकार को स्वीकार कर उसी विरोध में इन दोनों का अन्तर्भाव किया है।[2] विरोध अलंकार के प्रसंग में कुन्तक द्वारा विरोध अलंकार की अलंकारता के खण्डन की असमीचीनता का प्रतिपादन किया जा चुका है। वस्तुतः यहाँ पर हेमचन्द्र का ही मत माननीय है। इन दोनों ही अलंकारों में वस्तुतः विरोध का ही चमत्कार है। अतः विभावना और विशेषोक्ति दोनों को ही पृथक् अलंकारता स्वीकार करना समीचीन नहीं। लेकिन यदि विभावना को पृथक् अलंकार स्वीकार किया जाता है तो विशेषोक्ति को पृथक् अलंकार न स्वीकार करना तो सर्वथा असमीचीन ही है।

(37) ससन्देह

कुन्तक द्वारा स्वीकृत ससन्देह अलंकार का स्वरूप निश्चित ही अन्य आलंकारिकों द्वारा ही स्वीकृत ससन्देह के स्वरूप से भिन्न है। उनके पूर्ववर्ती आचार्यों में भामह, उद्भट तथा वामन ने उपमान और उपमेय के संशय को ससन्देह अलंकार स्वीकार किया है।[3] दण्डी ने कोई भी सन्देह नामक अलंकार पृथक् नहीं स्वीकार किया। उन्होंने उक्त आचार्यों के ससन्देह का संशयोपमा में ही अन्तर्भाव किया है।[4] परवर्ती आचार्यों ने भी

1- कु०सं० 1/31

2- अतएव विभावनाविशेषोक्त्यसंगतिविषमाधिकव्याघातादयः पृथगलंकारत्वेन न वाच्याः। विरोध स्वरूपानतिक्रमात्। [illegible]

—काव्यानुशासन, पृ०366 377

3- द्रष्टव्य भामह, काव्या० 3/43 काव्यालं० 6/2 तथा काव्यालं०सू०वृ० 4/3/11

4- काव्यादर्श, 2/26

(38) अपह्नुति अलंकार

कुन्तक का अपह्नुति अलंकार का लक्षण लगभग सभी आचार्यों के अपह्नुति लक्षणों से अभिन्न है।अपह्नुति का मूल भी कुन्तक उत्प्रेक्षा को ही स्वीकार करते हैं।जहाँ पर सम्भावनानुमान अथवा सादृश्य के कारण वर्णनीय वस्तु के किसी दूसरे स्वरूप को ही प्रतिपादित करने के लिए वास्तविक स्वरूप का अपलाप कर दिया जाता है वहाँ अपह्नुति अलंकार होता है।[1]

(39) संसृष्टि तथा (40) संकर अलंकार

आचार्य कुन्तक ने संसृष्टि और संकर अलंकार भी स्वीकार किये है।परन्तु दुर्भाग्यवश उनकी लक्षणकारिकाओं एवं वृत्ति भाग का कुछ भी अंश पाण्डुलिपि की अत्यन्त भ्रष्टता के कारण पढ़ा नहीं जा सका।अतः कुन्तक को उनका कैसा स्वरूप मान्य रहा कुछ भी कह सकना असम्भव सा है। कुन्तक के पूर्ववर्ती आचार्यों में भामह तथा दण्डी ने तो केवल संसृष्टि अलंकार का ही निरूपण किया है,संकर का नहीं।उनके संसृष्टि में ही संकर का भी अन्तर्भाव हो जाता है।क्यों कि भामह के अनुसार अनेक रत्नों से रचित माला के समान बहुत से अलंकारों के संयोग से संसृष्टि अलंकार निष्पन्न होता है[2] और दण्डी के अनुसार अलंकार संसृष्टि की दो ही गतियाँ सम्भव है एक या तो सभी अलंकारों की समकक्षता अथवा दूसरी भिन्न अलंकारों की अंगांगिभाव से स्थिति।[3] आचार्य वामन भी केवल एक ही संसृष्टि अलंकार मानते है परन्तु उनका लक्षण सर्वथा विलक्षण है।उनके अनुसार जब एक अलंकार दूसरे अलंकार की योनि (अर्थात् उसका उत्पादकहेतु) होता है तो संसृष्टि होती है।[4] और इस संसृष्टि के दो भेद होते हैं एक उपमारूपक और दूसरा उत्प्रेक्षावयव।संसृष्टि और संकर दोनों ही अलंकारों

1- अन्यदर्पयितुं रूपं वर्णनीयस्य वस्तुनः।
स्वरूपापह्नवो यस्यामसावपह्नुतिर्मता। व.जी.पृ0217

2- वरा विभूषा संसृष्टिर्बह्वलंकारयोगतः।
रचिता रत्नमालेव सा चैवमुदिता यथा।।भामह,काव्या03/49

3- अंगांगिभावावस्थानं सर्वेषां समकक्षता।
इत्यलंकारसंसृष्टेर्लक्षणीया द्वयी गतिः।।काव्यादर्श,2/360

4- 'अलंकारस्यालंकारयोनित्वं संसृष्टिः।तद्भेदावुपमारूपकोत्प्रेक्षावयवौ।'

—का0सू0वृ04/3/30 तथा 31।

षष्ठ अध्याय

वक्रोक्ति तथा अन्य विन्यास

किया है[1] । साथ ही इन सभी के रसाश्रित प्रयोग की व्यवस्था की है जो कि रस के प्राधान्य का सूचक है । लक्षणों के विषय में उनका कहना है कि -

'षट्त्रिंशदेतानि तु लक्षणानि प्रोक्तानि वै भूषणसम्मितानि।
काव्येषु भावार्थगतानि तज्ज्ञैः सम्यक् प्रयोज्यानि यथारसन्तु॥'[2]

अलंकारादि के प्रयोग के विषय में रसाश्रय का विधान वे इस प्रकार करते हैं-

'एवमेते ह्यलंकारा गुणादोषाश्च कीर्तिताः ।
प्रयोगमेषां च पुनर्वक्ष्यामि रससंश्रयम् ॥'[3]

इतना ही नहीं वे छन्दों, अक्षरों, षड्ज, ऋषभ आदि स्वरों पाठ्य, काकु, विच्छेद, अभिनय, सन्धि, संध्यंगों एवं कैशिकी आदि वृत्तियों के भी रसाश्रित प्रयोग का प्रतिपादन करते हैं। यही नहीं नाट्य के जितने भी गति, दृष्टि, प्रवृत्ति इत्यादि तत्त्व हैं सभी के ही रसाश्रित प्रयोग का वे निरूपण करते[4] हैं, यहाँ तक कि [illegible] भाषा अथवा सम्बोधन के प्रयोग की व्यवस्था भी वे विभिन्न रसों के आश्रय से ही करते हैं। राजा अथवा कोई भी शृंगाररस के प्रसंग में अपनी पत्नी को 'प्रिया' ही कहेगा -

'प्रियेति भार्या शृंगारे वाच्या रहोऽन्यथा।'[5]

इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि आचार्य भरत की दृष्टि में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व रस ही है। इतना होते हुए भी भरत ने स्पष्ट शब्दों में रस को कहीं भी आत्मा के रूप में नहीं प्रतिपादित किया। जबकि इतिवृत्त को वे शरीर रूप में स्पष्टतया उल्लिखित करते हैं।[6] जैसा कि पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है डा0 कृष्णमूर्ति भरत के इसी कथन के आधार पर भरत द्वारा रस की आत्मरूप में प्रतिष्ठा का प्रतिपादन करते हैं। आगे चल कर भामह उद्भट तथा दण्डी ने रस का ग्रहण अलंकारों में किया।[7] वामन ने रसों का अन्तर्भाव गुणों में किया।[8] रुद्रट ऐसे

1- ना.शा. अध्याय 16
2- वही, 16/4
3- वही 16/113
4- [illegible]
5- ना.शा. 17/93
6- 'इतिवृत्तं तु काव्यस्य शरीरं परिकीर्तितम्'-ना0शा0 19/1
7- द्रष्टव्य भामह, काव्या0 3/6 काव्यादर्श 2/285 तथा का0सा0सं0 पृ० 52-54
8- का0सू0वृ0 3/1/14

प्रथम आलंकारिक है जिन्होने काव्य रसो को गुणो एवं अलंकारो से पृथक् विवेचना की। उन्हो ने भरत की ही भांति वैदर्भी आदि रीतियो तथा मधुरा आदि वृत्तियो के भी रसाश्रित प्रयोग का प्रतिपादन किया।[1] आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा और रसादिध्वनि को ध्वनि का प्रधान भेद स्वीकार किया। 'प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणं प्राधान्यात्।'[2] और इसी लिए आगे चलकर केवल रसादि ध्वनि का ही अभिनव ने आत्मरूप मे प्रतिपादन किया।[3] उसी समय से रस की निश्चित रूप से काव्य की आत्मा के रूप मे प्रतिष्ठा हुई। राजशेखर ने स्पष्ट ही रस को काव्य की आत्मा कहा।[4] आगे चलकर प्रायः किसी भी आचार्य को इस विषय मे विमति नही रही कि रस काव्य की आत्मा है।' महिमभट्ट का स्पष्ट कथन है कि-

'काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद् विमतिः।'[5]

अब प्रश्न सामने आता है कि वक्रोक्तिजीवित कार कुन्तक की दृष्टि मे रस का क्या स्थान है? कुन्तक ने ग्रन्थ का नाम भले ही 'वक्रोक्तिजीवित' रखा है लेकिन कही भी ग्रन्थ मे स्पष्ट शब्दो मे वक्रोक्ति को काव्य का जीवित नही कहा। विश्वनाथ का यह कथन-

''एतेन 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' इतिवक्रोक्तिजीवितकारोक्तमपि परास्तम्। वक्रोक्तेरलंकाररूपत्वात्।'[6]

निश्चय ही उनकी वक्रोक्तिजीवित' एवं कुन्तकाभिमत 'वक्रोक्तिस्वरूप' दोनो की अनभिज्ञता का परिचायक है। 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' ऐसी कोई भी कारिका वक्रोक्ति जीवित मे उपलब्ध नही होती। यदि किसी को यह आपत्ति हो कि यह कहना ठीक नही क्यो कि वक्रोक्तिजीवित स्वयं अपूर्ण एवं खण्डित रूप मे प्राप्त होता है, उचित नही। क्यो कि यदि वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' कोई कारिका होती तो निश्चित ही रुय्यक के 'वक्रोक्तिजीवितकारः ×× वक्रोक्तिमेव प्राधान्यात् काव्यजीवितमुक्तवान्' कथन[7] की व्याख्या मे उनके टीकाकार जयरथ, जो कि निश्चित रूप से विश्वनाथ के पूर्ववर्ती है,

---

1- रुद्र० काव्या० 12-15

2- 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' तथा 'काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा'-ध्व० 1/1 तथा 1/5 और उनकी वृत्ति

3- 'तेन रस एव वस्तुतः आत्मा'-लोचन पृ० 85

4- काव्यपुरुष का वर्णन करते हुए वे कहते है-'रसआत्मा ते शरीरम्××रस आत्मा' -काव्यमी० पृ० 3

5- व्यक्तिवि० पृ० 105

6- सा० द० पृ० 16

7- अलं० स० पृ० 9

इसे उद्धृत करते। परन्तु उन्होंने इसे नहीं उद्धृत किया। यहाँ तक कि [illegible]
के उक्त कथन के समर्थन में जिस कारिका को उन्होंने उद्धृत किया है वह
वक्रोक्ति को केवल विचित्रकाव्य या मार्ग का जीवित प्रतिपादित करती है समग्र
काव्य की नहीं --

'यथा- 'विचित्रो यत्र वक्रोक्तिवैचित्र्यं जीवितायते'[1]

यदि कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का जीवित कहा है ऐसा मान भी लिया जाय
जैसा कि उनके ग्रन्थ के नाम के आधार पर कहा जा सकता है तो उसका आशय
यह समझ बैठना कि काव्य की आत्मा एकमात्र वक्रोक्ति है, रस नहीं, उचित नहीं।
वक्रोक्ति को यदि जीवित कहा गया है तो उसके सर्वाधिक महत्त्व का प्रतिपादन
करने के लिए, क्योंकि बिना वक्रोक्ति के काव्यता सम्भव नहीं। कुन्तक के मत में
रस को प्रस्तुत करने वाली वक्रोक्ति ही तो है बिना वक्रोक्ति के रस सम्भव नहीं,
अतः काव्य में वक्रोक्ति के इस महत्त्व की दृष्टि से कुन्तक ने उसे काव्य का जीवित
यदि कहा भी तो वह समुचित ही है। फिर जीवित और आत्मा में भेद भी तो होता
है जब उनका अपोद्धार बुद्धि से विवेचन किया जाता है। कुन्तक भी जब वक्रोक्ति
का पृथक् विवेचन करते हैं तो अपोद्धार बुद्धि से ही अन्यथा काव्य रस और स्वभाव
से उसका वस्तुतः पार्थक्य कहाँ ? तत्त्व तो सालंकार की काव्यता है। अपोद्धार
बुद्धि से विवेचन करने पर शब्द और अर्थ रस और स्वभाव अलंकार्य हैं और वक्रोक्ति
उनका एक मात्र अलंकार। इस लिये जब तत्त्वतः बिना इस अलंकार के काव्यता ही
सम्भव नहीं तो उसे काव्य का जीवित कहना ही कैसे असमीचीन स्वीकार किया जा
सकता है। कुन्तक ने यदि वक्रोक्ति को काव्य का जीवित कहा है तो यह भी तो
कहा है कि जिस किसी का भी काव्यत्व सालंकारत्व ही है।

'यस्य कस्यचित् काव्यत्वं सालंकारस्यैव'[2] क्या इस कथन से यह नहीं सिद्ध
हो जाता कि काव्य की आत्मा रस ही है। वक्रोक्ति का उद्देश्य ही रस अथवा
स्वभाव का चरम परिपोष है, अलंकार्यवैचित्र्य तो उसका स्वरूप ही है, अतः उसके
विषय में क्या कहना। वक्रोक्ति का विवेचन करने के पूर्व वे कहते ही यही हैं
कि- 'आह्लादकारि सत्कार्ये च रसनिष्पन्दसुन्दरम्।
येन सम्यक्कृते काव्ये तद्विदां विभाव्यते।।'[3]

1- विमर्शिनी पृ०7
2- व.जी. पृ० 162
3- वही, पृ० 6

क्या कोई यही इस बात कोअस्वीकार करने का दुःसाहस कर सकता है कि वक्रोक्ति अथवा वक्रकवि व्यापार का मुख्य उद्देश्य काव्य को रसनिबन्ध से रमणीय बनाना ही है । यही नहीं वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक की वक्रताओं में रस का समुचित सन्निवेश है।

(1) वर्णविन्यास वक्रता और रस :- वर्णविन्यास वक्रता के विषय में उन्हों ने कहा है कि वर्णों का विन्यास प्रस्तुत के औचित्य से शोभित होने वाला चाहिए और उस प्रस्तुतौचित्य शोभा की बात करते हुए उन्हों ने कहा कि कहीं यदि परुष रस का प्रस्ताव है तो वहाँ परुष ही वर्णों का विन्यास वक्रता को प्रस्तुत करेगा --

'प्रस्तुतौचित्य शोभित्वात् क्वचित् परुषरसप्रस्तावे तादृशान्येवाभ्यनुज्ञातानि।'[1]

(2) पदवक्रता और रस :- कुन्तक ने पदवक्रता के पदपूर्वार्द्ध और पदपरार्द्ध मुख्यतः दो प्रकार निरूपित कर उनके अनेक भेद प्रभेद प्रतिपादित किए हैं उनका विवेचन चतुर्थ अध्याय में किया जा चुका है।पदपूर्वार्द्धवक्रता का एक प्रकार है विशेषण वक्रता।विशेषण के विषय में कुन्तक का कहना है कि उसको प्रस्तुत के औचित्य के अनुसार उपनिबद्ध करना चाहिए।वैसा होने पर वह सम्पूर्ण अलंकारों का जीवितभूत दिखायी देता है क्योंकि उसी से रस अपने परिपोष की पराकाष्ठा को पहुँचता है-

'यत्प्रभावेनैव रसः परां परिपोषपदवीमवतार्यते।'[2]

इसी तरह लिंगवैचित्र्यवक्रता का निरूपण करते हुए अपने कथन 'नामैव स्त्रीति पेशलम्' की व्याख्या करते हुए कहते हैं- स्त्री यह नाम ही मनोहारी होता है क्योंकि दूसरी विच्छित्ति से यह रसादि की योजना के अनुरूप होता है --

'स्त्रीत्यभिधानमेव हृदयहारि विच्छित्यन्तरेण रसादियोजनयोग्यत्वात्।'[3]

पदपरार्द्ध अथवा प्रत्यय वक्रता के कारकवैचित्र्यविहित वक्रताप्रकार के विषय में वे कहते हैं कि जहाँ पर चेतनता का अध्यारोप करके अचेतन भी पदार्थ के चेतन की ही क्रियाओं के समावेश रूप कर्तृत्व आदि कारक को रसादि के परिपोष के लिए उपनिबद्ध

1- व जी. पृ0 80

2- वही, पृ0105

3-वही, पृ0 114

से निरूपण किया जाता है वहाँ कारक वैचित्र्यविहित प्रत्यय वक्रता होती है

'कारकवैचित्र्यविहितः-यत्राचेतनस्यापि पदार्थस्य चेतनत्वाध्यारोपेण चेतनस्यैव क्रियासमावेशलक्षण रसादिपरिपोषणार्थं कर्तृत्वादिकारकं निबध्यते।[1]

इतना ही नहीं उपसर्ग और निपात पदों को तो वक्रता ही वाक्य के अद्वितीय प्राणभूत रसादिक के प्रकाशन में निहित है—

> रसादिद्योतनं यस्यामुपसर्गनिपातयोः।
> वाक्यैकजीवितत्वेन सापरा पदवक्रता ।।[2]

(3) वस्तुवक्रता और रस

वस्तुवक्रता का विवेचन करते हुए कुन्तक ने यह प्रतिपादित किया है कि अलंकारों की भूयसी कल्पना रसादि प्रतीति में बाधक होती है अतः कविजन जहाँ रसादि की अथवा स्वभाव को प्राधान्येन प्रतीति कराते हैं वहाँ अधिक अलंकारों का विन्यास नहीं करते —

> 'रस परिपोष पेशलायाः प्रतीतेर्विभावानुभावव्यभिचारीविरचनपरिपोषेण प्रकारान्तरेण प्रतिपत्तिः प्रस्तुतशोभा परिहारकारितामावहति।'[3] इत्यादि

यही नहीं वर्णनीय वस्तु के स्वरूप का निरूपण करते हुए उनके द्वारा रसादि सम्पादन की कुन्तक ने भूरि भूरि प्रशंसा की है।उन्होंने पहले वर्णनीय वस्तु के दो विभाग किए है- (1) जड़ और (2) चेतन । उनमें चेतन पदार्थों का पुनः मुख्य और गौण रूप से द्विविध विभाजन किया है।मुख्य चेतनों के अन्तर्गत सुर, असुर, सिद्ध, विद्याधर गन्धर्व आदि तथा उनसे इतर गौण चेतनों में सिंह, पशु पक्षि आदि का ग्रहण किया है । जड़ पदार्थों में सलिल, तरु, कुसुम, समय आदि का निरूपण किया है।[4] यह प्रतिपादित करते हुए कि ये विविध पदार्थ किस रूप में कवियों के वर्ण्यविषय बनते हैं वे कहते हैं कि- (1) मुख्य पदार्थों का तो अनायास रति आदि अर्थात् शृंगारादि रसों के सम्यक् परिपोष से मनोहर स्वरूप ही

1- व.जी. पृ0 38
2- वही, 2/33
3- वही, पृ0 136
4- द्रष्टव्य वही 2/5-6 तथा वृत्ति

वर्णन का विषय होता है[1]। इसका वे बड़े विस्तार के साथ, 'विक्रमोर्वशीय' से विप्रलम्भ शृंगार का और 'तापसवत्सराज' से करुण का उदाहरण प्रस्तुत कर विवेचन करते हैं और अन्त में कहते हैं कि –

'एवं विप्रलम्भशृंगारकरुणयोः सौकुमार्यादुदाहरणप्रदर्शनं विहितम्।
रसान्तराणामपि स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयम्।'[2]

तदनन्तर गौण चेतन भूत सिंहादि पदार्थों एवं जड़ सलिल आदि जड़ पदार्थों के स्वरूप के विषय में वे कहते हैं कि उनका भी शृंगारादि रसों के उद्दीपन की सामर्थ्य के सन्निवेश से मनोहर स्वरूप ही कवियों का वर्ण्य विषय बनता है —

' रसोद्दीपन सामर्थ्य विनिबन्धनबन्धुरम्।
चेतनानाममुख्यानां जडानां चापि भूयसा॥'[3]

(4) वाक्यवक्रता और रस

कविकौशल रूप वाक्यवक्रता तो रस का जीवितभूत है ही बिना उसके रस की सृष्टि ही नहीं हो सकती -

'रसस्वभावालंकाराणां सर्वेषां कविकौशलमेव जीवितम्।'[4] और यही कविकौशल ही वाक्यवक्रता है –

'कर्तुः निर्मातुः किमप्यलौकिकं यत् कौशलं नैपुण्यं तदेव वाक्यस्य वक्रभावमित्यर्थः।'[5]

(5) प्रकरणवक्रता और रस

कुन्तक ने प्रकरणवक्रता के अनेक भेद प्रतिपादित किए हैं। उनका निरूपण चतुर्थ अध्याय में किया जा चुका है। उनके अनेक प्रकारों में कुन्तक ने सुस्पष्ट ही रस के महत्त्व की घोषणा की है। प्रथम प्रकरणवक्रताप्रकार का निरूपण करने के अनन्तर वे कहते हैं कि–

1- 'मुख्यमक्लिष्टरत्यादिपरिपोषमनोहरम्'- व.जी. 3/7
2- वही, पृ0 152
3- वही, 3/8
4- वही, पृ0 146
5- वही, पृ0 144

परिपोष के समाच्छादित हो जाने का भय रहता है।[1] इस प्रकार कुन्तक द्वारा स्वीकृत वक्रता प्रकारों में तो रस का महत्त्व अक्षुण्ण है ही । इसके अतिरिक्त उन्होंने सुकुमारादि मार्गों एवं उनके माधुर्यादि गुणों में भी रसादि की समुचित व्यवस्था निरूपित की है। सुकुमार मार्ग के लिए आवश्यक है कि वह शृंगारादि रसों एवं रत्यादि भावों के परामर्श को जानने वाले सहृदयों के लिए आह्लादकारी हो।[2] विचित्रमार्ग में भी पदार्थों का स्वभाव रस निर्भर अभिप्राय से युक्त होना चाहिए[3] । और जब इन दोनों ही मार्गों में रसादि की समुचित व्यवस्था है तो मध्यम मार्ग में तो वह स्वतः सिद्ध हो जाती है। यही नहीं काव्यलक्षण में शब्दार्थ साहित्य का होना परमावश्यक है लेकिन उस साहित्य को प्रस्तुत करने में आवश्यक है कि शब्द और अर्थ दोनों ही वृत्यौचित्य से मनोहारी रसों का परिपोष स्पर्धा के साथ करें —

वृत्यौचित्यमनोहारि रसानां परिपोषणम् ।
स्पर्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि[4] ।।

काव्य के अर्थ को अपने सहृदयाह्लादकारी स्वभाव में सुन्दर होना चाहिए और अर्थ की सहृदाह्लादसामर्थ्य उसी दशा में सम्भव है जब कि उसके द्वारा या तो वस्तु के स्वभाव की महत्ता अभिव्यक्त हो अथवा वह रसपरिपोष का अंग बने —

'तस्य च तदाह्लादसामर्थ्य सम्भाव्यते येन काचिदेव स्वभावमहत्ता रसपरिपोषांगत्वं वा व्यक्तिमासादयति।'[5]

इसके अतिरिक्त काव्य की काव्यता का निर्णायक है तद्विदाह्लादकारित्व । तद्विद वे ही कहे जाते हैं जो कि काव्य के परमार्थ अर्थात् रस को समझने वाले सरसहृदय सहृदय होते हैं । इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि काव्य की आत्मा के रूप में कुन्तक को भी रस ही मान्य है। अब प्रश्न यह उठता है कि कुन्तक की दृष्टि में रसादि का क्या स्वरूप था और कितने रस उन्हें मान्य थे ? यद्यपि कुन्तक ने इस विषय का कोई स्पष्ट विवेचन नहीं किया उसका कारण आनन्दवर्द्धन के साथ उनकी

1- द्रष्टव्य, पृ० 145-146
2- वही, 1/26
3- वही, 1/41
4- व.जी. पृ० 28
5- वही, पृ० 19

उनका अलंकार शब्द काव्यसौन्दर्य का प्रतिपादक नहीं है फिर भी उस सौन्दर्य के साधनभूत समग्र तत्वो का अन्तर्भाव उसमे हो जाता है। उनका स्पष्ट कथन है कि काव्यसौन्दर्य को करने वाले धर्म अलंकार कहे जाते है । 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते'[1] यहां स्पष्ट हो अलंकार शब्द का प्रयोग केवल यमक तथा उपमा आदि अलंकारो के लिए ही नही किया गया है बल्कि उससे गुण, मार्ग, रस, आदि सभी अन्य तत्वो का प्रतिपादन किया गया है। यही नहीं अन्य नाट्यादि शास्त्रो मे जिनका वर्णन सन्ध्यंगो, वृत्त्यंगो एवं लक्षणो के रूप मे किया गया है वे सभी दण्डी को अलंकार रूप मे ही मान्य है।[2] लेकिन आचार्य भामह जब-

'वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते।'[3]

या कि – 'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः।'[4] आदि कहते है तो यहां अलंकृति से उनका आशय केवल यमक उपमा आदि अलंकारो से ही नहीं है, उसका प्रयोग काव्यसौन्दर्य के व्यापक अर्थ मे है जो वक्रोक्ति रूप अथवा वक्रोक्ति के द्वारा ही सम्भव है इसलिए वक्रोक्ति रूप अलंकार मे माधुर्यादि गुण तथा श्रृंगारादि रस सभी अन्तर्भूत है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि वामन का सौन्दर्य रूप अलंकार और दण्डी का सौन्दर्यसाधनभूत अलंकार एक नही है। एक साध्य है दूसरा साधन । अतः डा० देशपाण्डे ने जो दोनो को एकरूप सिद्ध किया है वह कुछ असंगति उत्पन्न करता है।[5] आचार्य वामन पहले आचार्य है जो अलंकार शब्द के व्यापक तथा संकीर्ण दोनो स्वरूपो का स्पष्ट विवेचन करते है। यद्यपि दोनो ही अर्थों मे भामह ने भी अलंकार शब्द का प्रयोग किया है लेकिन उनका विवेचन वामन कृत विवेचन जैसा नही है। वामन का भी काव्य अलंकार के कारण ही ग्राह्य है और वह अलंकार है सौन्दर्य।[6]

1- काव्यादर्श, 2/1
2- द्रष्टव्य, वही 2/367
3- भामह, काव्या० 5/66
4- वही, 2/36
5- द्रष्टव्य भा०सा०शा० पृ07
6- का०सू०वृ० 1/1/1-2

यह है अलंकार शब्द का अत्यन्त व्यापक अर्थ । इसी अर्थ में अलंकार अथवा वक्रोक्ति सम्प्रदाय के आचार्यों ने अलंकार शब्द का प्रयोग किया है।वही वे सालंकार को ही काव्यता स्वीकार करते है ।अथवा अलंकार को काव्य के स्वरूपाधायक तत्त्व के रूप मे प्रतिपादित करते है।अलंकार शब्द का दूसरा अर्थ,जो संकीर्ण है,करण व्युत्पत्ति से प्राप्त होता है अर्थात् जिससे अलंकृत किया जाता है वे यमक उपमा आदि अलंकार होते है।दण्डी का अलंकार लक्षण इसी रूप को प्रस्तुत करता है क्योंकि इसी करण व्युत्पत्ति से उस काव्य शोभा को प्रस्तुत करने वाले सभी गुण, रस आदि तत्त्वो का अलंकार मे अन्तर्भाव हो जाता है। वामन का कथन है —

'अलंकृतिरलंकारः।करणव्युत्पत्त्या पुनरलंकारशब्दोऽयमुपमादिषु वर्तते।'[1]

वामन के अनुसार यह व्यापक अलंकार अर्थात् काव्यशोभा अत्यन्त संकीर्ण उपमादि अलंकारो के तथा गुणो के ग्रहण से और दोषो के परित्याग से सम्भव होती है।[2] उनमे भी गुणो के बिना शोभा की निष्पत्ति हो ही नही सकती अतः वे नित्य है[3] और चूंकि रीति गुणात्मक पदसंघटना रूप ही है अतः वह काव्य की आत्मा के रूप मे प्रतिष्ठित की गयी है क्योंकि काव्यता रीति अथवा गुणों के अभाव मे सम्भव नही।[4] यही कारण है कि वामन को विद्वान लोग रीति सम्प्रदाय का प्रवर्तक आचार्य कहते है।रीतियो के प्रवर्तन की बात स्वयं आनन्दवर्धन ने भी कही है —

'अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः ।'[5]

अतः यदि वामन को रीतिसम्प्रदाय का आचार्य स्वीकार किया जाता है तो निश्चय ही भामह को वक्रोक्तिसम्प्रदाय का ही आचार्य स्वीकार करना समीचीन होगा । क्योंकि जो अलंकार वामन की रीतियो के द्वारा सम्पन्न होता है वही अलंकार भामह को वक्रोक्ति के द्वारा सम्पन्न होता है । यदि ऐसा नही स्वीकार किया जाता तो वामन को भी अलंकार सम्प्रदाय के अन्तर्गत ही मानना पड़ेगा क्यो कि उनके अनुसार

1- का०सू०वृ० 1/1/2 पर वृत्ति

2- वही 3/1/1 तथा 3

4- द्रष्टव्य वही 1/2/6-8

5- ध्वन्या० 3/46

प्र०अ०वी०पृ०-22

भी काव्य की ग्राह्यता अलंकार के कारण है । वस्तुतः काव्य आदि का चरम लक्ष्य आनन्दोपलब्धि कराना है और यह आनन्द की निष्पत्ति सौन्दर्य के द्वारा ही सम्भव है क्यों कि असुन्दर वस्तु से आह्लाद की निष्पत्ति नहीं हो सकती। भामह आदि ने मुख्यतया उसी व्यापक सौन्दर्य का बोध कराने के लिए ही अलंकार शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु शास्त्र के अन्तर्गत अलंकार का विवेचन करने में वे आचार्य अलंकार और अलंकार्य का समुचित विभाग नहीं कर सके और इसी लिए उन्हों ने रस, स्वभाव आदि अलंकार्यों को भी अलंकार रूप में वर्णित किया जिसका कि आगे चल कर आचार्य कुन्तक को प्रतिवाद करना पड़ा । कुन्तक की वक्रोक्ति निश्चित ही अलंकार रूप है अथवा उनके अनुसार भी केवल वक्रोक्ति ही अलंकार है जैसा कि वे स्पष्ट ही कहते हैं —

' तयोः द्वितयस्याविशिष्टयोरप्यलंकृतिः पुनरेकैव, ययाद्वावप्यलंक्रियेते।
कासौ — वक्रोक्तिरेव।[1] '

आचार्य कुन्तक की यह वक्रोक्ति निश्चित रूप से भामह, दण्डी तथा वामन आदि आचार्यों द्वारा अभिमत अलंकार के व्यापक स्वरूप को प्रस्तुत करती है लेकिन अन्तर यह है कि जहाँ भामह आदि अलंकार्य को भी उसी में समाविष्ट कर लेते हैं आचार्य कुन्तक अपोद्धारबुद्धि से शास्त्रविवेचन करते समय उसका वक्रोक्ति से पृथक् निरूपण करते हैं । तत्त्वतः तो कुन्तक की दृष्टि में भी काव्य में वक्रोक्ति रूप अलंकार तथा अलंकार्य में भेद सम्भव नहीं फिर भी शास्त्रकार के निमित्त पढ़ते अपोद्धार बुद्धि से उनका पृथक् विवेचन अनिवार्य होने से वैज्ञानिक प्रतिपादन सम्भव है।अतः यह कहा जा सकता है कि कुन्तक की वक्रोक्ति का भी स्वरूप द्विविध है, एक का प्रतिपादन उन्हों ने वक्रता मात्र से किया है जो कि व्यापक सौन्दर्य का वाचक है और दूसरे का प्रतिपादन वक्रोक्ति नाम से जिसमें अलंकारों एवं गुणों का अन्तर्भाव है। व्यापक स्वरूप में अलंकार्य अलंकार का विभाग असम्भव है जब कि अपोद्धारबुद्धि से विवेचित किए जाने वाले दूसरे स्वरूप में उनका कौशल प्रतिपादन स्पष्ट है। भामह, दण्डी-आदि तथा उद्भट आदि आचार्य इस विभाग की कोई समुचित व्यवस्था नहीं कर पाये। उन्हों ने अलंकार्यभूत भी स्वभाव, रस आदि तत्त्वों को उपमा प्रभृति अलंकारों की कोटि में ही वर्णित किया, इसीलिए परवर्ती आचार्यों की आलोचना के

1- व.जी. पृ० 22

'चारुत्वप्रतीतिस्तर्हि काव्यस्यात्मा स्यात्' इति तदङ्गीकुर्म एव। नाम्नि खल्वयं विवाद इति[1]।'

अतः कुन्तक जिसे वक्रता कहते हैं और भामह तथा वामन जिसको अलंकार या सौन्दर्य कहते हैं वह कटककुण्डलस्थानीय उपमादि अलंकारों के तुल्य नहीं। हाँ, परवर्ती जयदेव आदि आलंकारिक निश्चित ही उपमा आदि अलंकारों पर अनावश्यक बल देते हैं उनका अभिमत न प्राचीन भामह आदि आलंकारिकों के ही अनुरूप है और न आचार्य कुन्तक की वक्रोक्ति के अनुरूप ही। मम्मट पर आक्षेप करते हुए जयदेव कह जाते हैं कि —

'अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती[2]।'
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती।

निश्चित ही आचार्य जी की चन्द्रालोक में कही गई यह उक्ति बड़ी उथली एवं बचकानी प्रतीत होती है। यह कोई आवश्यक नहीं कि प्रत्येक रमणीय रचना में अनुप्रास, यमक एवं उपमा आदि अलंकार रहें ही। ऐसा कथन काव्य के वास्तविक सौन्दर्य के परखने की क्षमता का अभाव अभिव्यक्त करना है। आचार्य कुन्तक जो कि वक्रता अथवा वक्रोक्ति को काव्य का प्राण मानते हैं उन्हों ने भी उपमादि अलंकारों के अनुचित प्रयोग का निषेध किया है। वस्तुवक्रता का विवेचन करते हुए इस बात को पहले स्पष्ट किया जा चुका है। कवि को जहाँ कहीं वस्तुस्वभाव के सौन्दर्य का प्रतिपादन अथवा रसादि को सम्यक् निष्पादित कराना अभीष्ट होता है वहाँ वह उपमा रूपकादि वाच्य अलंकारों का अधिक प्रयोग नहीं करता क्योंकि उससे वस्तुस्वभाव की सुकुमारता अथवा रसादि के परिपोषण के समाच्छादित हो जाने का भय रहता है।[3] इस प्रकार वक्रोक्ति सिद्धान्त को चाहे अलंकार सम्प्रदाय से भिन्न स्वीकार किया जाय अथवा कि तद्रूप ही स्वीकार किया जाय उसमें कुन्तककृत पाण्डित्य एवं बहुश्रुततापूर्ण व्यवस्था को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वस्तुतः वक्रोक्ति का जैसा स्वरूप आचार्य भामह एवं कुन्तक ने प्रतिपादित किया है उसके अनुसार वक्रोक्ति सिद्धान्त को अलंकार सम्प्रदाय की एक शाखा मात्र कहना तो कदापि उचित नहीं। क्योंकि ऐसा स्वीकार करने के कारण अलंकार सम्प्रदाय को वक्रोक्ति सिद्धान्त से व्यापकता स्वीकार करना होगा।

1- लोचन, पृ० 105

2- चन्द्रालोक 1/8

3- द्रष्टव्य व.जी.पृ० 145-146

जो सर्वथा असमीचीन है। वस्तुतः दोनों को समन्वित एक रूप ला कर ... जा सकता है और अलंकारसिद्धान्त का इससे सम्यक् परिष्कार भी स्वीकार किया जा सकता है क्यों कि भामह व कुन्तक की वक्रोक्ति एवं दण्डी तथा वामन आदि के अलंकार लगभग एक रूप है लेकिन वक्रोक्ति सिद्धान्त को एक शाखा कहना समीचीन नहीं । वस्तुतः वक्रोक्ति सिद्धान्त ही सर्वव्यापक सिद्धान्त है।इसका प्रतिपादन आगे किया जायगा।लेकिन जयदेव आदि बाद के आलंकारिकों के अलंकारसिद्धान्त की एकरूपता तो न कुन्तक और भामह के वक्रोक्तिसिद्धान्त से ही स्थापित की जा सकती है और न आनन्द के पूर्ववर्ती अन्य दण्डी आदि आलंकारिकों के अलंकारसिद्धान्त से ही।वामन,आनन्द कुन्तक,अभिनव गुप्त,मम्मट आदि आचार्यों द्वारा काव्यतत्त्व की पर्याप्त काव्यसमीक्षा के अनन्तर जयदेव आदि का यमक उपमा आदि अलंकारों के प्रति काव्य में ऐसा आग्रह कि बिना उनके काव्यता हो ही नहीं सकती, एक दुराग्रहमात्र ही कहा जायगा।अस्तु उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुन्तक का वक्रोक्तिसिद्धान्त भामह के वक्रोक्तिसिद्धान्त या कि दण्डी,उद्भट आदि प्राचीन आलंकारिकों के अलंकारसिद्धान्त को सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करता है । प्राचीन आलंकारिकों के काव्यतत्त्व विवेचन में जो कमियां थी उनकी उचित पूर्ति करता है एवं जो अलंकार्य तथा अलंकारविषयक असमीचीन धारणाएँ थीं उनका सम्यक् परिष्कार कर प्रत्येक तत्त्व को सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करता है । वस्तुतः अलंकार शब्द का केवल उपमा,यमक आदि के लिए प्रयुक्त होने वाला अल्प संकुचित अत्यन्त संकीर्ण अर्थ इतना अधिक प्रधान हो उठा है कि पूर्ववर्ती द्वारा मान्य अलंकार का व्यापक सुपरिष्कृत अर्थ अथवा अल्प संकुचित व्यापक अर्थ उसके आगे आच्छादित हो जाता है और इसी कारण से अलंकारसिद्धान्त के विषय में अनेकानेक भ्रान्तियाँ उपस्थित हो जाती है।इसी लिए सम्भवतः कुन्तक ने अलंकार शब्द का प्रयोग न कर वक्रोक्ति शब्द का उपादान किया है।और वक्रोक्ति को ही एक मात्र अलंकार माना है।और वैसे भी देखा जाय तो उपलब्ध आद्य आचार्य भामह स्वयं वक्रोक्ति को ही एक मात्र अलंकार मानते है।साथ ही आचार्य भामह द्वारा ऐसी स्वीकृति यह भी सिद्ध कर देती है उनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी वक्रोक्ति को ही एकमात्र अलंकार रूप में मान्यता दी थी ।भामह द्वारा 'वक्रोक्ति' शब्द का बिना किसी व्याख्या के ही किया गया प्रयोग इस बात का स्पष्ट प्रमाण है।

वक्रोक्ति एवं रीतिसिद्धान्त

विद्वानों ने रीति सम्प्रदाय का प्रवर्तक आचार्य वामन को स्वीकार किया है। वक्रोक्ति एवं अलंकार सिद्धान्त का विवेचन करते हुए यह दिखाया जा चुका है कि सूक्ष्मता से विचार करने पर वामन का रीतिसिद्धान्त अलंकारसिद्धान्त की ही नये ढंग से विवेचना करता है। चतुर्थ अध्याय में यह प्रतीत प्रतिपादित किया जा चुका है कि वामन से पूर्व भी रीतियों का विवेचन कुछ आचार्यों ने किया था जिनका कि आज हमें कोई ज्ञान नहीं है। उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर वामन से पूर्ववर्ती आचार्य भामह तथा दण्डी ने क्रमशः वैदर्भ और गौडीय काव्यों तथा वैदर्भ गौडीय मार्गों का उल्लेख किया है। वक्रोक्तिसिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य भामह ऐसा भेद स्वीकार करने को गतानुगतिकता किंवा मूर्खता कहते हैं[1] जब कि दूसरे वक्रोक्तिवादी आचार्य कुन्तक विविध काव्यों अथवा मार्गों की बड़े ही विस्तार के साथ व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। किसी को यह सन्देह हो सकता है कि या तो भामह के विचार अनुचित हैं या फिर कुन्तक के विचार अनुचित हैं। परन्तु ऐसा सन्देह करने का कोई अवसर नहीं। वस्तुतः भामह के पूर्व यदि वैदर्भ और गौडीय का विभाजन काव्यस्वरूप के समुचित आधार को लेकर किया जाता तो वे कदापि उसकी आलोचना न करते। लेकिन वह विभाजन उनकी कटु आलोचना का भाजन इसलिए बना कि उसका आधार प्रादेशिक था और प्रादेशिक सम्प्रदाय-मात्र इतने जोरों पर था कि रद्दी से रद्दी भी वैदर्भ काव्य ग्राह्य एवं उत्तम माना जाता था जब कि अत्यन्त रमणीय भी गौडीय काव्य हेय एवं अग्राह्य कहा जाता था। भामह ने ऐसे स्थूल विभाजन के कारण उसकी आलोचना की और काव्य के कुछ विशिष्ट गुणों का निर्देश किया, जिनसे कि दोनों ही प्रदेशों के रमणीय काव्य काव्य कहलाने के अधिकारी हो सकें।[2] सम्प्रदायवादियों के गुण को ही भामह ने वाचाल कवि को कवि अथवा उसके काव्य को काव्य नहीं माना। दण्डी ने कवियों का विभाजन सुकवि और कुकवि के रूप में करके सत्कवि के सत्काव्य अथवा सन्निबन्ध को अक्षुण्ण कीर्ति का जनक माना।[3] आचार्य दण्डी ने वैदर्भ और गौडीय मार्गों का अन्तर अत्यधिक स्पष्ट होने के कारण उनका पृथक् पृथक् निरूपण किया किन्तु विवेचन करते समय

1- भामह, काव्या० 1/32
2- वही 1/34-36
3- वही 1/6 तथा 12

है । उनका पहला तर्क कि मार्गों की विवेचना बन्ध अर्थात् रचना के प्रसंग में की गई है, वस्तुतः समीचीन नहीं। कुन्तक ने बन्ध का विवेचन काव्य के सामान्यलक्षण का विवेचन करते हुए किया है, जब कि मार्गों का स्वरूप निरूपण काव्य के विशेष लक्षण विषय प्रदर्शन के लिए किया गया है। साथ ही मार्गों का विवेचन बन्ध के प्रसंग में भी नहीं है, क्योंकि उसके अनन्तर काव्यलक्षणकारिका में प्रयुक्त 'तद्विदा-ह्लादकारित्व'का विवेचन है।[1] कुन्तक के बन्धस्वरूप के स्पष्टीकरण से डा०साहब का दूसरा तर्क भी परास्त हो जाता है जिसके अनुसार बन्ध का अर्थ पदरचना ही है क्यो कि मार्गों के गुणों के निरूपण में कुन्तक ने केवल पदरचना के ही तत्त्वों का विवेचन किया है रचना के व्यापक रूपों का जैसे प्रबन्धरचना प्रकरणरचना आदि का उल्लेख नहीं किया। वस्तुतः स्वयं कुन्तक ने इस बात का बड़े सुन्दर ढंग से प्रतिपादन किया है कि मार्गों में गुणों की समुदाय धर्मता है केवल शब्दादि धर्मता नहीं।--

'मार्गेषु गुणानां समुदायधर्मता। यथा न केवलं शब्दादिधर्मत्वं तथा तल्लक्षण-व्याख्यानावसर एव प्रतिपादितम्।[2] सम्भवतः डा०साहब ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। इसके अतिरिक्त कुन्तक ने सुकुमार मार्ग के लावण्य गुण की तथा विचित्रमार्ग के माधुर्य एवं विविध प्रसाद-गुणों की बन्धसौन्दर्य रूपता का स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन भी किया है,[3] साथ ही लावण्य-गुण की व्याख्या करते हुए बन्ध की वाक्यविन्यासरूपता न कि पदरचनारूपता का स्पष्ट उल्लेख भी किया है- 'बन्धो वाक्यविन्यासस्तस्य सौन्दर्यं रामणीयकं लावण्यमभिधीयते लावण्यमित्युच्यते[4] डा०साहब की यह बात कि कुन्तक ने मार्ग गुणों के निरूपण में रचना के व्यापक रूपों का जैसे प्रकरण रचना या प्रबन्ध रचना का उल्लेख ही नहीं किया' अत्यन्त उपहासास्पद प्रतीत होती है। क्योंकि रीतियां अथवा मार्ग काव्यरचना के कारणभूत (काव्यकरणकारणभूता) है न कि प्रबन्धरचना या प्रकरण रचना के। डा० साहब के अनुसार तो फिर मुक्तकों को काव्य ही नहीं माना जाना चाहिए क्यों कि उसमें किसी प्रबन्ध या प्रकरण के गुण की उपलब्धि असम्भव है। यही कारण है कि कुन्तक ने प्रत्येक मार्ग के चार-चार विशिष्ट गुण बताये गये हैं जिनका कि सम्बन्ध बन्ध अथवा वाक्यविन्यास से है और दो सामान्यगुण निरूपित किए हैं, सौभाग्य और औचित्य जो कि समस्त पदों से लेकर प्रबन्धपर्यन्त विद्यमान रहते हैं—

1- द्रष्टव्य, वही व.जी पृ०64-65
2- वही, पृ० 71
3- द्रष्टव्य वही, पृ०54, 66, तथा 67
4- वही, पृ०54

'एतत् त्रिष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्ज्वलम् ।
पदवाक्यप्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्तते ।।'[1]

अस्तु । उक्त विवेचन से तथा चतुर्थ अध्याय में विस्तार से किए गए कुन्तक के मार्ग गुण विवेचन से यह सुस्पष्ट ही निष्कर्ष निकलता है कि कुन्तक ने पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत रीतिसिद्धान्त की अनुचित किंवा संकीर्ण मान्यताओं का निराकरण कर उन्हें एक समीचीन एवं व्यापक स्वरूप प्रदान किया। डा० देशपाण्डे का अधोलिखित कथन यहाँ उल्लेखनीय है — 'इन दोनों पूर्वाचार्यों (दण्डी तथा वामन) के मतों का कुन्तक ने संकलन किया तथा उनके विचारों का अनुवादन करके रीतियों की विवेचना सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम मार्ग की संज्ञाओं से और भी आत्मगुण की एवं रीति कविस्वभाव की द्योतक किस प्रकार होती है यह दर्शाया ।'[2] रीतियों के देशविशेष के आधार पर किए गए विभाजन एवं नामकरण का खण्डन कर कविस्वभाव के आधार पर उनका त्रिविध विभाजन एवं नामकरण ,उनकी उत्तमता, मध्यमता अथवा अधमता का खण्डन कर समान सौन्दर्य से युक्त रूप में प्रतिपादन ,रीतियों में भी गुणों के आधिक्य अथवा न्यूनता रूप सम्बन्ध का निराकरण कर विशिष्ट स्वरूप वाले समान गुणों की व्यवस्था, निश्चित रूप से कुन्तक की सहृदयता एवं काव्यतत्त्व के सूक्ष्म पर्यवेक्षण की सामर्थ्य का परिचायक है। निश्चित रूप से कुन्तक के काल को संपूर्ण रीति का अभ्युदयकाल कहना चाहिए।आगे चलकर जो आचार्यों ने कुन्तक के मार्ग विवेचन अथवा रीतिविवेचन को सम्यक् सम्मान नहीं दिया और वामन की ही रीतियों को ही प्रधान माना, उसका कारण सिवाय मतानुगामिता के और कुछ नहीं प्रतीत होता।रीतिसिद्धान्त निश्चित ही कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त के अंग रूप में सामने आता है।रीतियों के द्वारा काव्य में वक्रता की सिद्धि होती है।आचार्य वामन ने भी तो रीतियों अथवा गुणों के द्वारा ही काव्यसौन्दर्य की सिद्धि स्वीकार की थी । और यह बताया जा चुका है कि वामन का सौन्दर्य और कुन्तक की वक्रता लगभग एक रूप ही है ।अन्तर केवल इतना है कि वामन उस सौन्दर्य का अधिक स्पष्ट विवेचन करने में असमर्थ रहे जब कि कुन्तक ने वक्रता का सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं अत्यन्त स्पष्ट विवेचन प्रस्तुत किया।

1- व.जी. 1/57

2- भा.सा.शा.,पृ० 21

वक्रोक्ति तथा औचित्य सिद्धान्त

केवल औचित्य मात्र का स्वतंत्र ढंग से विवेचन आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने एक छोटे से ग्रन्थ 'औचित्यविचारचर्चा' में किया है। अतः कुछ विद्वान् क्षेमेन्द्र को औचित्य-सम्प्रदाय का संस्थापक आचार्य स्वीकार करते हैं। लेकिन उसे एक काव्य सम्प्रदाय स्वीकार करना निश्चित ही भ्रमपूर्ण है। क्षेमेन्द्र ने कहीं भी उसमें काव्य के स्वरूप का निरूपण नहीं किया। केवल औचित्य मात्र के निरूपण से ही किसी के सम्पूर्ण काव्य स्वरूप की सम्प्रतिपत्ति नहीं हो जाती। और फिर वे स्वयं ही कहते हैं कि औचित्य 'रसालङ्कृत काव्य' का जीवित है।[1] इससे स्पष्ट है कि काव्य के समग्र स्वरूप का नहीं बल्कि उसके 'जीवितमात्र' का विवेचन कर रहे हैं। ऐसा करने में उनका योगदान केवल यही कहा जा सकता है कि औचित्य के विभिन्न प्रकारों का उन्होंने उदाहरण सहित एकत्र विस्तृत निरूपण कर दिया है। अन्यथा उन औचित्य की महत्ता बहुत पहले से ही मान्य रही है। औचित्य का विपर्यय ही तो दोष होता है। और इस तरह औचित्य गुण को प्रस्तुत करता है और अनौचित्य दोष को। आचार्य महिमभट्ट ने इसी लिए काव्य दोषों का विवेचन करते हुए 'दोष' शब्द का उपादान न कर अनौचित्य 'शब्द का ही उपादान किया है।[2] यदि किसी पूर्ववर्ती आचार्य ने स्पष्ट शब्दों में औचित्य का स्वरूप निरूपण नहीं किया तो उसका यह मतलब कदापि नहीं है कि उसने औचित्य हीन को भी काव्य माना है। सर्वत्र ही काव्य सर्वथा दोषाभाव का प्रतिपादन किया गया है और निश्चित ही दोष औचित्य के परित्याग में निहित होता है। क्यों कि उचित का भाव ही तो औचित्य होता है। जो जिसके अनुरूप होता है वही उसके विषय में उचित है—

'उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यमुच्यते ॥'[3]

1- औ० वि० च० 5
2- द्रष्टव्य, व्यक्ति०, पृ०149
3- औ०वि०च० 7

अतः जहाँ उस औचित्य का परित्याग किया नहीं गया कि दोष की अनुपस्थिति अनिवार्य है। आद्याचार्य भरत ने यद्यपि 'औचित्य' शब्द का स्पष्ट प्रयोग तो नहीं किया लेकिन उन्हों ने नाट्य के प्रत्येक वृत्ति, प्रवृत्ति भावन आदि तत्वों के उप-निबन्धन में औचित्य का निरूपण किया है। नाट्य में लोक धर्मी तथा नाट्यधर्मी द्विविध तत्त्व प्राप्त होते हैं[1]। नाट्यधर्मी तत्वों का विधान तो शास्त्रसम्मत होता है किन्तु लोकधर्मी के लिए आचार्य भरत ने अनेकशः लोक को ही प्रमाण माना है। लोक में जिसके विषय में जिसे उचित मान रखा है उसी प्रकार उसका निरूपण करना चाहिए। उनका अत्यन्त स्पष्ट कथन है —

'यादृशं यस्य यद्रूपं प्रकृत्या तस्य तादृशम्।
वयोवेशाभिधानेन कर्तव्यं प्रयुयुक्षुणा[2] ।।'

आचार्य क्षेमेन्द्र का —

'कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा[3]' इत्यादि श्लोक आचार्य भरत के अधोलिखित कथन का ही अनुवादमात्र है—

'अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते[4] ।।'

इस प्रकार भरत ने यद्यपि औचित्य शब्द का प्रयोग नहीं किया फिर भी औचित्य तत्त्व विधान की ओर स्पष्ट ही मार्ग निर्देश वृत्तियों, प्रवृत्तियों, भाषा, अभिनय, लक्षण, गुण, अलंकार आदि सभी के औचित्यानुकूल स्वाभाविक प्रयोग का विधान प्रस्तुत कर दिया है। इस प्रकार भरत के अनन्तर आचार्य भामह ने भी यद्यपि स्पष्ट रूप से औचित्य का प्रतिपादन नहीं किया फिर भी उनके दोषों के वर्णन में अनौचित्य का ही वर्णन है। वे दुष्ट एक पद का भी प्रयोग नहीं स्वीकार करते—

1- ना. शा. 13/70

2- ना.शा. 26/81 (काव्यमाला)

3- औ.वि.च. (काव्यमाला-1) पृ०

4- ना.शा.

'सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत् ।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते।'[1]

इसी प्रकार जब वे रुद्रट कुछ दोषों की किन्हीं सन्निवेशविशेष आदि विशेष परिस्थितियों में अदोषता का प्रतिपादन करते हैं तो निश्चित ही उनका नियामक औचित्य ही है।[2] काव्य को अग्राम्य, न्याय्य, तथा अनाकुल होना चाहिए।[3] और काव्य में निश्चित ही ग्राम्यता, अन्यायता, और आकुलता औचित्य के परित्याग से आती है। आचार्य दण्डी भी यद्यपि औचित्य का स्पष्टतः उल्लेख नहीं करते फिर भी अनौचित्य रूप दोष की कथमपि काव्य में स्थिति स्वीकार नहीं करते--

'तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
स्याद् वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्।।'[4]

वाणी कामधेनु होती है, कब ? जब उसका सम्यक् प्रयोग किया जाता है। यह 'सम्यक्-प्रयोग' निश्चित ही औचित्य का प्रतिपादक है। यदि वाणी वाणी का दुष्प्रयोग या अप-प्रयोग हुआ तो वही वक्ता या प्रयोक्ता को बैल बना देती है।

गौर्गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति ।।'[5]

अग्राम्य अर्थ ही रसावह होता है । समस्त अलंकारों के होते हुए भी यदि ग्राम्यता अथवा अनौचित्य रहा तो अलंकारों का अलंकारत्व ही बेकार है वे रसाभिव्यंजक नहीं बन सकते--

कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चतु।
तथाऽप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा।।'[6]

1- भामह, काव्या० 1/11
2- रुद्रट, वही 1/54-55
3- वही 1/35
4- काव्यादर्श, 1/7
5- वही 1/6
6- काव्यादर्श 1/62 साथ ही देखें वही 2/292

इसके अतिरिक्त दण्डी का काव्यदोषों का तृतीय परिच्छेद में किया गया वर्णन उनके औचित्य विषयक मन्तव्य को ही व्यक्त करता है।देश काल आदि के विरोध रूप दोषों का वर्णन करते हुए उन्होंने देशादिक के औचित्य का निरूपण तो किया ही रसादि विषयक औचित्य की ओर भी उन्होंने स्पष्ट ही कलाविरोध के अन्तर्गत निर्देश किया है।[1] लेकिन यह समग्र विरोध रूप दोष कवि कौशल के बल से कभी दोष गणना को त्याग कर गुणकोटि का अनुसरण भी करने लगता है[2]। स्पष्ट ही ऐसा कह कर वे आनन्द आदि के मार्गनिर्देशक बनते हैं।आनन्द का यह कथन कि —

'एतद्वेदनविषये महाकवीनामप्यसमीक्ष्यकारिता लक्ष्ये दृश्यते स दोष एव, स तु शक्तितिरस्कृतत्वात् तेषां न लक्ष्यते।'[3] उक्त कथन की ही पुष्टि करता है।आचार्य वामन भी औचित्य का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं करते परन्तु दोषादि की काव्य में त्याज्यता का निरूपण कर औचित्य को समर्थन देते हैं।काव्य को उपादेय बनाने वाला अलंकार या सौन्दर्य अलंकारों या गुणों के उपादान के साथ साथ दोषों के परित्याग से सम्पन्न होता है-'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्।सौन्दर्यमलंकारः।स दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्।'[4] बल्कि यह भी कहना अनुचित न होगा कि वामन की दृष्टि में गुणों एवं अलंकारों के उपादान की अपेक्षा दोषों अथवा अनौचित्य का परित्याग कहीं अधिक अपेक्षित है इस लिए सूत्र में उसका पूर्वग्रहण कर उपादान किया गया है।आचार्य रुद्रट पहले आचार्य हैं जो औचित्य का शब्दतः प्रयोग करने के साथ काव्य के क्षेत्र में औचित्य की प्रधानता का स्पष्ट मार्गनिर्देश करते हैं । काव्य की कारणभूता व्युत्पत्ति ही युक्तायुक्त अथवा उचित अनुचित का विवेक रूप है। छन्द, व्याकरण, कला, लोकस्थिति तथा पद पदार्थ के विशिष्ट ज्ञान से उचित और अनुचित का विवेक ही व्युत्पत्ति है।[5] यमक आदि वृत्तियों का प्रयोग यथामत तथा अभिधेयगत औचित्य के अनुसार होना चाहिए।[6] यमकादि अलंकारों का प्रयोग औचित्य का सम्यक् विचार

1- द्रष्टव्य, काव्यादर्श, 3/170

2- वही, 3/179

3- ध्वन्या०, पृ० 333

4- काव्या०सू०1/1/1-3

5- रुद्रटकाव्यालं०1/18

6- वही, 2/32

करने के अनन्तर भी करना चाहिए। क्यों कि यमकादि शब्द काव्यों में विशेषतः श्रृंगार
और करुण रस युक्त काव्यों में प्रयुक्त होकर रस भंग कर देते हैं अतः उनका प्रयोग
औचित्य को ध्यान में रखते हुए ही करना चाहिए।[1] उनका पदगत ग्राम्यदोष वक्ता और
वस्तु विषयक अनौचित्य के कारण प्रस्तुत होता है। वक्ता प्रकृत्या अधम, मध्यम और
उत्तम तीन प्रकार का होता है। किसी भी पद का प्रयोग इस प्रकृत्यौचित्य और वस्त्वौ-
चित्य को ध्यान में रखते हुए करना चाहिए।[2] आचार्य रुद्रट इस पदगत ग्राम्यता का विवेचन
विस्तार से करते हैं उसमें भव्य और अभव्य अर्थों के समुचित प्रयोग का निर्देश करते हैं।
वे ध्वनि अर्थ को देने वाले पदों के औचित्यपूर्ण प्रयोग का प्रतिपादन करते हुए बताते
हैं कि 'नूपुर आदि के लिए रणित जैसे पदों का, पक्षि आदि के लिए कूजित इत्यादि पदों
का, सुरत के लिए मणित जैसे पदों का, तथा मेघादि के लिए गर्जित जैसे पदों का प्रयोग
करना चाहिए।'[3] यदि इस नियम में भंग हुआ कि अनौचित्य को प्रस्तुत करते हुए पद
ग्राम्यता दोष की प्रतीति कराने लगेंगे। इसी प्रकार अर्थ की ग्राम्यता का निरूपण करते हुए
उन्होंने व्यवहार, आकार, वेष, वचन, देश, कुल, जाति, विद्या, वित्त, अवस्था, स्थान और पात्र
विषयक अनौचित्य का निर्देश किया है।[4] रुद्रट ने निदर्शनार्थ कुछ अनौचित्यों का इस प्रकार
उल्लेख किया है– कन्याओं की प्रगल्भता, वेश्याओं की सहज मुग्धता, ग्रामीणों की विदग्धता
तथा कुलीनों की धूर्तता का वर्णन अनुचित होने के कारण अर्थ के ग्राम्यता दोष को प्रस्तुत
करता है।[5] अर्थ के विरस दोष के अन्तर्गत वे रसौचित्य का विवेचन करते हैं यह बात
अवश्य है कि रसौचित्य का वे उतना सूक्ष्म विवेचन नहीं करते जितना कि आनन्द ने
किया है। पर निश्चित ही आनन्द के मार्गनिर्देशक रुद्रट भी रहे होंगे। अन्य रस के प्रसंग में
अन्य रस का प्रसंगविरुद्ध प्रयोग रसविषयक अनौचित्य को प्रस्तुत करता है। इस रसविरोध
परिहार के उपायों का निरूपण आगे चल कर प्रायः सभी आचार्यों ने किया है। इसी तरह
साथ ही रस का काव्य में निरन्तर अत्यधिक पुष्टि को पहुँचाया जाना अनौचित्य को

1- द्रष्टव्य, रुद्रटकाव्या०, 3/59 तथा नमिसाधु की व्याख्या
2- ,, ,, 6/17-18
3- ,, ,, 6/25-26
4- द्रष्टव्य, वही 11/9
5- द्रष्टव्य वही, 11/10

प्रस्तुत करता है[1]। वैदर्भी आदि रीतियों का रसों में प्रयोग औचित्य के अनुरूप ही होना चाहिए। जैसे वैदर्भी और पांचाली का प्रेयस्, करुण, भयानक तथा अद्भुत रसों में प्रयोग होना चाहिए एवं लाटीया और गौडीया का रौद्र रस में।[2] इस प्रकार रसों, अलंकारों रीतियों तथा वृत्तियों के सम्यक् प्रयोग की बात कह कर अनेकशः रुद्रट औचित्य का ही प्राधान्य प्रतिपादित करते हैं। और ठीक भी है, औचित्य के बिना काव्य क्या ? कहीं भी सौन्दर्यानुभूति नहीं हो सकती। रुद्रट के इस औचित्यविषयक विवेचन से स्पष्ट है कि क्षेमेन्द्र का औचित्य सिद्धान्त के निरूपण में वस्तुतः कोई भी मौलिक चिन्तन विषयक योगदान नहीं है। आचार्य रुद्रट ने जिसका सामान्य निर्देश कर दिया था उसी का उन्होंने सोदाहरण विस्तृत विवेचन प्रस्तुत कर दिया। यही उनका योगदान है । रुद्रट के बाद काव्य में औचित्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठा आनन्दवर्धन ने की। यहाँ तक कि उनका 'अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।'[4] यह कथन उनके परवर्ती आचार्यों के लिए 'उपनिषद्वाक्य' सिद्ध हुआ। उन्होंने वर्ण से लेकर प्रबन्धपर्यन्त औचित्य का सम्यक् निरूपण किया। उनके औचित्य निरूपण की विस्तार से विवेचना यहाँ अपेक्षित नहीं है। अधिक क्या कहा जाय, छोटे मोटे कवियों की बात तो दूर, महाकवियों का मुख्य कर्म ही उन्होंने रसादि विषय के अनुसार शब्द और अर्थ के औचित्यपूर्ण प्रयोग को स्वीकार किया है—

'वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः।।'[5]

उनके द्वारा ही औचित्य को काव्य के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप में स्थापना कर देने के अनन्तर किसी भी परवर्ती आचार्य को उसका विरोध करने का साहस नहीं हुआ। उनके बाद राजशेखर ने रुद्रट की ही भाँति काव्य की अपनी [illegible] को उचित और अनुचित की विवेकरूप प्रतिपादित किया।[6] साथ ही काव्यपाक का कारण रसोचित शब्दार्थ की सुन्दर उक्ति को स्वीकार कर आनन्दवर्धन का समर्थन किया। -'रसोचितशब्दार्थ-सूक्तिनिबन्धनः पाकः।'[7] आचार्य कुन्तक ने अपने वक्रोक्ति-सिद्धान्त में औचित्य को कमनीय

1- रुद्रट, काव्या० 11/16
2- वही 15/20
4- ध्वन्या० पृ०330
5- वही, 3/32
6- काव्यमी०पृ०75
7- वही, पृ०94

प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण बनाए रखा। उनकी वक्रता यदि काव्य का जीवित है तो वक्रता का प्राण है औचित्य। बिना औचित्य के वक्रता सम्भव नहीं। इसके पूर्व कि कुन्तक की प्रत्येक वक्रताओं में औचित्य का विवेचन किया जाय उनके द्वारा स्वीकृत औचित्य गुण पर विचार प्रस्तुत किया जाता है। आचार्य कुन्तक ने सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम तीन काव्य मार्गों एवं उनके विशिष्ट गुणों का निरूपण करने के अनन्तर तीनों के भी दो साधारण गुणों का निर्देश किया है, उनमें से एक है औचित्य। यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि कुन्तक के ये तीन मार्ग काव्य के त्रिविध स्वरूप के ही प्रतिनिधि हैं। अतः समस्त मार्गों का साधारण गुण कहने का आशय यह हुआ कि समस्त काव्यों का साधारण गुण है। इस औचित्य का प्रत्येक काव्य में होना अनिवार्य है। कुन्तक के अनुसार जिस उक्तिवैचित्र्य के द्वारा वस्तु के स्वभाव का उत्कर्ष स्पष्ट ढंग से परिपोष को प्राप्त करता है और जिसका प्राण उचित कथन होता है उसे औचित्य कहते हैं। क्यों कि औचित्य के अनुरूप ही अलंकार अर्थात् वक्रोक्ति का विन्यास सौन्दर्य का संवहन करता है।[1] साथ ही जहाँ पर वक्ता या प्रमाता के शोभातिशायी स्वभाव के द्वारा अभिधेय वस्तु आच्छादित हो जाता है वहाँ भी औचित्य ही होता है।[2] इनकी विस्तृत व्याख्या मार्ग-गुणविवेचन के प्रसंग में की जा चुकी है। इस प्रकार जहाँ आनन्द ने औचित्य की दृष्टि से प्रधानता रस को प्रदान की थी और औचित्य का विवेचन प्रधानतया रस की दृष्टि से किया था वहाँ कुन्तक ने सर्वाधिक प्राधान्य 'स्वभाव' को दिया। वस्तुतः कुन्तक के इस स्वभावौचित्य में ही रस, गुण अलंकार सभी का औचित्य निहित है। काव्य का वर्ण्यविषय प्रधानतः किसी वस्तु का स्वभाव ही होता है। कवि का वर्णनकौशल्य उसी वस्तुस्वभाव की सम्यक् परिपुष्टि करना होता है। वही स्वभाव वर्णित रस, गुण और अलंकार हुआ करता है। अतः उसी के औचित्य में काव्य के समग्र तत्त्वों का औचित्य निहित है। उस प्रस्तुत वस्तु की ही प्रतीति कभी रसविशेष से पेशल होती है कभी अलंकारविशेष से। जब वस्तु स्वभाव की प्रतीति रसविशेष से पेशल होती है उस समय उसकी रमणीय ढंग से प्रतिपादित विभावों, अनुभावों एवं व्यभि-

---

1- व. जी. 1/53 तथा वृत्ति

2- वही 1/54

आश्रयण कर किया गया प्रयोग भी उपर्युक्त वक्रता को प्रस्तुत करता है।[1]

(4) वाक्यवक्रता और औचित्य- वाक्यवक्रता के अन्तर्गत [illegible] कुन्तक ने वस्तुवक्रता और अलंकारवक्रता का निरूपण किया है। उनका स्पष्ट कथन है—

'वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा।
यत्रालंकारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति।।'[2]

अलंकारों के विषय में उनका स्पष्ट कथन है कि रूपकादि अलंकारों की योजना सदैव वर्णनीय पदार्थ के औचित्य के अनुसार होनी चाहिए। और वह वर्णनीय वस्तु भी अपने अत्यन्त रमणीय स्वाभाविक धर्म से युक्त होनी चाहिए—'यथावदत्यन्तरमणीयस्वाभाविकधर्मयुक्तं वस्तु परिग्रहणीयम्। तथाविधस्यतस्य यथायोगमौचित्यानुसारेण रूपकाद्यलंकारयोजनयाभिधेयम्।'[3]

कुन्तक ने तृतीय उन्मेष में काव्य की वर्णनीय वस्तु का जो विषय विभाग प्रदर्शित किया है, उसका मुख्य आधार भी स्वभाव का औचित्य है। स्वभाव के औचित्य का आशय है प्रस्ताव का उपयोगी सौन्दर्यातिशय क्योंकि तद्विदाह्लाद उसी से सम्भव होता है।[4]

(5) प्रकरणवक्रता तथा औचित्य— (क) कुन्तक की द्वितीय प्रकरणवक्रता जिसमें इतिवृत्त की कथा में परिवर्तन का निर्देश किया गया है मूलतः औचित्य पर आधारित है। कवि कथा में परिवर्तन औचित्य का परिहार करने के लिए ही करता है। कुन्तक ने सम्बद्ध कारिका में प्रयुक्त 'उत्पाद्यलवलावण्यात्' पद की द्विविध व्याख्या करते हुए औचित्य स्पष्ट कर दिया है 'उत्पाद्य लवलावण्यादिति द्विधा व्याख्येयम्। क्वचिदसदेवोत्पाद्यं … क्वचिदौचित्यत्यक्तं सदप्यन्यथा सम्पाद्यं सहृदयहृदयाह्लादनाय।'[5]

(ख) तृतीय प्रकरणवक्रता का निरूपण करते हुए कुन्तक ने बताया कि यह प्रकरण कवि के अभिनववक्रतारहस्य को प्रस्तुत करता है, परन्तु किस कवि के उसी वर्ण्यमान पदार्थ के औचित्य को रमणीय ढंग से प्रस्तुत करने में अत्यन्त कुशल होता है—'प्रस्तुतौचित्यचारु-रचनावैचित्र्यमिति यावत्।'[6]

(ग) चतुर्थ प्रकरणवक्रता भी वहीं होती है जहाँ सर्वथा अभिनव ढंग से उल्लिखित रसों एवं अलंकारों से शोभायमान एक पदार्थस्वरूप वर्ण्यमान के औचित्य की रमणीय रचना का विषय बनता हुआ बार बार उपनिबद्ध किया जाता है।[7]

(6) प्रबन्धवक्रता और औचित्य-प्रबन्धवक्रता के प्रकारों में यद्यपि कुन्तक ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में औचित्य का प्रतिपादन तो नहीं किया किन्तु उनके विवेचन से स्पष्ट है कि उन वक्रताओं का आधार औचित्य ही है। प्रथम वक्रता प्रकार का रसपरिवर्तन औचित्य पर

1- वक्रोक्ति, व.जी. 2/31
2- वही, 1/20
3- वही, पृ0135
4- वही, पृ0 144
5- वही, पृ0225
6- वही, पृ0225
7- वही, 4/7-8 तथा वृत्ति

ही आधारित है । द्वितीय वक्रताप्रकार में निर्दिष्ट कथा का इतिवृत्त के स्वरूप से ही समापन औचित्य का ही प्रतिपादन करता है। यहाँ तक कि उस कथासमापन करने वाले कवि के विषय में वे स्पष्ट ही कहते हैं कि वह औचित्य मार्ग के प्रभेदों में निपुण होता है—'सुकविः औचित्यमवृत्तिप्रभेदचतुरः'[1] इसी प्रकार कुन्तक के अन्यप्रबन्धवक्रता प्रकारों में औचित्य की कल्पना निहित है। कुन्तक ने प्रबन्धवक्रता का पंचमप्रकार वहाँ स्वीकार किया है जहाँ पर काव्य-वस्तु के वैचित्र्य की बात तो दूर रहती है केवल प्रबन्ध के प्रधान कथानक के चिह्नभूत नाम के द्वारा भी कवि वक्रता को प्रस्तुत कर देता है । डा०नगेन्द्र आचार्य कुन्तक की इस प्रबन्धवक्रता में क्षेमेन्द्र के नामौचित्य का संकेत मानते हैं। वे कहते हैं 'और पंचम भेद में क्षेमेन्द्र के नामौचित्य का संकेत है'[2] निश्चित ही केवल नाम-साम्य के आधार पर डा०साहब द्वारा अनेकों स्थलों पर उद्भावित की गई यह साम्य-कल्पना उचित नहीं प्रतीत होती। क्या डा०साहब इस साम्य को स्थापित कर यह कहना चाहते हैं कि- हयग्रीववध, शिशुपालवध, पाण्डवाभ्युदय, रामानन्द और रामचरित आदि नाम अनुचित हैं ? केवल अभिज्ञान शाकुन्तल , मुद्राराक्षस, प्रतिमानिरुद्ध, मायापुष्पक, कृत्यारावण, छलितराम, पुष्पदूषितक, आदि नाम ही उचित हैं ? यदि ऐसा वे स्वीकार करते हैं तो निश्चित ही यह 'केवल उनका ही' अभिमत हो सकता है , आचार्य कुन्तक का नहीं। आचार्य कुन्तक 'अभिज्ञानशाकुन्तल' आदि प्रबन्धों का एक अलौकिक सौन्दर्य प्रस्तुत करते हैं, जो कि उनकी सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति का परिचायक है, न कि हयग्रीववध आदि प्रबन्धों में वे दोष या अनौचित्य दिखाना चाहते हैं। इसी लिए कारिका में प्रयुक्त 'अपि' शब्द की वे वृत्ति में व्याख्या करते हैं कि —'अपि शब्दो विस्मयमुद्द्योतयति'[3] अर्थात् समग्र प्रबन्ध का सौन्दर्य केवल उसके 'नाम' से भी व्यक्त किया जा सकता है, यह विस्मय का द्योतक नहीं तो और क्या है ? शायद ही यदि 'नामौचित्य' की प्रेरणा क्षेमेन्द्र को कुन्तक के इस प्रबन्ध वक्रता विवेचन से मिली होती तो निश्चित ही वे ऐसा कोई न कोई उदाहरण पद्य अथवा निबन्ध का प्रस्तुत करते । अतः निश्चित ही विद्वानों द्वारा ऐसे साम्य-स्थापन पाठकों में भ्रान्त धारणा उत्पन्न करने के सिवाय और कुछ नहीं कर सकते। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुन्तक की वर्ण से लेकर प्रबन्धपर्यन्त प्राप्त होने वाली वक्रताओं का प्राण औचित्य है । बिना औचित्य के वक्रता हो ही नहीं

1- व.जी. पृ० 239
2- भा०का०भू०(भाग 2)पृ० 394
3- व.जी. पृ० 245

सकती । कवि का कौशल उन्हीं वक्रताप्रकारों को उत्तेजित करने में समर्थ होता है जो औचित्य गुण से सुशोभित होने वाले होते है —

'वक्रतायाः प्रकाराणामौचित्यगुणशालिनाम् ।
एतदुत्तेजनायालं स्वस्पन्दमहतामपि[1] ।।'

यही नहीं जिस काव्य का प्रयोजन ही व्यवहार करने वालों को नूतन औचित्य से युक्त व्यवहार व्यापार के सौन्दर्य की प्राप्ति कराना है उसमें अनौचित्य का समावेश कैसे।औचित्य ही उसका प्राण होता है।इस प्रकार निश्चित ही वक्रोक्तिसिद्धान्त औचित्य को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करता है क्यो कि जिस वक्रता को वह काव्य का जीवित स्वीकार करता है उस वक्रता का ही जीवितभूत है औचित्य ।

वक्रोक्ति एवं ध्वनि-सिद्धान्त

संस्कृत काव्यशास्त्र का सर्वप्रसिद्ध एवं प्रायः सर्वमान्य सिद्धान्त ध्वनिसिद्धान्त है। ध्वनिसिद्धान्त के प्रवर्तन करने वाले प्रथम आचार्य ध्वनिकार एवं आनन्दवर्धन हैं।[1] इस सिद्धान्त की प्रबलप्रतिष्ठा आगे चल कर आचार्य अभिनवगुप्त तथा मम्मट के द्वारा हुई। ध्वनिकार ने काव्य की आत्मा ध्वनि को स्वीकार किया है। ध्वनि की स्थापना करने के पूर्व उन्होंने इसके तीन विरोधियों का उल्लेख किया है[2]—

(1) अभाववादी - जो कि ध्वनि को या तो रमणीयता का हेतु ही नहीं मानते और यदि यथाकथंचित् मानते भी हैं तो उसका गुणों, अलंकारों रीतियों एवं वृत्तियों में ही अन्तर्भाव कर लेते हैं।[3]

(2) भक्तिवादी — जिनके अनुसार ध्वनि गुणवृत्ति अथवा लक्षणा में अन्तर्भूत है। आनन्दवर्धन ने स्पष्ट निरूपण किया है कि यद्यपि किसी भी आचार्य ने स्पष्ट रूप से ध्वनि शब्द का उच्चारण कर न तो गुणवृत्ति को ही प्रकाशित किया है और न दूसरा ही कोई प्रकार बताया गया है फिर भी काव्यों में अमुख्य वृत्ति से व्यवहार दिखाते हुए ध्वनिमार्ग का कुछ स्पर्श किया अवश्य था लेकिन स्पष्ट रूप से लक्षित नहीं किया था अतः उन्हें भक्तिवादी कहा गया है।[4]

(3) अनिर्वचनीयतावादी -जो कि ध्वनि तत्त्व को अनिर्वचनीय केवल सहृदयहृदय संवेद्य मानते हैं।[5]

आचार्य आनन्दवर्धन ने वृत्ति में इन तीनों ही प्रकार के ध्वनिविरोधी आचार्यों में से किसीका भी नामोल्लेख नहीं किया। जैसा विविध विभाजन ऊपर प्रस्तुत किया गया है उसके अनुसार पहले अभाववादी अभिधावादियों के अन्तर्गत आवेंगे और दूसरे उनसे कुछ आगे बढ़े हुए लक्षणावादी हैं ही। वस्तुतः ध्वनिसिद्धान्त की महत्ता अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य वृत्तियों से भिन्न व्यंजना वृत्ति की स्थापना में है।

1- ध्वन्यालोक कारिका एवं वृत्ति के रचयिताओं की भिन्नता अथवा एकता के विषय में सभी विद्वान् एकमत नहीं हैं। इसी लिए दोनों का अलग अलग उल्लेख किया जा रहा है। वैसे ध्वनिसिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला आद्य ग्रन्थ ध्वन्यालोक ही है जो ध्वनिकारिका और उस पर आनन्दवर्धन द्वारा लिखित वृत्ति का सम्मिलित नाम है।

2- ध्व० 1/1 (3) द्रष्टव्य वही, पृ० 10-27

4- द्रष्टव्य वही, पृ० 31-32 (5) वही, पृ० 33

ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना के पहले व्यंजना वृत्ति का कोई अस्तित्व नहीं था। यद्यपि व्यंग्य अथवा प्रतीयमान अर्थ से ध्वनिकार या आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती आचार्य अनभिज्ञ थे। इस विषय में पण्डितराज का कथन अत्यन्त ही समीचीन है। 'ध्वनिकारात् प्राचीनैर्भामहोद्भटप्रभृतिभिः स्वग्रन्थेषु कुत्रापि ध्वनिगुणीभूतव्यंग्यादिशब्दा न प्रयुक्ता इत्येतावतैव तैर्ध्वन्यादयो न स्वीक्रियन्त इत्याधुनिकानां वाचोयुक्तिरयुक्तैव। यतः समासोक्तिव्याजस्तुत्यप्रस्तुतप्रशंसाद्यलंकारनिरूपणेन कियन्तोऽपि गुणीभूतव्यंग्यप्रभेदास्तैरपि निरूपिताः। अगत्या सर्वोऽपि व्यंग्यप्रपंचः पर्यायोक्तकुक्षौ निक्षिप्तः। न ह्यनुभवसिद्धार्थो बाधेनापह्नोतुं शक्यते। ध्वन्यादिशब्दैः परं व्यवहारो न कृतः, नह्येतावतानंगीकारो भवति।[1] 'यही नहीं स्वयं आनन्दवर्धन ने यह स्वीकार किया है कि रूपकादि की प्रतीयमानता का प्रतिपादन भट्ट उद्भट आदि ने कर रखा था। 'अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलंकारः सोऽन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्र भवद्भिर्भट्टोद्भटादिभिः।[2] ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना के अनन्तर भी जितने इसके विरोधी आचार्य हुए हैं उन्होंने प्रतीयमान अर्थ की सत्ता का अपलाप नहीं किया बल्कि ध्वनिवादियों की व्यंजना वृत्ति का तिरस्कार किया है और उसका अनुमान, अभिधा, लक्षणा अथवा तात्पर्य शक्ति में अन्तर्भाव करने का प्रयास किया है।

कुन्तक को ध्वनिविरोधी अभिधावादी अथवा भक्तिवादी कहने वाले आचार्यों एवं विद्वानों के अभिमतों तथा युक्तियों का निराकरण :—

प्रायः विद्वानों ने महिमभट्ट तथा धनंजय आदि के साथ साथ आचार्य कुन्तक को भी ध्वनिविरोधी आचार्य कहा है। डा० देशपाण्डे का कथन है कि— 'ध्वनि के विरोधक भी केवल इतना ही कहते हैं कि व्यंजना व्यापार को स्वतंत्र सत्ता मानने का कोई प्रयोजन नहीं। व्यंजना का अन्तर्भाव अभिधा, लक्षणा, तात्पर्य या अनुमान में ही होता है।'[3] उन्होंने महिमभट्ट आदि के साथ कुन्तक को भी ध्वनि-विरोधक के रूप में प्रस्तुत किया है—'मुकुल, भट्टनायक, कुन्तक, धनञ्जय, महिमभट्ट, भोज आदि ध्वनि के विरोधक इसी काल में हुए हैं।[4] लेकिन डा० साहब ने कहीं भी इस बात का सुस्पष्ट उल्लेख नहीं किया कि कुन्तक अभिधावादी

1- रसगंगाधर, पृ० 658-659
2- ध्वन्या० पृ० 258
3- भा०सा०शा०, पृ० 148
4- वही, पृ० 117

थे या कि लक्षणावादी अथवा तात्पर्यवादी। उन्होंने यह अवश्य कहा है कि-
'कुन्तक ध्वनि को वक्रोक्ति का ही भेद मानते हैं × × वे ध्वनि को अर्थवक्रता का
ही एक भेद मानते हैं।[1]' परन्तु इतने से ही कुन्तक को ध्वनि का विरोधी कहना
समीचीन नहीं प्रतीत होता जब तक कि उनकी वक्रोक्ति को अभिधा, लक्षणा, तात्पर्य
या अनुमिति न सिद्ध कर दिया जाय। साथ ही केवल इस आधार को लेकर कि
'ध्वनि को कुन्तक ने वक्रोक्ति के एक भेद रूप में प्रस्तुत किया है अतः वे ध्वनिविरोधी
हैं ऐसा स्वीकार करने का आशय स्वयं ध्वनिवादियों को भी रस का विरोधी स्वीकार
करना होगा, क्योंकि ध्वनिवादी भी रसादि को ध्वनि के एक भेद रूप में ही प्रस्तुत
करते हैं। अतः यदि डा० माधव ध्वनिवादियों को रसविरोधी स्वीकार करने के लिए तैयार
हों तो कुन्तक को भी ध्वनिविरोधी स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं। इसके अतिरिक्त
अन्य अनेक आधुनिक विद्वानों ने भी कुन्तक को ध्वनिविरोधी आचार्य ही स्वीकार किया
है। कुछ लोगों ने उन्हें भक्तिवादी स्वीकार किया है तो कुछ लोगों ने अभिधावादी।
कुन्तक को पूर्णतया भक्तिवादी स्वीकार करने वाले विद्वानों में प्रमुख हैं डा० हरिचन्द्र
शास्त्री।[2] उनका कहना है कि कुन्तक का वक्रोक्तिवाद ही भक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध
है। इसके विपरीत कुन्तक को अभिधावादी मानने वालों में प्रमुख हैं पं० बलदेव उपाध्याय
डा० नगेन्द्र तथा डा० भोलाशंकर व्यास। उपाध्यायजी का कहना है कि -'कुन्तक
अभिधावादी आचार्य हैं परन्तु उनकी अभिधा शब्दों का अभिरूप आद्य एकदेशीय
व्यापार नहीं है, प्रत्युत उनकी अभिधा के भीतर लक्षणा तथा व्यंजना का समग्र
संभार विराजमान है।[3]' डा० नगेन्द्र का कथन है- 'कुन्तक मूलतः अभिधावादी हैं-
उन्होंने अपनी वक्रोक्ति को विचित्र अभिधा ही माना है। परन्तु उन्होंने लक्षणा और
व्यंजना की स्थिति का निषेध नहीं किया। वास्तव में इन दोनों को उन्होंने अभिधा

1- भा. सा. शा. पृ० 120

2- शास्त्री जी ने अपने इस मन्तव्य का प्रतिपादन 'Kalidasa et l' Art Poetique de l'Inde (PP. 96-7) पर किया है। उनके विषय में डा० कृष्णमूर्ति का कथन द्रष्टव्य है -"Dr. Harichand Shastri states that the system of Vakrokti as propounded by Kuntaka, is also known as the system of Bhakti." — Indian Culture Vol. XV, p. 173.

3- भा. सा. शा. भाग, 2, पृ० 477

का ही विस्तार माना है, अभिधा के गर्भ में ही इन दोनों की स्थिति उन्हें मान्य है ।[1]' डा० श्याम का कथन है- 'तीसरे अभिधावादी कुन्तक हैं । कुन्तक स्पष्ट रूप से कहीं भी लक्षणा का निषेध नहीं करते। किन्तु उनके अभिधावादी मत का संकेत यहीं ढूंढा जा सकता है जहाँ वे वक्रोक्ति को 'विचित्रा अभिधा' ही मानते हैं।'[2]

अब विचार यह करना है कि ऊपर उद्धृत किए गए अनेक विद्वानों के मत कहाँ तक समीचीन हैं । वस्तुतः कुन्तक को ध्वनिवादी कहने वालों का आधार राजानक रुय्यक का यह कथन है कि कुन्तक ने उपचारवक्रता आदि के द्वारा समस्त ध्वनि प्रपंच को स्वीकार कर लिया है- 'उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपंचः स्वीकृतः ।'[3] राजानक रुय्यक द्वारा उपचारवक्रता के साथ प्रयुक्त 'आदि' शब्द क्या अर्थ रखता है? वह कितना व्यापक है ? कुछ भी कह सकना कठिन है । उनके टीकाकार जयरथ ने इस 'आदि' शब्द की कोई व्याख्या प्रस्तुत करने का कष्ट नहीं उठाया। दूसरे टीकाकार समुद्रबन्ध ने 'आदि' के द्वारा 'विशेषणवक्रता' आदि का ग्रहण किया है।-'आदि-शब्देन विशेषणवक्रतादयः गृह्यन्ते।'[4] परन्तु स्पष्ट ही उनकी व्याख्या में भी 'आदि' शब्द एक पहेली ही बना हुआ है। उदाहरण देते समय समुद्रबन्ध ने विशेषणवक्रता' के साथ ही 'संवृतिवक्रता 'को भी उद्धृत किया है। कुन्तक के वक्रता विवेचन में भी उपचारवक्रता के अनन्तर क्रमशः विशेषण और संवृतिवक्रताओं का निरूपण है। अब यदि रुय्यक के कथन का यह आशय स्वीकार किया जाय कि उपचारवक्रता के बाद वर्णित सभी वक्रताओं में ध्वनिप्रपंच की स्वीकृति है तो भी उनके उक्त कथन की संगति नहीं बैठती क्योंकि उससे पहले 'रूढिवैचित्र्यवक्रता' और 'पर्यायवक्रता' का निरूपण है जिनमें ध्वनि के कुछ प्रभेदों का निश्चित ही अन्तर्भाव है। यहाँ तक कि पर्यायवक्रता के तृतीय प्रकार का निरूपण करने के अनन्तर स्वयं कुन्तक का यह स्पष्ट कथन है कि 'यही शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यंग्य पदध्वनि अथवा वाक्यध्वनि का विषय है।'—'एष च शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यंग्यस्य पदध्वनेर्विषयः, बहुषु चैवंविधेषु सत्सु वाक्यध्वनेर्वा।'[5] अतः राजानक रुय्यक का यह कथन स्वयं ही अनिश्चित एवं भ्रामक है ।

---

1. भा.का.सि., भाग 2, पृ. 382
1- अलंकारसर्वस्व, भाग, 1, पृ0 135
2- [illegible] स0, पृ0 10
4- समुद्रबन्ध, पृ0 9
5- व.जी. पृ0 95
5- [illegible] पृ0 9

राजानक जयरथ ने वक्रोक्तिजीवितकार' के मत की व्याख्या करने में पूर्व भूमिका रूप में कहा है कि 'जो अन्य लोगों ने ध्वनि को भक्ति में अन्तर्भूत किया है उसे दिखाने के लिए कहा वक्रोक्ति इत्यादि'। 'इदानीं यदन्यैरस्य भक्त्यन्तर्भूतत्वमुक्तं तदपि दर्शयितुमाह वक्रोक्तीत्यादि[1]। और अन्त में कहते हैं- 'भणितिरेव समस्तमूलवक्रोक्तिमध्यान्त-र्भावात् ध्वनेरेव तत्त्वं प्रतिपादितम्[2]।' स्पष्ट ही जयरथ का उक्त विवेचन कुन्तक को भक्तिवादी सिद्ध करने के प्रयास में उपहासास्पद हो उठा है। क्या उनके विवेचन में यह आशय नहीं ध्वनित होता कि ध्वनि का अन्तर्भाव केवल उपचार वक्रता में है ? निश्चित ही समुद्रबन्ध की व्याख्या यहाँ इनकी व्याख्या की अपेक्षा अधिक विवेकपूर्ण एवं उपयुक्त है। कुछ भी हो समुद्रबन्ध का प्रयास रुय्यक के कथन को अधिक सुस्पष्ट ढंग से प्रस्तुत करने का है जब कि जयरथ की व्याख्या स्वयं उनके द्वारा प्रयुक्त 'आदि' शब्द को कोई महत्त्व नहीं प्रदान करती। और ग्रन्थकार के आशय को भी व्यक्त करने में सर्वथा असमर्थ सिद्ध होती है। इसी राजानक जयरथ की ही व्याख्या का स्पष्ट प्रभाव विद्याधर पर पड़ा है जिससे कि बिना वक्रोक्तिजीवित देखे और बिना वक्रोक्तिसिद्धान्त के सम्बन्ध में कुछ विचार किए गतानुगतिकन्यायेन आचार्य विद्याधर आँख मूँद कर एक ही वाक्य में कुन्तक के वक्रोक्तिसिद्धान्त का काम समाप्त कर जाते हैं और यह कह उठते हैं कि-

'एतेन यत्र कुन्तकेन भक्तावन्तर्भावितो ध्वनिस्तदपि प्रत्याख्यातम्[3]।'

लेकिन उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कुन्तक के विषय में इन सारे आचार्यों एवं विद्वानों के कथन सर्वथा असमीचीन हैं। ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि ध्वनिकार की 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' की व्याख्या में आनन्दवर्धन ने यह कहा है कि यद्यपि किसी भी आचार्य ने स्पष्ट रूप से ध्वनि शब्द का उच्चारण कर न तो गुणवृत्ति को ही प्रकाशित किया है और न दूसरा ही कोई प्रकार बतलाया है फिर भी काव्यों में अमुख्य-वृत्ति से व्यवहार दिखाते हुए ध्वनि मार्ग का कुछ स्पर्श अवश्य किया था हो उसे

1- विमर्शिनी' पृ0 9
2- वही, पृ0 10
3- एकावली, पृ0 5।

स्पष्टरूप से लक्षित नहीं किया था अतः उन्हें भक्तिवादी कहा गया है।[1] आनन्दवर्धन के इस कथन की व्याख्या करते हुए अभिनव ने अत्यन्त स्पष्ट ढंग से काव्य में अमुख्य वृत्ति से व्यवहार दिखाने वाले आचार्यों में भट्ट उद्भट तथा वामन का नामोल्लेख किया है—

'दर्शयतेति -भट्टोद्भटवामनादिना। भामहेनोक्तम्-शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थाः' इति। अभिधानस्य शब्दाद् भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्चेति। वामनेऽपि 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः इति।'[2] इस प्रकार स्पष्ट है अभिनव की दृष्टि में उद्भट और वामन भक्तिवादी हैं। आचार्य अभिनव के इस उद्धरण को प्रस्तुत कर देने के बाद विद्वानों के समक्ष यह स्पष्ट हो जाता है कि डा0भोला-शंकर व्यास के -'अभिनव गुप्त भी लोचन में भक्तवादियों (लक्षणावादियों) का उल्लेख करते हैं किन्तु किसी आचार्य का स्पष्ट नामोल्लेख नहीं करते।[3] इस कथन में कहाँ तक सार और सत्यता है? द्वितीय अध्याय में कुन्तक का कालनिर्णय करते हुए जैसा कि सिद्ध किया जा चुका है आचार्य अभिनव आचार्य कुन्तक तथा उनके वक्रोक्तिसिद्धान्त से भलीभाँति परिचित थे। यदि कुन्तक उनकी दृष्टि में भक्तिवादी होते तो निश्चित ही वे अभिनव के आक्षेप के शिकार बनते। वस्तुतः कुन्तक को भक्तिवादी स्वीकार करना ही बहुत बड़ी भूल है। कुन्तक को भक्तिवादी तभी स्वीकार किया जा सकता है जब कि वे केवल उपचारवक्रता अथवा क्रियावैचित्र्यवक्रता के चतुर्थ प्रकार 'उपचार मनोज्ञता' के अन्तर्गत ही समग्र ध्वनि का अन्तर्भाव कर देते। क्यों कि कुन्तक ने उपचार मुख्यतः इन्हीं दो वक्रता प्रकारों में प्रदर्शित किया है। अथवा उपचारवक्रता के अतिरिक्त अन्य पर्यायवक्रता आदि प्रभेदों में ध्वनिप्रभेदों का अन्तर्भाव न करते। चूँकि ये दोनों ही बातें कुन्तक के ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होती अतः उन्हें भक्तिवादी कहना नितान्त भ्रमपूर्ण एवं असमीचीन है। डा0 डे ने यद्यपि डा0हरिचन्द्र शास्त्री के मन्तव्य को अनुचित बताया है फिर भी अपने विवेचन में उन्हों ने कुन्तक को जिस ढंग से भक्तिवादी सिद्ध करने का प्रयास

1- 'यद्यपि च ध्वनिशब्दसंकीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित् प्रकारः प्रकाशितः तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति परिकल्प्यैवमुक्तम् 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' इति।'
ध्वन्या0पृ031-32

2- लोचन, पृ0 52

3- ध्वनि सम्प्रदाय, भाग1, पृ0276

किया है[1] उसका बड़े ही विवेकपूर्ण एवं तर्कसम्मत ढंग से डा० कृष्णमूर्ति ने खण्डन कर दिया है।[2] अतः यहाँ पिष्टपेषण उचित नहीं। जयरथ और विद्याधर के कथनों की आलोचना करते हुए म. म. काणे भी यह प्रतिपादित करते हैं कि कुन्तक को भक्तिवादी कहना ठीक नहीं।[3] इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि आचार्य कुन्तक ध्वनि के विरोधक भक्तिवादी नहीं हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक विद्वानों के इस भ्रम का मूल राजानक रुय्यक का भ्रमपूर्ण कथन एवं उस कथन की राजानक जयरथ द्वारा प्रस्तुत की गई अनुपयुक्त एवं अवास्तविक व्याख्या तथा गतानुगतिकता-वश उन्हीं का विद्याधर द्वारा किया गया अनुकरण है।

अब उन आधुनिक विद्वानों के अभिमत पर विचार करना है। जो कि कुन्तक को अभिधावादी स्वीकार करते हैं। इन विद्वानों के भ्रम का मूल स्रोत आचार्य कुन्तक का—

'वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा'[4]— कथन है। इन विद्वानों ने अभिधा का अर्थ यहाँ अभिधा शक्ति मान रखा है। जो उक्त कथन के प्रसंग को देखते हुए सर्वथा असमीचीन है। वस्तुतः अभिधा का आशय यहाँ अभिधा शक्ति नहीं है बल्कि उसका अर्थ है केवल 'कथन'। इसे कुन्तक ने 'उक्ति' के पर्याय रूप में प्रस्तुत किया है और उक्ति का अर्थ यहाँ अभिधा शक्ति नहीं बल्कि 'कथन' या 'प्रतिपादन' है। 'वक्रोक्ति' में दो पदों का समास हुआ है- वक्रा + उक्तिः का। इसलिए 'वक्रोक्ति' पद की पदच्छेद पूर्ण व्याख्या करते हुए कुन्तक ने 'वक्रा' का पर्याय 'प्रसिद्ध कथन से व्यतिरेकी विचित्र हो' (प्रसिद्धाभिधान व्यतिरेकिणी विचित्रैव) प्रस्तुत किया था उक्ति का पर्याय 'कथन' (या अभिधा) दिया। स्पष्ट है कि यहाँ अभिधा का अर्थ अभिधा शक्ति नहीं बल्कि अभिधान या कथन है। इस प्रकार वक्रोक्ति का अर्थ हुआ 'प्रसिद्ध कथन से व्यतिरेकी विचित्र ही कथन'। और इसीलिए उसी प्रसंग में वे 'वैदग्ध्यभङ्गीभणिति' में आये हुए 'भणिति' के भी पर्याय रूप में पुनः 'अभिधा' शब्द का ही प्रयोग करते हैं—

1- द्रष्टव्य, Introduction to V.S. P. xlii

2- द्रष्टव्य, Indian Culture Vol. XV.

3- But this is not accurate, as the discussion about the Vakrokti-School in the 2nd part will show." H.S.P., P. 233.
यद्यपि म. म. जी ने इस विषय में द्वितीय भाग में कोई स्पष्ट विवेचन नहीं किया।

4- व. जी पृ० 22

वैदग्ध्यं विदग्धभावः कविकर्मकौशलं तस्य भंगी विच्छित्तिः तया भणितिः विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।[1] इस प्रकार कुन्तक ने इस स्थल पर 'अभिधा' शब्द का प्रयोग भणिति अर्थात् उक्ति, अभिधान अथवा कथन के पर्याय रूप में किया है शब्द की वाचक शक्ति अभिधा के लिए नहीं। इसे कुन्तक और भी स्पष्ट कर देते हैं जब वे कहते हैं कि-
'यहाँ कहने का अभिप्राय यह है कि अलग स्थित शब्द और अर्थ किसी भी व्यतिरेक व्यतिरिक्त अलंकार से युक्त किए जाते हैं लेकिन वक्रता वैचित्र्य से युक्त रूप इनका कथन ही इनका अलंकार होता है क्योंकि वही शोभातिशय को उत्पन्न करता है।'

'तदिदमत्र तात्पर्यं -यत् शब्दार्थौ पृथगवस्थितौ केनापि व्यतिरिक्तेनालंकरणेन योज्यते, किन्तु वक्रतावैचित्र्ययोगितयाऽभिधानमेवानयोरलंकारः तस्यैव शोभातिशयकारित्वात्।'[2]
स्पष्ट है कुन्तक ने यहाँ उक्ति, भणिति या कथन के स्थान पर ही अभिधान शब्द का प्रयोग किया है जो कि शब्द की वाचक शक्ति का बोधक नहीं है। यही नहीं कुन्तक ने अन्य स्थलों पर भी जहाँ अभिधा शब्द का प्रयोग किया है वह कथन, प्रतिपादन या उक्ति के अर्थ में ही है, अभिधा शक्ति के पर्याय रूप में नहीं। उदाहरणार्थ वाक्यवक्रता का स्वरूप-निरूपण करते हुए लक्षण-कारिका में प्रयुक्त 'तथाभिहितजीवितम्' पद, अर्थात् 'उस अनिर्वचनीय ढंग से कथन या प्रतिपादन ही जिसका प्राण है वैसा कविकौशल ही वाक्यवक्रता है', में प्रयुक्त अभिहिति के पर्याय रूप में वे अभिधा शब्द का प्रयोग करते हैं-
'तथा तेन प्रकारेण केनाप्यव्यपदेश्येन याभिहितिः साऽप्यपूर्वैवाभिधा सैव जीवितं सर्वस्वं यस्य तत्तथोक्तम्।'[3]
निश्चित ही यहाँ पर भी 'अभिधा' का प्रयोग शब्दशक्ति के अर्थ में नहीं लिया गया बल्कि केवल अभिहिति अर्थात् उक्ति या कथन के पर्याय रूप में किया गया है। इसी तरह अन्य स्थलों पर भी अभिधा शब्द का प्रयोग प्रायः उन्होंने कथन के अर्थ में ही किया है[4]। अतः यह कहना भी कि कुन्तक अभिधावादी थे, समीचीन नहीं क्योंकि यह कथन निराधार सिद्ध होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि जब कुन्तक न अभिधावादी ध्वनि-विरोधकों की कोटि में आते हैं न लक्षणावादी ध्वनिविरोधकों की, तो फिर किस कोटि के

1- व.जी., पृ० 22
2- वही, पृ० 22-23
3- वही, पृ० 144
4- द्रष्टव्य, व.जी. पृ० 148 तथा पृ० 202

ध्वनिविरोधक है?इसका उत्तर यही है कि उन्हें ध्वनिविरोधी कहना को समीचीन नहीं है।और यही कारण है कि विद्वानों को उन्हें ध्वनिविरोधियों की उक्त कोटियों में रखना कठिनाई उपस्थित करता है।आचार्य कुन्तक व्यंग्यार्थ और व्यंजना वृत्ति दोनों को स्वीकार करते है।इस विषय में पूर्णतया आनन्दवर्धन से सहमत है और यही कारण है कि उन्होंने धनञ्जय, महिमभट्ट आदि की तरह किसी तात्पर्य शक्ति अथवा अनुमिति में व्यंजना के अन्तर्भाव का प्रयत्न नहीं किया।उनकी वक्रोक्ति शब्दार्थ प्रकाशन की कोई शक्ति या वृत्ति नहीं है।उनकी वक्रोक्ति में अभिधा ,लक्षणा तथा व्यंजना तीनों वृत्तियाँ अन्तर्भूत है । उनकी वक्रोक्ति अभिधा रूप भी है।लक्षणारूप भी है और व्यंजना रूप भी।क्यों कि अभिधा लक्षणा और व्यंजना तीनों ही कथन प्रकार अथवा उक्तिव्यापार ही तो है? ।अभिधेयार्थ का कथन अभिधा शक्ति के द्वारा,लक्ष्यार्थ का कथन लक्षणा शक्ति के द्वारा और व्यंग्यार्थ का कथन व्यंजना शक्ति के द्वारा होता है।इन तीनों ही अर्थों का प्रतिपादन करने वाले शब्द क्रमशः वाचक,लक्षक और व्यंजक कहे जाते हैं।आचार्य कुन्तक को ये तीनों ही प्रकार के अर्थ तथा तीनों ही प्रकार के शब्द स्वीकार है।इस शंका का समाधान काव्य में शब्द और अर्थ के परमार्थ को बताते हुए पूर्वपक्ष को प्रस्तुत कर उन्होंने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कर दिया है— कुन्तक ने कह दिया है कि जो वाचक होता है उसे शब्द कहते है तथा जो वाच्य या अभिधेय होता है उसे अर्थ कहते है ।'इस पर पूर्वपक्षी ने प्रश्न किया कि आपकी यह स्थापना समीचीन नहीं।क्यों कि द्योतक और व्यंजक भी शब्द होते है(द्योतक से आशय यहाँ लक्षक शब्द से है)आपने उनका ग्रहण नहीं किया ।उसका उत्तर कुन्तक देते है कि ऐसी शंका ठीक नहीं क्यों कि अर्थ प्रतीतिकारित्व सामान्य के कारण उपचार से वे दोनों भी वाचक ही होते है।अर्थात् जिस प्रकार से वाच्य अर्थ की प्रतीति वाचक शब्द कराता है उसी प्रकार द्योत्य अर्थ की प्रतीति द्योतक शब्द तथा व्यंग्य अर्थ की प्रतीति व्यंजक शब्द कराता है।अतः अर्थप्रतीतिकारित्व रूप सामान्य के कारण उपचार से उन्हें भी वाचक ही कहा जा सकता है।इसी प्रकार प्रत्येयत्वसामान्य के कारण द्योत्य और व्यंग्य अर्थ को भी उपचार से वाच्यार्थ कहा जा सकता है या कि कहा गया है।'

---

1. 'यो वाचकः स शब्दः ,यो वाच्यश्चाभिधेयः सोऽर्थ इति।ननु च द्योतकव्यंजकावपि शब्दौसम्भवतः ,तदसंग्रहान्नाव्याप्तिः ,यस्मादर्थप्रतीतिकारित्वसामान्यादुपचारात्ताव- पि वाचकावेव।एवं द्योत्यव्यंग्ययोरर्थयोः प्रत्येयत्वसामान्यादुपचाराद् वाच्यत्वमेव।'
व.जी. पृ० पृ० 15

डा0 नगेन्द्र ने, भा0का0भू0 (पृ0382) पर, उक्त उद्धरण को कुन्तक को अभिधावादी सिद्ध करते हुए उद्धृत किया है। सम्भवतः ऐसा करते समय डा0 साहब यह भूल गये, कि उपचार सदैव अवास्तविक ही होता है।—'अतद्गुणभावे तद्रूपसमारोपः'[1]। अतः डा0साहब द्वारा अपने अभिमत की सिद्धि के लिए दिया गया यह हेतु हेतु न होकर विरुद्ध हेत्वाभास सिद्ध होता है। वस्तुतः द्योतक और व्यंजक शब्द तो होते ही हैं उन्हें उपचार से वाचक कह दिया गया है। इसी प्रकार द्योत्य और व्यंग्य अर्थों की सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता, उन्हें यदि वाच्य कहा गया है तो उपचार से ही। द्योतक और व्यंजक शब्दों को उपचार से वाचक कह कर तथा द्योत्य एवं व्यंग्य अर्थों को उपचार से वाच्य कह कर कुन्तक ने इनकी सत्ता के विषय में अपनी स्वीकृति दी है। अब संक्षेप में 'वक्रोक्ति जीवित' से उन मुख्य मुख्य अन्य स्थलों को प्रस्तुत किया जायगा जिनमें कुन्तक द्वारा व्यंग्यार्थ एवं व्यंजना व्यापार की स्वीकृति की परिपुष्टि होती है अथवा इस विषय में आनन्दवर्धन के साथ उनकी सहमति प्रकाशित होती है।

(1) आचार्य कुन्तक ने ललनालावण्य के साम्य से काव्यों अथवा मार्गों में एक लावण्य गुण स्वीकार किया है जो कि बन्ध सौन्दर्य को प्रस्तुत करता है। इस पर पूर्व पक्षी प्रश्न करता है कि ध्वनिकार ने तो 'प्रतीयमान अर्थ' को ललनालावण्य के समान बताया है आप केवल बन्धसौन्दर्य को ही उसके समान कैसे निरूपित किए दे रहे हैं[2]? पूर्वपक्षी के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कुन्तक ध्वनिकार की कारिका 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' की संगति सिद्ध करते हुए प्रतीयमान अर्थ को ललनालावण्य की कोटि से उठाकर ललना के सौभाग्य गुण की कोटि में स्थापित करते हैं। वे कहते हैं कि ललना लावण्य के साथ प्रतीयमान के दृष्टान्त में केवल प्रतीयमान के अस्तित्व को सिद्ध किया ही गया है। अर्थात् जैसे प्रसिद्ध अवयवों से व्यतिरिक्त कामिनी का लावण्य

1- न्याoद0 भाष्य, पृ045

2- 'ननु च कैश्चित् प्रतीयमानं वस्तु ललनालावण्य साम्याल्लावण्यमित्युपपादितप्रतीति-'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव इत्यादि(ध्व01/4)तत्कथं बन्धसौन्दर्यमात्रं लावण्यमित्यभिधीयते ?'- व.जी पृ0 56

होता है उसी प्रकार प्रसिद्ध वाच्य वाचक से भिन्न ही प्रतीयमान अर्थ भी होता है। पर इसका यह मतलब न नहीं कि सकललोकलोचनसंवेद्य ललनालावण्य और केवल सहृदयहृदयसंवेद्य प्रतीयमान अर्थ समान है। ×× प्रतीयमान अर्थ केवल काव्यपरमार्थ विदो के ही अनुभव का विषय होता है जैसे कामिनियों का कोई अनिर्वचनीय सौभाग्य केवल उनके उपभोग के योग्य नायकों के अनुभव का विषय होता है।[1], क्या कुन्तक ने इस विवेचन से यह सिद्ध नहीं होता कि प्रतीयमान अर्थ का स्थान उनकी दृष्टि में बहुत ही ऊँचा है।

(2) विचित्रमार्ग का स्वरूपनिरूपण करते हुए (व.जी.का. 1/40 में) कुन्तक बताते हैं कि उसमें वाच्य वाचक वृत्ति से व्यतिरिक्त किसी वाक्यार्थ की प्रतीयमानता उपनिबद्ध होती है। कारिका में प्रयुक्त 'काव्यार्थस्य' के विशेषण 'वाच्य वाचक-वृत्तिभ्यां व्यतिरिक्तस्य' की व्याख्या वृत्ति में वे इस प्रकार करते हैं- 'वाच्य वाचक-वृत्तियों अर्थात् शब्द और अर्थ की शक्तियों से व्यतिरिक्त अर्थात् उससे अतिरिक्तवृत्तिवाले दूसरे व्यंग्यभूतकी अभिव्यक्ति की जाती है। यहाँ वृत्ति 'शब्द के द्वारा शब्द और अर्थ की उनके प्रकाशन की सामर्थ्य का प्रतिपादन किया गया है।'[2] क्या यहाँ शब्द और अर्थ की शक्ति से आशय अभिधा वृत्ति से नहीं है? और क्या उसमें व्यतिरिक्त वृत्ति व्यंजना की जिसके द्वारा व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति की जाती है उसकी, स्वकृति नहीं है?

(3) 'पदपूर्वार्द्धवक्रता' के प्रथम प्रभेद 'रूढिवैचित्र्यवक्रता' का प्रतिपादन करने वाली कारिका में कुन्तक ने 'प्रतीयते' क्रिया पद का प्रयोग किया है। उसी पद के वैचित्र्य की व्याख्या करते हुए वृत्ति में वे कहते हैं— 'कि 'प्रतीयते' इस क्रियापद के वैचित्र्य का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार के रूढिवैचित्र्यवक्रता के स्थलों पर शब्दों का वाचक रूप में व्यापार नहीं होता बल्कि अन्यवस्तु की तरह केवल प्रतीति

1- 'नैष दोषः, यस्मादनेन दृष्टान्तेन वाच्यवाचकलक्षण प्रसिद्धावयवव्यतिरिक्तत्वेनास्तित्वमात्रं साध्यते प्रतीयमानस्य। न पुनः सकललोकलोचनसंवेद्यस्य ललनालावण्यस्य सहृदयहृदयानामेव संवेद्यं सत् प्रतीयमानं समीकर्तुं पार्यते। ××प्रतीयमानं पुनः काव्यपरमार्थज्ञानामेवानुभवगोचरतां प्रतिपद्यते। यथा कामिनीनां किमपि सौभाग्यं तदुपभोगोचितानां नायकानामेव संवेद्यतामर्हति।' व.जी. पृ0 56

2- 'वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शब्दार्थशक्तिभ्याम्। व्यतिरिक्तस्य तदतिरिक्तवृत्तेरन्यस्य व्यंग्यभूतस्याभिव्यक्तिः क्रियते। 'वृत्ति' शब्दोऽत्र शब्दार्थयोस्तत्प्रकाशनसामर्थ्यमभिधत्ते।'

-वही, पृ0 64

कराने वाले के रूप में होता है, यह बात युक्तिसंगत प्राप्तावसर है फिर भी उसका यहाँ विस्तार से प्रतिपादन नहीं किया जाता क्योंकि ध्वनिकार ने यहाँ व्यंग्यव्यंजक भाव का भलीभाँति समर्थन कर रखा है अतः पिष्टपेषण से क्या लाभ?'[1]

क्या कुन्तक की यह व्याख्या व्यंग्यव्यंजक भाव एवं व्यंजनावृत्ति आदि की सत्ता के विषय में ध्वनिकार के साथ उनकी पूर्ण सहमति को प्रस्तुत नहीं करती?

(4) पर्यायवक्रता के तृतीय प्रभेद का निरूपण करते हुए कुन्तक ने स्पष्टरूप से स्वीकार किया है कि 'यही शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यंग्य पदध्वनि का विषय है।'[2] उनके अनुसार 'जहाँ श्लिष्टता आदि रमणीय छायान्तर के स्पर्श से कोई पर्याय पद स्वयं अथवा अपने विशेषणभूत अन्य पद के द्वारा अभिधेय वस्तु को अलंकृत करने में समर्थ होता है वहाँ तृतीय पर्यायवक्रता प्रकार होता है।'[3] इसके उदाहरण रूप में कुन्तक ने अधोलिखित पद्य प्रस्तुत किया है-

इत्थं जडे जगति को नु बृहत्प्रमाण-
कर्णः करी ननु भवेद् ध्वनितस्य पात्रम्।
इत्यागतं झटिति योऽलिनमुन्ममाथ
मातंग एव किमतः परमुच्यतेऽसौ॥[4]

इस उद्धरण की संगति प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि 'यहाँ पर 'मातंग' शब्द केवल प्रस्तुत गज रूप अर्थ में प्रवृत्त होता है।'[5] कुन्तक के इस कथन का स्पष्ट आशय यही है कि शब्द की 'अभिधावृत्ति' यहाँ प्राकरणिक गजरूप अर्थ को प्रस्तुत करती है आगे वे कहते हैं कि 'मातंग शब्द शिष्ट वृत्ति अर्थात् अभिधा से अतिरिक्त शेष वृत्ति (व्यंजना) के द्वारा अप्राकरणिक चाण्डाल रूप पदार्थ की प्रतीति उत्पन्न करता हुआ रूपकालंकार की छाया के संस्पर्श से 'गौर्वाहीक' वाले न्याय से सादृश्यमूलक

1- 'प्रतीयते इति क्रियापदवैचित्र्यस्यायमभिप्रायो यदेवंविधे विषये शब्दानां वाचकत्वेन न व्यापारः, अपि तु वस्त्वन्तरवत् प्रतीतिकारित्वमात्रेणेति युक्तियुक्तमप्येतदिह नाति प्रतन्यते। यस्माद् ध्वनिकारेण व्यंग्यव्यंजकभावोऽत्र सुतरां समर्थितस्तत् किं पौनरुक्त्येन।' व.जी. पृ0 89
2- 'एष एव च शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यंग्यस्य पदध्वनेर्विषयः।' वही, पृ0 95
3- द्रष्टव्य, वही, पृ0 94
4- उद्धृत, वही, पृ0 94
5- 'अत्र 'मातंग'शब्दः प्रस्तुते वारणमात्रे प्रवर्तते।' -वही, पृ0 95

उपचार से सम्भव होने से प्रस्तुत वस्तु के तत्त्व का अध्यारोप करता हुआ पर्यायवक्रता को पुष्ट करता है। क्यों कि ऐसे स्थलों पर प्रस्तुत का अप्रस्तुत के साथ सम्बन्धनिरूपण या तो रूपकालंकार के द्वारा या फिर उपमा अलंकार के द्वारा सम्भव होता है।'[1]

कुन्तक के उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ऐसे स्थलों पर अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति अभिधा वृत्ति से नहीं बल्कि व्यंजना वृत्ति से होती है। साथ ही रूपक या उपमा अलंकार भी व्यंजना वृत्ति के द्वारा प्रतीत होता है और इसीलिए उसे प्रतीयमान अलंकार अथवा अलंकारध्वनि कहा जाता है। कुन्तक ने इस स्थल को स्पष्ट रूप से ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन द्वारा स्वीकृत शब्द शक्तिमूलानुरणनरूप व्यंग्य पदध्वनि का विषय बताया है और कहा कि यदि ऐसे प्रसंग में वही प्रयोग होता है तो वाक्य-ध्वनि का विषय होता है[2] और उसके बाद उन्होंने हर्ष-चरित के अधोलिखित दोनों उदाहरण प्रस्तुत किए हैं:-

(1) 'कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नुत्फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो व्यजृम्भत ग्रीष्माभिधानो महाकालः।'[3]

(2) 'वृत्तेऽस्मिन् महाप्रलये धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः।'[4]

आचार्य आनन्दवर्धन ने इन दोनों ही उदाहरणों को क्रमशः 'ध्वन्यालोक पृ०24। तथा 297 पर शब्दशक्तिमूलानुरणनरूप व्यंग्य वाक्यध्वनि के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। यदि आचार्य कुन्तक ध्वनि के विरोधी होते तो निश्चित अपनी पर्यायवक्रता को ध्वनि का विषय न कह कर वहाँ आचार्य आनन्दवर्धन का खण्डन करते। इतना ही नहीं इस स्थल पर आचार्य कुन्तक को अभिनवगुप्त, मम्मट आदि ध्वनि प्रस्थापक परमाचार्यों का मार्ग निर्देशक भी स्वीकार करना चाहिए। ध्वनिवादी आचार्यों का ही

1- 'श्लिष्टया वृत्त्या वाच्यान्तरलक्षणस्याप्रस्तुतस्य वस्तुनः प्रतीतिमुत्पादयन्। रूपकालंकारच्छाया-संस्पर्शात् गौर्वाहीक इत्यनेन न्यायेन सादृश्यनिबन्धनस्योपचारस्य सम्भवात् प्रस्तुतस्य वस्तुनस्तत्त्वमध्यारोपयन् पर्यायवक्रतां पुष्णाति। यस्मादेवंविधे विषये प्रस्तुतस्याप्रस्तुतेन सम्बन्धोपनिबन्धो रूपकालंकारद्वारेण कदाचिदुपमामुखेन वा। यथा स स्वार्थ सङ्कावलि-मिति वा।'-व.जी.पृ०95आचार्य विश्वेश्वर ने 'श्लिष्टया' पाठको को अशुद्ध बताकर 'श्लिष्टया' पाठ दे रखा है। परन्तु उनका ही पाठ अशुद्ध है। क्यों कि श्लिष्ट नाम की कोई वृत्ति नहीं होती। आचार्य जी ने जो वृत्ति का यहाँ व्यवहार अर्थ किया है वह कुन्तक को अभिमत नहीं। यदि उन्हें व्यवहार जैसा अर्थ ही अभीष्ट होता तो वे निश्चित ही 'श्लेषच्छायया 'आदि कहते' श्लिष्टया वृत्त्या' नहीं।

2-द्रष्टव्य, व.जी.पृ0 95 3- हर्षचरित, पृ0 4-वही, पृ0-

इस विषय में परस्पर वैमत्य है कि ऐसे स्थलों पर दूसरा अप्राकरणिक अर्थ अभिधा शक्ति द्वारा आता है कि व्यंजना शक्ति के द्वारा। ऊपर यह दिखाया जा चुका है कि आचार्य कुन्तक के अनुसार दूसरा अप्राकरणिक अर्थ व्यंग्य ही होता है उसकी प्रतीति अभिधा से भिन्न व्यंजना वृत्ति ही कराती है। इसी मत की स्थापना आगे चल कर बड़े स्पष्ट ढंग से आचार्य अभिनव गुप्त मम्मट तथा विश्वनाथ आदि ने की है[1]। अभिनवगुप्त ने इस मत के अतिरिक्त अन्य चार मतों का भी लोचन में उल्लेख किया है जोकि उन्हें मान्य नहीं है। उनका विवेचन यहाँ अप्रासंगिक होने के कारण प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कुन्तक ध्वनिकार के ध्वनि-विरोधक नहीं बल्कि ध्वनिप्रस्थापक अभिनव गुप्त तथा मम्मट आदि परमाचार्यों के मार्गनिर्देशक भी थे।

(5) कुन्तक ने रूपक तथा अप्रस्तुतप्रशंसा दोनों ही अलंकारों का प्राण उपचारवक्रता को स्वीकार किया है-

'तेन रूपकादेरलंकारकलापस्य सकलस्यैवोपचारवक्रताजीवितमित्यर्थः।' तथा 'आदि'ग्रहणादप्रस्तुतप्रशंसाप्रकारस्य कस्यचिदन्यापदेशलक्षणस्योपचारवक्रतैव जीवितत्वेन लक्ष्यते।'[2]

परन्तु ऐसा स्वीकार करने पर प्रश्न उठता है कि फिर इन दोनों अलंकारों में भेद कैसे है? कुन्तक इसका उत्तर देते हैं कि उपचारवक्रता के समानरूप से दोनों अलंकारों के जीवित होने पर भी एक जगह रूपक में वाच्यता और दूसरी जगह अप्रस्तुतप्रशंसा में प्रतीयमानता स्वरूप भेद का कारण है।[3] इससे भी कुन्तक द्वारा व्यंग्यार्थ की स्वीकृति परिपुष्ट होती है।

1- द्रष्टव्य, लोचन, पृ0 241-244

2- व.जी. पृ0 102 तथा 103

3- 'वाच्यत्वमेकत्र प्रतीयमानत्वमपरस्मिन् स्वरूपभेदस्यनिबन्धनम्।'
- व.जी. पृ0 103

(6) वस्तुवक्रता का स्वरूप निरूपण कुन्तक ने इस प्रकार किया है-

'उदार स्वपरिस्पन्दसुन्दरत्वेन वर्णनम्।
वस्तुनो वक्रशब्दैकगोचरत्वेन वक्रता।'[1]

इस पर कम से कम कुन्तक को अभिधावादी मानने वाले विद्वान् कह सकते है कि यदि कुन्तक ने 'गोचरत्वेन' के स्थान पर 'वाच्यत्वेन' भी कहा होता तो अर्थ में अथवा वस्तुवक्रता के स्वरूप में कोई अन्तर न पड़ता। परन्तु आचार्य कुन्तक जैसे भविष्य में अपने को अभिधावादी निरूपित करने वालो से सशंक ही थे, इसी लिए वृत्ति में अपने अभिप्राय को स्पष्ट कर दिया कि हमने 'वाच्यत्वेन' इसीलिए नहीं कहा कि वस्तु का वर्णन व्यंग्यरूप से भी संभव होता है[2]। और निश्चित ही यह कुन्तक को अमान्य नहीं है। 'कुन्तक के अपने विषय से इतनी सफाई दे देने पर भी परमसहृदय विद्वान समालोचक यदि उन्हें अभिधावादी या भक्तिवादी कहें तो इसका उत्तरदायित्व आचार्य कुन्तक पर है या कि उन परम सहृदयो पर ?निस्सन्देह अपने मत के विषय मे इतना स्पष्ट कथन करने वाले आचार्य के प्रति इन सहृदय शिरोमणियों का सर्वथा अन्याय ही है।

(7) ये ही स्थल नहीं अनेकों स्थलों पर प्रतीयमान अर्थ की सत्ता का निरूपण कुन्तक ने किया है। कुन्तक द्वारा स्वीकृत अनेक प्रतीयमान अलंकार अलंकारध्वनियाँ से ही रूप है। कुन्तक ने व्यतिरेकालंकार को स्पष्ट शब्दों में शाब्द और प्रतीयमान भेदों में विभक्त किया है-'शाब्दः प्रतीयमानो वा व्यतिरेकोऽभिधीयते।'[3] कुन्तक ने शाब्द व्यतिरेक को कवि प्रवाह प्रसिद्ध बताया है और कहा है कि वह अपने समर्पण में समर्थ अभिधान के द्वारा अभिधीयमान होता है। जबकि प्रतीयमान व्यतिरेक केवल वाक्यार्थ की सामर्थ्य से ही अवबोध होता है[4]। प्रतीयमान के उदाहरण रूप में कुन्तक 'प्राप्तश्रीरेषकस्मात्' आदि श्लोक उद्धृत करते है जिसे आचार्य आनन्दवर्धन ने 'रूपकध्वनि' के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया था[5]। आचार्य कुन्तक

1- व.जी. पृ0 3/1
2- वाच्यत्वेनेति नोक्तं व्यंग्यत्वेनापि प्रतिपादनसम्भवात्।' व.जी पृ0134
3- व.जी. पृ0207
4- वही, पृ0207-208
5- ध्वन्या0, पृ0261-262

बड़ी ही श्रद्धा के साथ उसे स्वीकार करते है और कहते है 'पूर्व विद्वानों ने अर्थात् आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान ढंग से तत्त्व का अध्यारोप होने के कारण यहां प्रतीयमान रूपक अथवा रूपकध्वनि ही स्वीकार की है।-'तत्त्वाध्यारोपणात् प्रतीयमानतया रूपकमेव पूर्वसूरिभिराम्नातम्।[1] जैसा कि डा० डे ने निर्देश किया है कुन्तक ने ध्वन्यालोक को (1।1।3कारिका) 'यत्रार्थः शब्दो वा' आदि को जिसमें कि ध्वनिकार द्वारा ध्वनि का स्वरूपनिरूपण किया गया है को इस स्थल पर उद्धृत किया था और प्रतीयमानता का विवेचन किया था।[2] परन्तु दुर्भाग्यवश पाण्डुलिपि के अत्यन्त भ्रष्ट होनेके कारण वह स्थल पढ़ा ही नहीं जा सका, अन्यथा कुन्तक के ध्वनिविषयक अभिप्रायों को और भी प्रबलता के साथ प्रतिपादित किया जा सकता। यहां अवधेय यह है कि आचार्य अभिनव गुप्त भी ध्वन्यालोक के उक्त स्थल की व्याख्या करते हुए आनन्द के आगे कुन्तक के अभिमत की सर्वथा अवहेलना नहीं करते बल्कि दोनों की संगति प्रस्तुत करने का प्रयास करते है। वे कहते है—'यद्यपि चात्र व्यतिरेको भाति, तथापि च पूर्वावस्थेवस्वरूपाद् भावप्रभृतात्।[3] 'कोई भी विद्वान सहृदय अभिनव की इस व्याख्या को से स्पष्ट ही यह अनुमान कर सकता है कि उक्त स्थल पर अभिनव परवर्ती कुन्तक का ही मत है। किन्तु आनन्दवर्धन के मत की अवहेलना जब कुन्तक ने नहीं की तो उसकी असंगति आनन्द के ही अनुयायी उनके टीकाकार अभिनवगुप्त कैसे प्रतिपादित करते। वस्तुतः कवि का गौरव यहां वासुदेव के अद्भुतत्व स्वरूप को प्रस्तुत करने में नहीं है बल्कि पूर्वरूप को प्रस्तुत करने में है और तभी उक्ति का चमत्कार भी सम्भव है।

1- व जी. पृ० 208

2- Kuntaka cites Dhvanyāloka 1.13 (the Dhvanikāras definition of Dhvani kāvya) and discusses the meaning of Pratīyamānatā in this connexion.-" — V. J. P. 208.

3- लोचन, पृ० 262

(8) इनके अतिरिक्त एक अन्य प्रमुख स्थल है जहाँ कि कुन्तक ने ध्वनिकार द्वारा स्वीकृत रसादि ध्वनि, वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि तीनों के ही विषय में अपनी स्वीकृति अथवा ध्वनिकार के साथ अपनी सहमति व्यक्त की है । दुर्भाग्य से डा० डे ने उस स्थल को अपने सारांश में (.) में, पाण्डुलिपि के उस स्थल पर अत्यन्त भ्रष्ट होने के कारण उद्धृत नहीं कर सके । उसका केवल ग्रन्थ की भूमिका निर्देश ही किया है[1] । परन्तु डा० संकरन ने अपने प्रबन्ध में उस स्थल को उद्धृत किया है । वह इस प्रकार है--

न तु परिवृत्तेः अत्यन्ताभावो भागिरभिधीयते। वर्णनीयत्वादलंकृतिर्निः भवतीत्यस्मा-कमभिप्रायः। न च प्रतीयमानतामात्रमलंकरणत्वसाधनम् अलंकार्यवस्तुमात्रेऽपि तस्याः सम्भवात्। तथा चेतदेवोदाहरणम्। न च प्रतीयमानं तदलंकरणम् तद्विदाह्लादकारित्वादिति युज्यते वक्तुम्, अलंकार्येऽपि तद्विदाह्लादकारित्व दर्शनात्, वस्तुमात्रलंकारा रसादयश्चेति त्रितयोऽप्यत्र तेश्च।[2]'

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि आचार्य कुन्तक ध्वनि के विरोधक नहीं हैं उन्हें व्यंग्य व्यंजक शब्द और व्यंजनाव्यापार तीनों ही मान्य हैं । ये व्यंजना का अन्तर्भाव अभिधा में करते हैं और न लक्षणा में । अतः उन समस्त आचार्यों एवं विद्वानों के अभिमत जो कि कुन्तक को ध्वनिविरोधक भक्तिवादियों या अभिधावादियों की कोटि में रखते हैं सर्वथा भ्रमात्मक एवं असमीचीन है।

कुन्तक की वक्रताओं एवं आनन्द की ध्वनियों को एक रूप कहने वाले आचार्यों एवं विद्वानों के अभिमत का निराकरण

इस प्रकार अब तक कुन्तक के विषय में उस वर्ग के विद्वानों के मन्तव्यों का विवेचन एवं उनकी प्रामाणिकता का निराकरण किया गया जो कुन्तक को ध्वनि विरोधी भक्तिवादी या अभिधावादी कहते थे । अब आचार्यों एवं विद्वानों के उस वर्ग के मन्तव्यों का विवेचन करना है जो कि कुन्तक की वक्रता को ध्वनि का ही प्रतिरूप .. ..

1-

सिद्ध करते है । ऐसा मानने वालों मे प्रमुख आचार्य है महिम भट्ट और आधुनिक प्रमुख विद्वान है डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय तथा डा० नगेन्द्र। व्यक्तिविवेककार का कहना है कि जो कुन्तक सहृदयमानी "वक्रकविव्यापार मे सुशोभित होने वाले एवं तद्विदाह्लादकारी बन्ध मे व्यवस्थित साहित्ययुक्त शब्द और अर्थ काव्य होते है।" इत्यादि काव्यलक्षण के द्वारा शास्त्रादि मे प्रसिद्ध शब्दो एवं अर्थों के उपनिबन्धन से व्यतिरेकी वैचित्र्यमात्रस्वरूप वाले वक्रत्व को काव्य का जीवित कहते है, वह भी समीचीन नही। क्यों कि शब्दो एवं अर्थों की प्रसिद्ध उपनिबन्धन से यह व्यतिरिक्तता या तो उनके औचित्य मात्र मे पर्यवसित होने वाली हो सकती है या फिर प्रसिद्ध अभिधेयार्थ से व्यतिरेकी प्रतीयमान अर्थ की अभिव्यक्ति मे पर्यवसित होने वाली हो सकती है। क्यो कि प्रसिद्ध प्रस्थान से व्यतिरेकी शब्दो एवं अर्थों के रचनावैचित्र्य का और कोई तीसरा प्रकार सम्भव ही नही है। इनमे से पहले पक्ष को तो शंका ही नही करनी चाहिए क्यो कि काव्यस्वरूप के निरूपण की सामर्थ्य से ही वह सिद्ध हो जाता है उसका अलग मे उपादान व्यर्थ है । कवि का व्यापार विभावादि का उपनिबन्धन ही होता है उससे भिन्न नही। और वे विभावादिक जब शास्त्र के अनुरूप उपनिबद्ध किए जाते है तभी रसाभिव्यक्ति के कारण बनते है अन्यथा नही। फिर काव्य तो रसात्मक होता है उसमे अनौचित्य का संस्पर्श कहाँ सम्भव है ? जिसके निराकरण के लिए पण्डितमन्य ने काव्य लक्षण प्रस्तुत किया है।

और यदि द्वितीय पक्ष को स्वीकार किया जाता है तो फिर यह इस प्रकारान्तर से ध्वनि के ही लक्षण का प्रतिपादन करता है क्यो कि दोनो मे वस्तु अभिन्न है । और इसीलिए कुन्तक ने इसके वे ही प्रभेद और वे ही उदाहरण प्रस्तुत किए है जो ध्वनि के आनन्दवर्धन मे । और उसे हम अयुक्त बता ही चुके है और आगे बतायेंगे भी। ××× वस्तुतः अर्थप्रकाशन मे हमे शब्द का एक ही व्यापार केवल अभिधा अभीष्ट है। और अन्य जो सारा व्यापार है वह अर्थ का ही है। इसलिए यदि वह दूसरा

1- 'वक्रता' — 'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥'

इत्यादि शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकि यद् वैचित्र्यं तन्मात्रलक्षणं वक्रत्वं नाम काव्यस्य जीवितमिति सहृदयमानिनः कैश्चिदाख्यातं तदप्यसमीचीनम्। यतः प्रसिद्धोपनिबन्धव्यतिरेकित्वमिदं शब्दार्थयोरौचित्यमात्रपर्यवसायि स्यात्, प्रसिद्धाभिधेयार्थव्यति-

[illegible]०३३० ।

(प्रतीयमान)अर्थ वाच्यार्थ से भिन्न है तो वह वाच्य इस अर्थान्तर का लिंग बन जायगा। और इस प्रकार वक्रोक्ति का भी ध्वनि की तरह हम अनुमान कर लेंगे । अतः वक्रोक्ति को मानना भी बेकार है । महिमभट्ट के इसी कथन को आधार बना कर डा०कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने यह प्रतिपादित किया है कि ' अभिनवके अनन्तर कुन्तक ने ध्वनि की समस्या का हल वस्तुगत दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया जिसका कि बड़ी ही योग्यता के साथ आनन्दवर्धन एवं उनके टीकाकारों ने आत्मगत दृष्टिकोण से विवेचन कर रखा था। महिमभट्ट ठीक ही इस बात का निर्देश करते हैं कि कुन्तक की वक्रोक्ति का लक्षण ध्वनि के लक्षण से अधिक कुछ नहीं। यह बात एक सहायक तथ्य से और भी प्रत्यक्ष हो जाती है कि कुन्तक वक्रोक्ति के ठीक वे ही भेदोपभेद प्रस्तुत करते हैं जोकि आनन्द ध्वनि के किए हैं साथ ही वे आनन्दवर्धन के उदाहरणों को वक्रोक्ति के विभिन्न प्रकारों के उदाहरण रूप में भी प्रस्तुत करते हैं।'

(शेष) रेकि प्रतीयमानाभिव्यक्तिपरो वा स्यात्। प्रसिद्धप्रस्थानातिरेकिणः शब्दार्थोपनिबन्धन-वैचित्र्यस्य प्रकारान्तरासम्भवात्। तत्राद्यस्तावत्पक्षो न शंकनीय एव, तस्य काव्य-स्वरूपनिरूपणसामर्थ्यसिद्धस्य पृथगुपादानवैयर्थ्यात्। विभावाद्युपनिबन्ध एवहि कवि-व्यापारो नापरः। ते च यथा शास्त्रमुपनिबध्यमाना रसादिव्यक्तेर्निबन्धनभावं भजन्ते नान्यथा। एतावन्मात्रं च काव्यमिति कुतस्तत्रानौचित्यसंस्पर्शः सम्भाव्यते, यन्निरासार्थमिदं काव्यलक्षणमाचक्षीरन् विचक्षणम्मन्याः। द्वितीयपक्षपरिग्रहे पुनर्ध्वनेरेवेदं लक्षणमनया भङ्ग्याऽभिहितं भवति अभिन्नत्वाद् वस्तुनः। अत एव त एव प्रभेदास्तान्येवोदाहरणानि तेन दर्शितानि। तच्चायुक्तमिति युक्तं, वक्ष्यते च। ×××

अत्रोच्यतेऽभिधासंज्ञः शब्दस्यार्थप्रकाशने।
व्यापार एक एवेष्टो यस्त्वन्योऽर्थस्य सोऽखिलः ॥ ततश्च
वाच्यादर्थान्तरं भिन्नं यदि तल्लिङ्गमस्य सः ।
तन्नान्तरीयकतया निबन्धो ह्यस्य लक्षणम् ।।
अतएव वक्रता न स्यादुक्तेर्मार्गान्तराश्रयात्।
तेन ध्वनिवदेषाऽपि वक्रोक्तिरनुमा न किम् ।। —व्यक्तिविवेक, पृ०126-127

(1) "After Abhinava Kuntaka attempted, from the objective point of view, the problem of Dhvani, which had been ably dealt with by Ānanda and his commentators from the subjective. In fact, Mahimabhatta points it out that Kuntaka's definition of Vakrokti is nothing more than that of Dhvani. It is made evident by an additional fact that he divides and subdivides the Vakrokti exactly as Ānanda does the Dhvani and cites the illustrations of Ānanda as examples of different types of Vakrokti." — Comparative Aesthetics, Vol. I, P. 123.

इसी आधार पर डा0 नगेन्द्र भी कहते है कि - 'वक्रोक्तिसम्प्रदाय का जन्म वास्तव मे प्रत्युत्तर रूप मे हुआ था।काव्यात्मवाद के विरुद्ध देहवादियो का यह अन्तिम विप्लव विद्रोह था । काव्य के जिन सौन्दर्य भेदो को आनन्दवर्धन ने ध्वनि के द्वारा आत्मपरक व्याख्या की थी उन सभी की कुन्तक ने अपनी अपूर्व मेधा के बल पर वक्रोक्ति के द्वारा वस्तुपरक विवेचना प्रस्तुत करने की चेष्टा की।इस प्रकार वक्रोक्ति प्रायः ध्वनि की वस्तुगत परिकल्पना सी प्रतीत होती है।'[1]

इस प्रकार महिम भट्ट तथा डा0 पाण्डेय ने तो केवल अपना सिद्धान्त अथवा अभिमत मात्र व्यक्त कर उसके समर्थन का कार्य अपने पाठको पर छोड़ कर स्वयं कृत-कृत्य हो गए है।डा0 नगेन्द्र ने अपने कथन रूप तथ्य की उद्धरणो द्वारा पुष्टि की है।अतः पहले उनके पुष्टीकरण पर विचार कर लेना आवश्यक है।इस लिए पहले उसी का विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जाता है । हाँ उसे प्रस्तुत करने के पहले यह निर्देश कर देना आवश्यक है कि कुन्तक की वक्रोक्ति ध्वनि की वस्तुगत परिकल्पना तभी हो सकती है या मानी जानी चाहिए ,जब कि वह ध्वनि के अतिरिक्त किसी अन्य स्वरूप का प्रतिपादन न करे लेकिन यदि उसके द्वारा प्रतिपाद्य विषय ध्वनि के क्षेत्र से बाहर भी सम्भव है तो उसे ध्वनि की वस्तुगत परिकल्पना कहना समीचीन नहीं। क्यो कि अभी यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि वक्रोक्ति का ध्वनि से कोई विरोध नहीं है उस सिद्धान्त मे व्यंजक शब्द,व्यंग्यार्थ और व्यंजना–तीनो की ही मान्यता है।अतः इनके स्वरूपो का वक्रोक्ति मे विद्यमान होना सुनिश्चित है।लेकिन उतने से ही वक्रोक्ति को ध्वनि रूप ही मान लेना समीचीन नहीं क्यो कि उसमे ध्वनि अथवा व्यंग्य के साथ ही साथ लक्ष्यार्थ एवं वाच्यार्थ का भी समावेश है। अतः वक्रोक्ति मे प्रतिपाद्य शब्दार्थों के वाच्य लक्ष्य और व्यंग्य–तीन रूप सम्भव है केवल व्यंग्य ही नहीं। डा0 नगेन्द्र जहाँ वक्रोक्ति और ध्वनि के स्वरूपगत साम्य का विश्लेषण करते है[2] वहाँ वे यही भूल करते है। उनके विवेचन का पहला दोष तो यह है कि वे ध्वनि काव्यविशेष और प्रतीयमान अर्थ मे अभेद स्थापित कर देते है। वाच्य से प्रतीयमान

1- भा0का0भू0,भाग2,पृ0375

2- डा0नगेन्द्र के इस विवेचन के लिए देखे भा0का0भू0,भाग 2,पृ0 375-76

भिन्न होता है इसे कुन्तक भी स्वीकार करते हैं।साथ ही वह असाधारण एवं केवल सहृदयहृदय संवेद्य होता है यह भी कुन्तक मानते हैं।[1] और जब वह असाधारण मान लिया गया तो उसकी कवि की लोकोत्तरप्रतिभाजन्यता भी सिद्ध हो जाती है। अब यहाँ अवधेय यह है कि यदि यही प्रतीयमान या व्यंग्य अर्थ ही ध्वनि है तो उसके लिए स्वयं आनन्द ने ही कहीं भी वाचक शब्द और वाच्य अर्थ की अपेक्षा अनिवार्य रूप से प्रधानता का निरूपण नहीं किया।वह प्रतीयमान अर्थ वाच्य की अपेक्षा गौण भी हो सकता है जैसा कि आनन्दवर्धन स्वयं ही कहते हैं कि -'चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यंग्ययोः प्राधान्यविवक्षा।'[2] इस कथन से अत्यन्त स्पष्ट है कि व्यंग्यार्थ सदैव प्रधान ही नहीं होता। उसकी अपेक्षा वाच्यार्थ भी चारुत्वोत्कर्ष का प्रधानहेतु हो सकता है।और यदि उस काव्यविशेष को ध्वनि स्वीकार किया जाता है जहाँ कि प्रतीयमान अर्थ ही प्रधान होता है तथा शब्द अपने वाच्यार्थ और अर्थ स्वयं अपने स्वरूप को गौण बना कर उसी प्रतीयमान अर्थ की प्राधान्येन प्रतीति कराते हैं तो फिर काव्यविशेष और वक्रोक्ति अलंकार में स्वरूपगत साम्य देखना ही समीचीन नहीं है।क्यों कि दोनों के स्वरूपों में स्पष्ट ही महान् अन्तर है।यदि डा० साहब यह कहना चाहें कि इस बात को तो हमने स्वयं स्वीकार किया है कि- 'यह सब(साम्य)होते हुए भी दोनों में मूल दृष्टि का भेद है - ध्वनि का वैचित्र्य अर्थरूप होने से आत्मपरक है,उधर वक्रोक्ति का वैचित्र्य अभिधारूप अर्थात् उक्तिरूप होने के कारण मूलतः वस्तुपरक है-इसीलिए हमारी स्थापना है कि वक्रोक्ति प्रायः ध्वनि की वस्तुपरक परिकल्पना ही है।'[3] तो हमके ऐसा कह देने से ही वक्रोक्ति का ध्वनि की वस्तुपरक परिकल्पना होना सिद्ध नहीं हो जाता है।क्यों कि ध्वनि में वाच्य के चारुत्वोत्कर्ष की कोई व्यवस्था नहीं,जब कि वक्रोक्ति में उसका समुचित स्थान है।अतः किसी भी दृष्टिकोण से वक्रोक्ति का स्वरूप ध्वनि के स्वरूप से व्यापक है।ध्वनि उसका एक अंश

1- द्रष्टव्य,व जी पृ० 56,64 तथा 207-208 जैसे इसी अध्याय में पहले इसका सविस्तार प्रतिपादन किया जा चुका है।

2- ध्वन्या० पृ०114

3- भा०का०भू०,भाग2,पृ० 376

होने के कारण उसी में अन्तर्भूत हो जाती है। अतः डा0साहब ने जो ध्वनि तथा वक्रोक्ति के स्वरूपगत साम्य का प्रतिपादन किया है उसका निराकरण हो जाता है।अब डा0साहब द्वारा प्रस्तुत किए गए ध्वनि एवं वक्रोक्ति के 'भेदप्रस्तारगत-साम्य'का विवेचन करना है। डा0साहब का कथन है कि-'स्वरूप की अपेक्षा ध्वनि तथावक्रोक्ति के भेदप्रस्तार में और भी अधिक साम्य है। जिस प्रकार आनन्दवर्धन ने ध्वनि में काव्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयव से लेकर व्यापक से व्यापक रूप का भी अन्तर्भाव कर उसको सर्वांग पूर्ण बनाने की चेष्टा की थी, वैसे ही कुन्तक ने बहुत कुछ उनकी पद्धति का ही अवलम्बन कर वक्रोक्ति में काव्य के सभी अवयवों का समावेश कर उसे भी सर्वव्यापक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है।इस प्रकार वक्रोक्ति और ध्वनि में स्पष्ट सहव्याप्ति है : ध्वनि का चमत्कार जैसे सुप्, तिड्0, वचन, कारक, कृत्, तद्धित, समास, उपसर्ग, निपात, काल, लिंग, रचना, अलंकार वस्तु तथा प्रबन्ध आदि में है वैसे ही वक्रोक्ति का विस्तार भी पदपूर्वार्द्ध और पदपरार्द्ध से लेकर प्रकरण तथा प्रबन्ध तक है।'[1] डा0 साहब के इस कथन को सर्वथा असमीचीन नहीं कहा जा सकता। किन्तु इसके आगे डा0साहब कहते हैं कि- 'वास्तव में ध्वनि के आत्मपरक सौन्दर्यभेदों को कुन्तक ने वस्तुपरक व्याख्या करने का ही प्रयत्न किया है।इस लिए उनके विवेचन की रूपरेखा अथवा योजना बहुत कुछ वही है जो ध्वनिकार ने अपनी स्थापनाओं के लिए बनाई थी।'[2] डा0 साहब की यह स्थापना सर्वथा समीचीन नहीं कही जा सकती क्यों कि कुन्तक की वक्रताओं में आनन्द का एकमात्र ध्वनियों का ही स्वरूप नहीं प्रतिपादित किया गया है।आनन्दवर्धन की ध्वनियाँ वहीं सम्भव हैं जहाँ पर कि वस्तु, अलंकार और रस व्यंग्य होने के साथसाथ चारुत्वोत्कर्ष के प्रधान हेतु हों और वाच्य अपने को गौण बनाकर उन्हें प्रधानतया व्यक्त करने में सहायक हो।लेकिन कुन्तक की वक्रता उक्त स्थलों पर तो होगी ही साथ ही जहाँ वस्तु, अलंकार और रस व्यंग्य होते हुए वाच्य की अपेक्षा गौण भी होंगे और वाच्य ही चारुत्वोत्कर्ष का प्रधान कारण होगा वहाँ भी विद्यमान रहेगी।इतना ही नहीं जहाँ पर वस्तु अथवा अलंकार केवल वाच्यरूप में ही चारुत्वोत्कर्ष के हेतु बन कर तद्विदाह्लाद को प्रस्तुत करने में समर्थ होंगे वहाँ भी कुन्तक की वक्रोक्ति अथवा वक्रता विद्यमान रहेगी।अस्तु,अब डा0साहब के अपने मन्तव्य के पृष्टपोषण में दिए गए तर्कों का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

1- भा0का0भू0, भाग,2 पृ0 376-77

2- वही, पृ0 377

(क) वर्णविन्यास वक्रता और वर्णध्वनि

आचार्य आनन्दवर्धन ने वर्णध्वनि या वर्णों की व्यंजना का स्वरूप[1] निरूपण केवल प्रधान व्यंग्य रसादि के दृष्टिकोण से किया है। अतः उनकी वर्णध्वनि वहीं सम्भव है जहाँ उनके द्वारा रसादि प्रधान रूप से व्यक्त होते है। लेकिन कुन्तक की वर्णविन्यासवक्रता उक्त स्थल के अतिरिक्त उन स्थलों पर भी संभव होती है जहाँ कि वर्णों का विशिष्ट विन्यास प्रधानरूप से व्यंग्यवस्तु या व्यंग्य अलंकार अथवा वाच्य रूप से वर्णित वस्तु स्वभाव या अलंकार के चारुत्वोत्कर्ष को प्रस्तुत करने में बाधक न होकर उनके स्वरूप को आच्छादित न करते हुए चारुत्वातिशय को प्रस्तुत करता है। यह है आनन्द की वर्णध्वनि और कुन्तक की वर्णवक्रता का वास्तविक स्वरूप भेद। केवल वर्णध्वनि या वर्णवक्रता नाम से ही दोनों को एक रूप कह देना जैसा कि डा० नगेन्द्र आदि कहते है[2] भ्रान्ति के सिवा और कुछ नहीं है।

(ख) पदपूर्वार्द्धवक्रता और ध्वनि साम्य

(1) पदपूर्वार्द्धवक्रता और ध्वनि साम्य का निरूपण[3] करते हुए डा० पाण्डेय ने कहा कि -'पर्यायवक्रता पर्यायध्वनि' का रूपान्तर मात्र है। इसमें 'पर्यायध्वनि' शब्द क्या उन्हों ने स्वयं कुन्तक की पर्यायवक्रता को ध्वनि रूप सिद्ध करने के लिए नहीं गढ़ लिया? फिर पारिभाषिक शब्दावली में जिसे उन्होंने 'शब्दशक्तिमूलानुरणनरूप व्यंग्य पदध्वनि कहा है'[3] जिसको कि स्वयं कुन्तक ने स्वीकार किया था वह क्या पाँचों प्रकार की पर्यायवक्रता का प्रतिनिधित्व कर सकती है ? वह तो केवल कुन्तक की पर्यायवक्रता के तृतीय प्रकार मात्र को प्रस्तुत करती है। अतः पर्यायवक्रता तद्रूप कैसे हो सकती है?

1- 'यत्र सलक्ष्यक्रमव्यंग्यो ध्वनिर्वर्णपदादिषु ।
वाक्ये संघटनायाँच स प्रबन्धेपि दीप्यते।।ध्वन्या०3/2

2- वही, पृ० 377

3- भा०का०शा०,भाग, 2 पृ० 378

(2) डा०साहब ने उपचारवक्रता को लक्षणामूला ध्वनि के द्वितीय भेद अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य ध्वनि की समानार्थी बताया है[1]। निश्चित ही उपचारवक्रता के प्रथम भेद के विषय में डा०साहब का यह कथन समीचीन है। लेकिन उपचारवक्रता का द्वितीय प्रकार जिसमें उपचारवक्रता रूपकादि अलंकारों का मूल प्रतिपादित की गई है क्या डा०साहब किसी भी तरह उसका भी अन्तर्भाव उक्त ध्वनि या किसी भी ध्वनि में कर सकते हैं ? कदापि नहीं, क्यों कि वह प्रकार प्रतीयमान के ही चमत्कार को न प्रस्तुत कर वाच्यार्थ के चमत्कार को भी प्रस्तुत करता है। आचार्य कुन्तक रूपक एवं अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकारों का भेद बताते हुए इस बात को बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि- 'तथा चैतयोर्द्वयोरप्यलंकारयोस्तुल्येऽप्युपचारवक्रताजीवितत्वे वाच्यत्वमेकत्र प्रतीयमानत्वमपरस्मिन् स्वरूपभेदस्य निबन्धनम्।'[2] सम्भवतः डा०साहब ने इस ओर ध्यान नहीं दिया यह ठीक भी है क्यों कि उसमें उनके लक्ष्य की सिद्धि होती नहीं।

(3) यद्यपि डा० नगेन्द्र यह स्वीकार करते हैं कि आनन्द ने लिंग ध्वनि का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया फिर भी वे कहते हैं कि 'सुप्तिङ्वचन-सम्बन्धैः' आदि कारिका में तथा उनकी वृत्ति में रसादि की व्यंजकता के आधार पर ध्वनियों के भेद उपलक्षण मात्र हैं। और आगे कहते हैं- कि 'आनन्दवर्धन ने लिंग प्रत्यय आदि सभी में ध्वनि के चमत्कार की व्यंजक क्षमता मानी है। इस प्रकार लिंग-वैचित्र्य-वक्रता लिंगध्वनि की पर्यायसिद्ध होती है[3]। पर डा० साहब के इस कथन से किसी न किसी तरह कुन्तक की वक्रताओं को ध्वनि रूप सिद्ध करने का दुराग्रह ही अभिव्यक्त होता है। सहृदयशिरोमणि आनन्दवर्धन जैसे आचार्य के लिए यह कहने का दुस्साहस तो कोई कर ही नहीं सकता कि लिंग की रसादिव्यंजकता उनकी दृष्टि में नहीं आ पाई होगी। सम्भव है कि विवेचन करते समय उस ओर उनका ध्यान न गया हो। लेकिन उनके बाद भी मम्मट आदि किसी भी आचार्य ने लिंगध्वनि का निरूपण नहीं किया अतः यह मात्र

1- द्रष्टव्य, वही पृ० 378

2- व.जी.पृ० 103

3- भा०का०शा० भाग, 2, पृ० 379

डा०साहब ने दुराग्रहवश ही स्वयं गढ़ लिया है।डाॅ आचार्य अभिनव गुप्त निश्चित ही कुन्तक के लिंगवैचित्र्यवक्रताविवेचन से प्रभावित हुए थे। अतः उन्हों ने कुन्तक द्वारा निरूपित लिंगवक्रता ओं के द्वितीय प्रभेद का ,जिसे कि स्वयं कुन्तक ने रसादि की योजना के योग्य बताया था,लगभग कुन्तक ही की शब्दावली में स्त्रीलिंग को सुकुमार रस का व्यंजक बताकर ,लिंगध्वनि के रूप में निरूपण किया है यद्यपि उन्हों ने सुस्पष्ट शब्दों में लिंगध्वनि या लिंगव्यंजकता का उल्लेख नहीं किया।अभिनव का कथन है —

'प्रबन्धनादिशब्दानां तदानीं शृंगारादिव्यंजकत्वाभावेऽपि व्यंजकत्वमस्तीति भूयसा दर्शनात् तदधिवासमुन्दरीभूतमर्थं प्रतिपादयितुं सामर्थ्यमस्ति।तथाहि- 'तटीतारं ताम्यति' इत्यत्र तट शब्दस्य पुंस्त्वनपुंसकत्वे अनादृत्य स्त्रीत्वमेवाश्रितं सहृदयैः 'स्त्रीति नामापि मधुरम्' इति कृत्वा।'[1]

लेकिन कुन्तक द्वारा निरूपित लिंगवक्रता के अन्य दो भेदों का इस लिंगध्वनि को स्वीकार कर लेने पर भी उसमें कथमपि अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

(4) इसी तरह डा०साहब कुन्तक को पदपूर्वार्द्धगत विशेषण वक्रता तथा क्रिया-वैचित्र्यवक्रताओं को हठात् ध्वनि रूप सिद्ध करने के लिए अपप्रयास करते है । कारिका में प्रयुक्त 'च' शब्द के आधार पर वृत्तिकार ने निपात,उपसर्ग और कालादि की रसादि व्यंजकता का निरूपण किया।[2] अभिनव ने वृत्तिविवेचन के आधार पर लिंग को रसादिव्यंजकता का और भी निरूपण कर दिया।उसके बाद भी डा० साहब उसी 'च'के बल पर 'विशेषणध्वनि'की कल्पना को भी जबरन स्वीकार कर उसी में कुन्तक की विशेषणवक्रता का अन्तर्भाव कर देना[3] चाहते है।लेकिन ऐसा करते समय डा०साहब यह भूल जाते है कि विशेषण वैचित्र्य से केवल रस का ही परिपोष नहीं होता बल्कि व्यंग्य अथवा वाच्यवस्तु स्वभाव एवं अलंकारो में भी विशेषण की महिमा से लोकोत्तर सौन्दर्य आ जाता है,जब कि इसका अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कुन्तक ने उल्लेख भी किया है —

1- लोचन,पृ०359- कुन्तक का कालविवेचन करते हुए तृतीय अध्याय में इन दोनों के साम्य पर प्रकाश डाला जा चुका है।

2- 'च शब्दान्निपातोपसर्गकालादिभिः प्रयुक्तैरभिव्यज्यमानो दृश्यते।'-ध्वन्या०पृ०348

3- द्रष्टव्य, भा०का०शा०, भाग 2, पृ० 379

'स्वमहिम्ना विधीयन्ते येन लोकोत्तरश्रियः ।
रसस्वभावालंकारास्तद् विधेयं विशेषणम् ॥'[1]

इतना ही नहीं इससे भी बड़ी भूल डा० साहब तब कर जाते हैं जब वे विशेषणवक्रता को पर्यायवक्रता का ही एक रूप मानकर उसका अन्तर्भाव पर्यायध्वनि में कर देते हैं[2]। जब स्वयं पर्यायवक्रता का ही अन्तर्भाव पर्यायध्वनि में, जिसे कि डा० साहब ने पारिभाषिक शब्दावली में शब्दशक्तिमूलानुरणनरूप व्यंग्य पदध्वनि कहा है, नहीं हो पाता तो विशेषणवक्रता के उसमें अन्तर्भाव की बात तो बहुत दूर है।

(5) क्रियावैचित्र्यवक्रता का ध्वनि में यथाकिंचित् अन्तर्भाव करते हुए डा० साहब ने कुन्तक द्वारा निरूपित उसके अन्तिम तीन प्रकारों का ही उल्लेख किया है, उपचार मनोज्ञता का उपचारवक्रता में, कर्मादि संवृति का संवृति वक्रता में और क्रियाविशेषणवक्रता का विशेषण वक्रता में अन्तर्भाव कर उन्हें क्रमशः अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि, अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि और पर्यायध्वनि में अन्तर्भाव किया है।[3] परन्तु क्रियावैचित्र्यवक्रता के प्रथम दो स्वतंत्र (1) कर्ता की अत्यन्त अन्तरंगता और (2) कर्त्रन्तरविचित्रता रूप प्रकारों का कोई नामोल्लेख भी नहीं किया। उनसे निश्चित ही वस्तु स्वभाव की सहृदयता परिपुष्ट होती है।

(ग) <u>पदपरार्धवक्रता और ध्वनि</u>

(1) पदपरार्धवक्रता के प्रभेदों का ध्वनि में अन्तर्भाव करते समय डा०साहब रसादि के व्यंजकों का निरूपण करने वाली कारिका एवं वृत्ति में संगृहीत व्यंजकों के साथ कुन्तक की वक्रताओं के केवल नाम साम्य को ही ध्यान में रख कर प्रत्यय, काल, कारक, वचन, उपसर्ग तथा निपात की वक्रताओं का एक साथ तत्तत् ध्वनियों में अन्तर्भाव कर देते हैं।[4] किन्तु सभी के विषय में यह कथन समीचीन नहीं। निपात उपसर्ग एवं काल की वक्रताओं का तो उनमें अन्तर्भाव हो जाता है परन्तु अन्यवक्रताओं का अन्तर्भाव उचित नहीं। क्योंकि उनकी चारुता केवल रसादि को ही प्रधानतया द्योतित करने में नहीं है बल्कि वस्तुस्वभाव आदि की सहृदयता को परिपुष्ट करने में भी है।

1- व.जी., पृ० 105
2- [illegible], [illegible] भाग 2, पृ० 379
3- [illegible], वही, पृ० 379
4- [illegible], वही, पृ० 379

(2) इसके अतिरिक्त पदपरार्द्धवक्रता के अन्तर्गत कुन्तक ने दो अन्य प्रकारों, उपग्रहवक्रता तथा प्रत्ययवक्रता का निरूपण किया है। न तो ध्वनिकार ने इनका कारिका में उल्लेख किया और न आनन्दवर्धन ने 'च' शब्द के बल पर इनका वृत्ति में ही स्पष्ट उल्लेख किया। अतः उसे पूरा करना पड़ा उनके प्रतिनिधि डा०नगेन्द्र को[1]। पता नहीं 'च' की उदरदरी कितनी विशाल है कि सभी वक्रता प्रकार उसमें गर्भित सिद्ध हो जाते हैं। खैर, यदि ऐसा स्वीकार भी कर लिया जाय तो उपग्रहवक्रता का तो कथमपि उसमें अन्तर्भाव हो भी सकता है लेकिन प्रत्ययवक्रता का तो अन्तर्भाव नहीं हो संभव है। क्यों कि उसमें केवल रसादि की ही प्रधानरूप में व्यंजना नहीं होती।

(ख) वस्तुवक्रता और वस्तुध्वनि

वस्तुवक्रता और वस्तुध्वनि की विभिन्नता तो स्वयं डा०साहब ने ही स्वीकार कर ली है। स्वीकार क्यों न करते, कुन्तक ने जो यहां स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन कर दिया था कि वस्तुस्वभाव का वर्णन व्यंग्यरूप में ही नहीं वाच्यरूप में भी हो सकता है[2] इससे ऊपर प्रतिपादित इस सिद्धान्त की ही परिपुष्टि होती है कि वक्रता ध्वनिरूप अथवा ध्वनि की ही वस्तुगत परिकल्पना न होकर उससे अधिक व्यापक है। ध्वनिवक्रता का एक अंगमात्र है। प्रतिरूप नहीं। ही डा०साहब ने कुन्तक के मत की अपेक्षा आनन्दवर्धन के मत की ही वस्तुतः मान्यता का निरूपण करते हुए कहा है कि- 'कहने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ वस्तुतः आनन्द का ही मत मान्य है क्यों कि मूल रूप में अनुभवगम्य होने से सौन्दर्य वाच्य न हो कर व्यंग्य ही हो सकता है[3]।' परन्तु डा० साहब ऐसा कहते हुए यह भूल जाते हैं कि स्वयं आनन्दवर्धन ने ही व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य को ही कहीं कहीं चारुत्वोत्कर्ष का प्रधान हेतु स्वीकार किया है। उनका स्पष्ट कथन है कि -'चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यंग्ययोः प्राधान्यविवक्षा[4]।'

1- द्रष्टव्य, भा०का०भू०, भाग 2, पृ० 379

2- द्रष्टव्य, वही पृ० 380

3- वही, पृ० 380

4- ध्वन्या०वृ० 1।4

(ङ०) वाक्यवक्रता और अलंकारध्वनि-

वाक्यवक्रता और अलंकार ध्वनि के साम्य का विवेचन करते हुए स्वयं डा०साहब ने ही यह स्वीकार कर लिया है कि सम्पूर्ण वाक्यवक्रता अलंकारध्वनि के ही समरूप नहीं है। हाँ, उसके प्रतीयमान अलंकार भेदों में अलंकारध्वनि का अन्तर्भाव है।[1] उनके इस कथन से इसी तथ्य की पुष्टि होती है कि वक्रोक्ति ध्वनि की अपेक्षा व्यापक है। ध्वनिरूप ही नहीं है, ध्वनि उसका एक अंगमात्र है।

(च) प्रबन्धवक्रता और प्रबन्धध्वनि

जैसा कि ऊपर प्रतिपादित किया जा चुका है आचार्य महिमभट्ट, डा०पाण्डेय, तथा डा० नगेन्द्र आदि विद्वानों ने जो वक्रोक्ति और ध्वनि को एक रूप मान लिया है वह केवल नाम साम्य के कारण ही। वस्तुतः इन विद्वानों ने दोनों के वास्तविक स्वरूप की ओर दृष्टिपात नहीं किया। इसीलिए जब डा०नगेन्द्र वक्रता और ध्वनि की समरूपता की सिद्धि करते हैं तो कुन्तक की प्रकरणवक्रता को बिल्कुल भुला देते हैं क्यों कि ध्वनि-वादियों ने स्वतः किसी प्रकरण ध्वनि का निरूपण किया ही नहीं, जब कि प्रकरण वक्रता कुन्तक के प्रधान छः वक्रताभेदों में से एक है। लेकिन यदि डा०साहब ने उसका उल्लेख नहीं किया तो उसका यह मतलब नहीं है कि प्रकरण वक्रता में ध्वनि की सम्भावना ही नहीं है। वस्तुतः ध्वनिवादियों की प्रबन्धध्वनि में ही प्रकरणध्वनि भी अन्तर्भूत है। आनन्दवर्धन ने प्रबन्ध के द्वारा व्यंग्य दो ध्वनियों को स्वीकार किया है- एक रसादि को जिसका कि अत्यन्त विस्तार के साथ उन्होंने विवेचन किया है और दूसरे शब्द तथा अर्थशक्तिमूला-नुरणनरूप व्यंग्यध्वनि को। परन्तु आगे चल कर मम्मट तथा विश्वनाथ आदि ने रसादि के साथ केवल अर्थशक्तिमूलानुरणनरूप व्यंग्यध्वनि की ही प्रबन्धव्यंग्यता को स्वीकार किया। आचार्य कुन्तक ने सम्पूर्ण नाट्य या काव्यग्रन्थ को प्रबन्ध और उसके अंगभूत अनेक वाक्यों के समुदाय को प्रकरण कहा है। इन आनन्दवर्धन आदि आचार्यों ने ऐसा कोई स्पष्ट भेद प्रतिपादित नहीं किया, फलतः विद्वानों को यह संशय उत्पन्न हो जाता है कि प्रबन्ध से उनका आशय क्या है? जैसे अर्थशक्त्युद्भवप्रबन्ध-ध्वनि के उदाहरण रूप में आनन्दवर्धन मम्मट तथा विश्वनाथ आदि ने जो 'महाभारत' से 'गृध्रगोमायुसंवाद' आदि प्रकरण को उद्धृत किया है वह कुन्तक की शब्दावली में प्रबन्धध्वनि न होकर प्रकरणध्वनि ही होगी। क्यों कि वह संवाद सम्पूर्ण प्रबन्ध महाभारत का एक प्रकरण ही है। ध्वनिवादियों ने इन दोनों ही भेदों को एक में ही संकीर्ण कर भ्रम उत्पन्न कर दिया है। आचार्य मम्मट

1- काव्यानु०, भाग 2, पृ० 340.

जब —'प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः'कहते है तो प्रबन्ध से उनका आशय क्या है ? कुछ स्पष्ट नहीं करते जब कि रसादि की व्यंजकता का विवेचन करते हुए वे साफ कहते है कि प्रबन्ध का अर्थ नाटकादि है—'अपि शब्दात् प्रबन्धेषु नाटकादिषु।'परन्तु यह अर्थ इनके अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनि के उदाहरण से घटित होता।इसी तरह विश्वनाथ- 'प्रबन्धेऽपि मतोधीरैरर्थशक्त्युद्भवो ध्वनिः'की व्याख्या करते हुए कहते है कि प्रबन्ध का अर्थ महावाक्य है—'प्रबन्धे महावाक्ये ।' और उनके अनुसार अनेक वाक्यों का समूह महावाक्य होता है—'वाक्योच्चयो महावाक्यम्।'अतः स्पष्ट ही उनके व्याख्यान से प्रकरण या प्रबन्ध किसी का भी स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। दो तीन वाक्य भी प्रबन्ध कहे जा सकते है और पूरा ग्रन्थ भी। जब कि स्वयं विश्वनाथ रसादिध्वनि की प्रबन्धव्यंजकता का उदाहरण देते हुए 'महाभारत', 'रामायण' 'मालतीमाधव'तथा'रत्नावली'आदि सम्पूर्ण ग्रन्थो को उद्धृत करते है। स्वयं आचार्य अभिनवगुप्त 'ध्वन्यालोक'की कारिका(3/2)मे आये 'प्रबन्ध'शब्द की व्याख्या करते है—'संघटितवाक्यसमुदायः प्रबन्धः।किन्तु जहाँ पर ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन ने शब्दशक्तिमूल तथा अर्थशक्तिमूलध्वनि की प्रबन्धव्यंजकता का निरूपण किया है वहाँ वे कारिका तथा वृत्ति की दूसरे ढंग से योजना करके स्वतंत्र रूप मे उन दोनो ध्वनियो की प्रबन्धरूपता का निषेध करते है और उन्हे रसादिध्वनि के व्यंजक रूप मे प्रतिपादित करते है अतः उनके व्याख्यान से स्पष्ट ही यही प्रतीत होता है कि प्रबन्धव्यंजकता केवल रसादिध्वनि की ही हो सकती है,अन्य की नहीं।इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इन आचार्यों के कथन स्वयं प्रबन्ध-ध्वनि का निरूपण करते हुए भ्रमात्मक है केवल काव्यप्रदीपकार ने प्रबन्ध के द्विविध-स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है । मम्मट के -'प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः' की व्याख्या करते हुए उन्होने बताया है कि 'अनेको संघटितवाक्यो का समुदाय प्रबन्ध होता है, और ग्रन्थ रूप तथा अवान्तर प्रकरण रूप होता है।अतः ध्वनिवादियो के उदाहरणो एवं प्रबन्धलक्षणो को देखते हुए कोई भी यह निश्चित रूप से कह सकता है कि इनकी अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनि केवल प्रकरण रूप प्रबन्ध मे तथा रसादिध्वनि प्रकरण के साथ साथ

1- [illegible] (2) [illegible] (3) [illegible] (4) [illegible] (5) [illegible]
1- प्रबन्धश्च संघटित [illegible] समुदायः [illegible] [illegible]

काव्यप्रदीप, पृ०।68

सम्पूर्ण ग्रन्थ रूप में प्रबन्ध में विद्यमान रहती है, यही ध्वनिवादियों का अभीष्ट है। परन्तु ऐसा भी स्वीकार कर लेना पूर्णतया युक्ति युक्त नहीं। क्यों कि प्रबन्धों से 'रामा-दिवत् प्रवर्तितव्यम्, न रावणादिवत्' ऐसी जिन विधिनिषेधरूप वस्तुओं की प्रतीति कराई जाती है वह निश्चित ही व्यंग्य होती है और अर्थशक्तिमूल होती है। अतः उसे संपूर्ण प्रबन्ध की 'वस्तुध्वनि' भी स्वीकार किया जाना चाहिए। परन्तु ऐसा स्वीकार करने पर एक सन्देह अनायास उत्पन्न हो जाता है कि प्रधान वहाँ 'वस्तुध्वनि' को माना जायगा या 'रसध्वनि' को अथवा दोनों को? ध्वनिवादियों ने इसका कोई स्पष्ट निरूपण नहीं किया। यहाँ तक कि प्रबन्ध की उक्त वस्तुध्वनि के सुस्पष्ट विवेचन तक का कोई कष्ट किसी भी ध्वनिवादी ने नहीं उठाया। केवल प्रबन्ध की 'रसध्वनि' के निरूपण में ही सब व्यग्र रहे। क्या इससे कवि के एक महान् प्रबन्धविषयक कौशल के चिन्तन की ओर ध्वनिवादियों की उपेक्षा भाव की सिद्धि नहीं होती। लेकिन कविकौशल का सूक्ष्माति-सूक्ष्म निरीक्षण करने वाले आचार्य कुन्तक की दृष्टि सर्वप्रथम कवि के इसी प्रबन्धकौशल की ओर जाती है और इसीलिए वे प्रथम उन्मेष में ही जब कि वे केवल उद्देश्य मात्र से वक्रताभेदों का निरूपण करते हैं, प्रबन्धवक्रता का स्वरूपनिरूपण इसी दृष्टि से करते हुए कहते हैं कि-

> 'प्रबन्धे वक्रभावो यथा- कुवलयाश्वविरचिते रामकथोपनिबन्धे नाटकादौ पंचविधवक्रतासामग्रीसमुदायसुन्दरं सहृदयहृदयहारि महापुरुषवर्णनमुपक्रमे प्रतिभासते परमार्थस्तु विधिनिषेधात्मक धर्मोपदेशः पर्यवस्यति, रामवद्वर्तितव्यं न रावणवदिति।'

वस्तुतः यही तो काव्य का परमार्थ परमप्रयोजन है। सरसता के कारण शास्त्रादि की अपेक्षा इसके माहात्म्य की ही तो सिद्धि होती है। अस्तु, जिस प्रकार ध्वनि की अपेक्षा वक्रता के अन्य प्रकारों की व्यापकता दिखाई गई थी उसी प्रकार कुन्तक की प्रकरण और प्रबन्धवक्रताएँ भी आनन्द आदि की प्रबन्धध्वनियों से व्यापक हैं। हाँ कुन्तक की वक्रताओं में इनका अन्तर्भाव अवश्य है विशेषतया उन प्रकारों में जिनका कि प्रधानतया रस से सम्बन्ध है उदाहरणार्थ (1) आनन्दवर्धन ने प्रबन्ध की रसव्यंजकता के लिए जो रसादि की दृष्टि से मूलकथा में परिवर्तन का निर्देश किया है उसका निरूपण कुन्तक के द्वितीय प्रकरणवक्रताप्रकार में है। यहाँ तक कि दोनों ही आचार्यों के कथनों में अत्यन्त साम्य है। आनन्द का कथन है –

> 'न हि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वहणेन किञ्चित् प्रयोजनम्, इतिहासादेव तत्सिद्धेः.

और कुन्तक का कथन है—

निरन्तररसोद्‌गारगर्भसन्दर्भनिर्भराः ।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिता।।

(2) आनन्द ने जो केवल शास्त्रस्थिति के सम्पादन की ही इच्छा से नहीं बल्कि रसाभिव्यक्ति की अपेक्षा से सन्धि-सन्ध्यंगादि की रचना का विधान किया है उसका निरूपण कुन्तक ने प्रकरणवक्रता के नवम प्रकार के अन्तर्गत किया है। और उसके अनुचित नैपुण्य निरूपण के उदाहरणरूप में दोनों ही आचार्यों ने वेणीसंहार के प्रतिमुखसन्ध्यंग युक्त द्वितीय अंक को प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त कुन्तक के प्रकरण एवं प्रबन्ध-वक्रता-प्रकारों को निश्चित ही ध्वनिसिद्धान्त में उचित स्थान नहीं दिया गया। और यह बात वक्रता की व्यापकता को ही सिद्ध करती है । न कि उसकी ध्वनिरूपता को। इस प्रकार उक्त समस्त विवेचन से यह स्पष्ट हो सिद्ध हो जाता है कि वक्रता और ध्वनि एक ही रूप नहीं है । अतः महिमभट्ट, डा० पाण्डेय और डा० नगेन्द्र की स्थापनाएँ, कि दोनों एक रूप हैं, निर्मूल सिद्ध होती हैं।

कुन्तक के वक्रोक्तिसिद्धान्त की व्यापकता

अब इस प्रश्न का उत्तर स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि जब कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धान्त ध्वनिविरोधी नहीं है तो उन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना के अनन्तर वक्रोक्ति सिद्धान्त की स्थापना का प्रयास क्यों किया ? वस्तुतः काव्य से घनिष्ठ सम्बन्ध दो व्यक्तियों का होता है — उनमें एक है सहृदय और दूसरा है कवि । काव्य का कर्ता है कवि और उसकी काव्यता का परीक्षक अथवा निर्णायक है सहृदय । आनन्दवर्धन ने ध्वनि का विवेचन करते समय प्राधान्य सहृदय को दिया और उस सहृदय की दृष्टि से काव्य का विवेचन करते हुए वे कवि के साथ निश्चित ही समुचित न्याय नहीं कर सके और यही कारण था कि उनके घोर विरोध में मनोरथ का कवि हृदय चिल्ला उठा —

'यस्मिन्नस्ति न वस्तु किंचन मनः - प्रह्लादि सालंकृति' इत्यादि । लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि मनोरथ ने जो कहा था ठीक कहा । मनोरथ का कथन तो वस्तुतः रोष एवं प्रतिशोध की भावना से कहा गया है अतः उसे निश्चय ही उचित विवेकपूर्ण नहीं कहा जा सकता। ध्वनिकार ने कहा कि 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' और ध्वनि का लक्षण उन्होंने दिया कि "जहाँ पर शब्द अपने वाच्यार्थ को तथा अर्थ अपने स्वरूप को गौण बना कर [illegible] की प्रकाशकता [illegible] करते हैं वहाँ ध्वनि होती है और इसीलिए उससे युक्त काव्यविशेष को 'ध्वनिकाव्य' कहते हैं । यहाँ किसी को यह आपत्ति

हो सकती है कि यह अर्थ अभिनवगुप्त के अनुसार नहीं है, किन्तु वह आपत्ति समीचीन नहीं। क्यो कि अभिनव गुप्त का एक अलग सिद्धान्त है और वे आनन्दवर्धन तथा ध्वनि-कार की व्याख्या उसी अपने सिद्धान्त के दृष्टिकोण से करते है इसी लिए अनेको स्थलो पर ध्वनिकारिका एवं उसकी वृत्ति से उनका लोचन मेल नहीं खाता और अभिनव द्वारा की गई खींचातानी स्पष्ट ही परिलक्षित हो उठती है। शब्दार्थशक्तिमूलानुरणनरूपव्यंग्यध्वनि की प्रबन्धव्यंजकता का निरूपण करते हुए यह दिखाया जा चुका है। अभिनव के अनुसार 'रसादिध्वनि' ही काव्य की आत्मा है 'वस्तुध्वनि' अथवा 'अलंकारध्वनि' नहीं। लेकिन ध्वनिकार अथवा आनन्दवर्धन का यह अभिमत नहीं। यदि ऐसा होता तो वे काव्यस्यात्मा 'रसः' या रसादिध्वनिः 'ही कहते, केवल 'ध्वनि' न कहते। साथ ही 'ध्वनि' से उनका आशय एक मात्र व्यंग्य से नहीं है। बल्कि सर्वप्रधान व्यंग्य से है। व्यंग्य सर्वप्रधान ध्वनिकाव्य में ही होता है, इसी लिए उन्होने सर्वत्र 'व्यंग्यप्राधान्ये हि ध्वनिः' यही निर्देश किया है, केवल व्यंग्यो ध्वनिः' नहीं। पर्यायोक्त आदि अलंकारो मे इसी 'ध्वनि' के अन्तर्भाव आदि की बात की गयी है। केवल व्यंग्यार्थ के नहीं। इसी लिए पर्यायोक्त आदि मे जब प्राधान्य व्यंग्य का होगा तो उनका ही ध्वनि मे अन्तर्भाव सम्भव है ध्वनि का उनमे नहीं।- 'पर्यायोक्तेऽपि यदि प्राधान्येन व्यंग्यत्वं तद्भवतु नाम तस्य ध्वनावन्तर्भावः। न तु ध्वनेस्तत्रान्तर्भावः।'[2] प्रतीयमान या व्यंग्यार्थ को तो अन्य आलंकारिको ने भी स्वीकार कर रखा है। भले ही उसका बोध वे अभिधा, लक्षणा या तात्पर्य वृत्ति द्वारा कराते रहे हो। अतः ध्वनिकार या आनन्दवर्धन के सिद्धान्त की महत्ता ध्वनि को आत्मा रूप मे प्रतिष्ठा तथा व्यंजनाव्यापार की स्थापना मे है। ध्वनि उनकी व्यंग्यरूप तो है ही। कोई भी अलंकार व्यंग्यरूप होने मात्र से ध्वनि का विषय नहीं हो जाता बल्कि जब वह प्रधानरूप से भी विवक्षित होता है तब ध्वनि का विषय बनता है —'व्यंग्यत्वेऽप्यलंकाराणां प्राधान्यविवक्षायामेव सत्यां ध्वनावन्तःपातः।'[3] जहाँ कहीं भी व्यंग्य वस्तु, अलंकार या रसादि अंगी अर्थात् प्रधान रूप से स्पष्टतया अवभासित होंगे वहीं ध्वनि होगी। इसी लिए अभिनव जब ध्वनि का अर्थ

1- ध्वन्या० पृ० 108 तथा 'यत्र व्यंग्यस्य यदा व्यंग्यप्राधान्यं तदा ध्वनिः' वही, पृ० 429

2- वही, पृ० 118

3- वही, पृ० 278-279

केवल व्यंग्य कर लेते है तो उन्हे इन पूर्वपक्षो का समाधान करना पड़ता है कि 'सिंहो वटुः' आदि मे व्यंग्य रूप काव्यात्मा के रहते हुए भी काव्य नही होगा। अतः निश्चित ही ध्वनिकार या आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य की आत्मा ध्वनि है जिनके तीन रूप है — वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि और रसादिध्वनि। और इसीलिए काव्यता उन तीनो ही स्थलो पर होती है जहाँ रस या वस्तु अथवा अलंकार कोई भी प्रधानरूप से व्यंग्य होता है। और ऐसा काव्य निश्चित ही ध्वनिकाव्य है। जिसे 'मम्मट, हेमचन्द्र आदि ने उत्तम और पण्डितराज ने उत्तमोत्तम काव्य कहा है। जहाँ व्यंग्य प्रधान नहीं होगा वहाँ ध्वनि नहीं होगी और आनन्दवर्धन के अनुसार वहाँ काव्य भी नही होगा। आनन्दवर्धन का स्पष्ट कथन है कि 'इदानीन्तनानां तु न्याय्ये काव्यनयव्यवस्थापने क्रियमाणे नास्त्येव ध्वनिव्यतिरिक्तः काव्यप्रकारः।'[2] यह सुस्पष्ट हो जाता है कि ये ध्वनिवादी सहृदय काव्यक्षेत्र मे कितना कवियो के साथ अन्याय कर रहे थे? और कितने काव्य इनकी परम सहृदयता के आगे अकाव्य हुए जा रहे है ? इसी कारण मनोरथ आदि कवियो ने अत्यन्त रुष्ट होकर इसकी निस्सारता प्रतिपादित की। इस प्रकार यह भी स्पष्ट हो जाता है ध्वनिकार के पहले जो ध्वनिवादी थे जिनके बीच ध्वनि काव्यात्मा के रूप मे प्रतिष्ठित थी स्पष्ट ही आनन्द द्वारा प्रतिपादित गुणीभूतव्यंग्य और चित्रकाव्य को भी वे काव्य स्वीकार करने को तैयार नही थे। आनन्दवर्धन ने उन पूर्वाचार्यो के मत का प्रतिपादन अवश्य किया परन्तु वे गुणीभूत व्यंग्य के सौन्दर्य का तिरस्कार न कर सके। इसी लिए निरूपण उसका भी बड़े विस्तार के साथ किया। और यह सोचकर कि कहीं कोई यह न कह दे कि जब यहाँ ध्वनि ही नही है जो कि काव्य की आत्मा है, अतः यह काव्य कैसे होगा, डरते डरते पुनः उसकी ध्वनिरूपता का निरूपण कर देते है —

> प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यंग्योऽपि ध्वनिरूपताम्।
> धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः ॥[3]

लेकिन स्पष्ट ही उनके निरूपण की शैथिल्यता यहाँ दृष्टिगोचर हो जाती है। यही कारण है कि आगे चलकर किसी भी स्वतंत्र ध्वनिवादी आचार्य ने 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' नहीं कहा।

1- लोचन, पृ० ८९
2- ध्वन्या०, पृ० 497
3- ,, 3/40

मम्मट ने भी ध्वनि का प्रयोग 'व्यंग्यार्थ' के लिए नहीं किया बल्कि 'ध्वनिकाव्य' के लिए ही किया है—

'इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।'[1]

विश्वनाथ ने भी काव्य को ही 'ध्वनि' कहा है—

'वाच्यातिशयिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत् काव्यमुत्तमम्।'[2] यही नहीं उन्हों ने तो 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' कहकर 'काव्यस्यात्माध्वनिः' इसका खण्डन भी किया है।[3] व्यंग्यार्थ और ध्वनि को एक कर दिया है आचार्य हेमचन्द्र ने - 'मुख्याद् व्यतिरिक्तः प्रतीयमानो व्यंग्योध्वनिः'[4] उन्हो ने अन्य आचार्यों द्वारा स्वीकृत 'ध्वनिकाव्य' को केवल उत्तम काव्य कहा है ध्वनिकाव्य नहीं। पण्डितराज ने भी 'ध्वनि' का प्रयोग 'उत्तमोत्तम' काव्य के लिए ही किया है। इस प्रकार आगे चल कर स्वयं ध्वनिवादियों को ही 'ध्वनि की काव्यात्मता' मान्य नहीं हुई। अतः यदि उन्हें ध्वनिविरोधी नहीं कहा जाता तो उसी 'ध्वनि की काव्यात्मता' मात्र का विरोध करने वाले आचार्य कुन्तक को ध्वनि-विरोधी कहना कहां तक समीचीन है जब कि उन्हें निश्चित रूप से व्यंग्य और व्यंजना की सत्ता मान्य है। उन्हो ने वक्रोक्तिसिद्धान्त की स्थापना इसी ध्वनि की एकांगिता और अव्याप्ति के कारण की। उन्होंने काव्य की काव्यता का निर्णायक सहृदय को ही प्रतिष्ठित किया किन्तु काव्य का स्वरूप विवेचन काव्य के कर्ता कवि के कौशल के दृष्टिकोण से किया। यह समीचीन भी है। काव्य कवि का कर्म है। उसकी रमणीयता कवि कर्म की रमणीयता है। अतः काव्य में प्रधानता निश्चित कवि के व्यापार की है। इसी लिए कुन्तक कविव्यापार की ही षड्विध वक्रताओं का निरूपण करते हैं। कवि का कौशल केवल प्रधान रूप से व्यंग्य. रस, वस्तु और अलंकार, अर्थात् ध्वनि की ही योजना में नहीं अभिव्यक्त होता। बल्कि प्रधान रूप से वाच्य वस्तु और अलंकार के भी सम्यक् निरूपण में अभिव्यक्त होता है। किसी भी काव्य की काव्यता का निर्णायक सहृदय होता है लेकिन सहृदय को केवल 'ध्वनिकाव्य' से ही आनन्द नहीं मिलता। उसे वस्तु और अलंकार के ही वाच्यप्रधान चमत्कार पूर्ण वर्णन से भी आनन्दोपलब्धि होती है। कविव्यापार की वक्रता प्रधानरूप से व्यंग्य रस वस्तु और अलंकार निरूपण के साथ साथ प्रधान रूप से वाच्य वस्तु और अलंकार के निरूपण में भी निहित है। आनन्दवर्धन ने जिसे वस्तु कहा है उसे कुन्तक ने अधिकतर स्वभाव कहा है। आनन्दवर्धन की मूर्ति ही रस को कुन्तक व्यंग्य ही स्वीकार करते हैं। वह स्पष्ट वाच्य [illegible] ही नहीं [illegible] की सर्वथा व्यंग्यता को ही स्वीकार करते हुए वे उद्भट के विषय में बड़ी खोजी चुटकी लेते हैं और कहते हैं कि—

1- काव्य प्र०, 1/4
2- साहित्य द०, 4/1
3- [illegible], का०, 17-18
4- काव्यानुशासन, पृ० 25 (काव्यमाला)

'तत्र स्वशब्दावाच्यत्वं रसानामपरिमितपूर्वमस्माकम्।'[1]

द्वितीय उन्मेष की अन्तिम कारिका में प्रयुक्त 'सरसत्वसम्पद्विता' की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं —'अत्रैकत्र सरसत्वं स्वसमयसम्भविरसाढ्यत्वम्, अन्यत्र शृंगारादिव्यंजकत्वम्।'[2] इससे स्पष्ट है कि शृंगारादि व्यंग्य ही होते हैं। अब रही वस्तुस्वभाव की बात उसे दोनों ही आचार्यों ने व्यंग्य तथा वाच्य दोनों रूपों में स्वीकार किया है अन्तर यह है कि आनन्द के अनुसार वस्तुस्वभाव वर्णन काव्य तभी होगा जब कि वह प्रधान रूप से व्यंग्य ही होगा जब कि कुन्तक के अनुसार उसके साथ ही प्रधान रूप से वाच्य भी रमणीय वस्तु का वर्णन काव्य होगा। यही अन्तर दोनों आचार्यों के अलंकारस्वरूप में है। आनन्द के अनुसार प्रधान रूप से व्यंग्य अलंकार के निरूपण में ही काव्यता होगी जब कि कुन्तक के अनुसार प्रधानरूप से वाच्य भी सहृदयाह्लादकारी अलंकार के निरूपण में काव्यता होगी। कुन्तक का सुकुमार मार्ग प्रधानतया वस्तु स्वभाव और रसनिरूपण को प्रस्तुत करता है और विचित्रमार्ग प्राधान्येन अलंकारनिरूपण को। कवि का कौशल उभयत्र प्राणरूप से प्रतिष्ठित होता है। अन्तर यह है कि सुकुमार मार्ग में कवि का सहज कौशल प्रधान होता है और विचित्रमार्ग में आहार्यकौशल। और जैसा कि बताया जा चुका है कुन्तक किसी भी मार्ग की किसी से भी न्यूनता या आधिक्य नहीं स्वीकार करते। जितना रमणीय सुकुमार मार्ग है उतना ही रमणीय विचित्र मार्ग भी। कोई यहाँ यह कह सकते हैं कि कुन्तक का विवेचन तब तो नितान्त अद्भुत एवं असहृदयतापूर्ण है, कहाँ रस और स्वभाव की छटा ? और कहाँ अलंकार का सौन्दर्य ? लेकिन उनका यह सोचना भ्रमपूर्ण होगा। वस्तुतः कुन्तक के अलंकार इतने सस्ते नहीं हैं उनका निबन्धन रस और स्वभाव के निबन्धन की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन है। क्योंकि अलंकार का अलंकारत्व अपने अलंकार्य की शोभा बढ़ाने में है। उसके प्रधान अलंकार्य हैं वस्तु स्वभाव और रस। यदि अलंकार इन दोनों के सौन्दर्य को प्रस्तुत करने में असमर्थ रहा तो वह अलंकार ही नहीं होगा। और इसीलिए '[illegible] मनुष्येनो' आदि श्लोक कुन्तक की दृष्टि से काव्य नहीं हो सकते। इसी तरह चक्रबन्ध आदि चित्रकाव्य तथा दुष्कर यमकादि अलंकार नहीं कहे जा सकते। अतः कुन्तक ने यह स्वीकार करते हुए कि कविकौशल रस, स्वभाव तथा अलंकार सभी का प्राण होता है फिर भी अलंकारों के लिए उसके विशेष अनुग्रह की आवश्यकता बतायी है —

'यद्यपि स्वभावमात्ररसानां सर्वेषां कविकौशलमेव जीवितम् तथाऽप्यलंकारस्य विशेष [illegible]

1- व०जी० पृ० १३९

2- वही पृ० १३[illegible]

यथार्थत्वेन निबध्यमानस्य तद्विदाह्लादविधानानुपपत्तेर्मनाङ्मात्रमपि न वैचित्र्यमु-
त्प्रेक्षामहे प्रबुद्धबाह्मणितैलपात्रार्थसामान्येन प्रतिभासनात्। 'अलंकार के लिए परमावश्यक
है कि वह सहृदयाह्लादकारी हो अन्यथा उसका अलंकारत्व ही सम्पन्न न होगा और
शाकटिक(गाड़ीवान)के वाक्य की तरह ही वह अकाव्य होगा। और यही कारण है कि
कुन्तक का विचित्र मार्ग सरल नहीं, चलने में खड्गधारा पथ के समान है। अलंकार रचना
में जरा सा चूके नहीं कि अकवि या कुकवि की श्रेणी में आ गए। विचित्र मार्ग में
वस्तुओं का रसनिर्भर अभिप्राय से युक्त स्वभाव किसी लोकोत्तर हृदयहारी वैचित्र्य से
उत्तेजित होता है। अलंकारका वैचित्र्य जिसका कि प्राण अतिशयोक्ति है उस मार्ग का
जीवित होता है। उस मार्ग पर चलना इसी लिए अत्यन्त कठिन है । इसीलिए कुन्तक
की वक्रोक्ति वक्रता को वहीं प्रस्तुत करती है जहाँ कि वह सहृदयाह्लादकारिणी होती
है [1]। जिस उक्ति में सहृदय को आह्लादित करने की क्षमता नहीं वह लोकोत्तर होती
हुई भी वक्रोक्ति नहीं हो सकती। अतः यह स्पष्ट है कि कुन्तक की वक्रोक्ति ध्वनि की
विरोधी नहीं होती हुयी भी उसकी अपेक्षा अधिक व्यापक है। उसमें काव्य के समस्त
तत्वों का समुचित सन्निवेश है। ध्वनिवक्रता का एक रूप है। अथवा उसका एक अंग है।
यदि उन्होंने काव्य का निर्णायक ध्वनि को नहीं माना तो भी पण्डितराज का अधम
अथवा अधमाधम काव्य कुन्तक की काव्य कोटि में नहीं आ सकता। साथ ही सहृदया-
ह्लादकारी ध्वनिवादियों का गुणीभूत व्यंग्य काव्य या रमणीय अर्थचित्र काव्यता की कोटि
से बाहर भी नहीं जा सकते। कुन्तक को काव्य के उत्तम, मध्यम, या अधम विभाजन
अभीष्ट नहीं। काव्य की कसौटी है सहृदयाह्लाद । सहृदयाह्लाद की क्षमता जिस काव्य
में है वही काव्य है, अतः वह उत्तम ही होगा वह मध्यम या अधम नहीं हो सकता।
परन्तु कुन्तक का उत्तम काव्य केवल आनन्दवर्धन के ध्वनिकाव्य या कि मम्मट आदि के
उत्तम काव्य और पण्डितराज के उत्तमोत्तम काव्य के स्वरूप वाला नहीं है। पण्डितराज
का काव्य का चौथी विभाजन ही ध्वनि सिद्धान्त को अनुपपन्न सिद्ध कर देता है। यही
नहीं ध्वनिसिद्धान्त की काव्यस्वरूप निरूपण की असफलता को स्वयं ध्वनिवादी मम्मट,
विश्वनाथ, पण्डितराज, रुय्यक आदि आचार्यों का ध्वनिकाव्य की अपेक्षा अधमकाव्य रूप
अलंकारों का सर्वाधिक विवेचन ही सिद्ध कर देता है । सहृदयश्लाघ्य वाच्य तथा प्रतीयमान

1. व. जी. पृ. 146

दोनो ही अर्थ काव्य की आत्मा है। आवश्यकता है दोनो के ही सहृदयश्लाघ्य होने की।क्यो कि वह प्रतीयमान या व्यंग्यार्थ भी काव्य की आत्मा नही हो सकता जो कि सहृदयश्लाघ्य नही है । इसे स्वीकार करने मे किसी को आपत्ति नही है।चारुत्व का उत्कर्ष प्रस्तुत करने के कारण यदि प्रधान व्यंग्यार्थ आत्मा हो सकता है तो उसी चारुत्वोत्कर्ष को प्रस्तुत करने वाला प्रधान वाच्यार्थ उसकी कोटि से नीचे क्यो ढकेला जाता है ? ऐसा तो कहा नही जा सकता कि प्रधान वाच्यार्थ चारुत्वोत्कर्ष को नही प्रस्तुत करता क्यो कि आनन्द का यह कथन कि —

'चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यंग्ययोः प्राधान्यविवक्षा'[1]

इस बात के प्रति स्पष्ट स्वीकृति है कि वाच्य भी उस चारुत्वोत्कर्ष को प्रस्तुत कर सकता है जिसे कि व्यंग्यार्थ ।अतः जहां प्रधान व्यंग्यार्थ चारुत्वोत्कर्ष को प्रस्तुत करे उसे उत्तम कहा जाय और जहां प्रधान वाच्य उसी चारुत्वोत्कर्ष को प्रस्तुत करे उसे मध्यम या अधम कहा जाय यह कहां का न्याय है ? अतः काव्य की आत्मा केवल रस या केवल ध्वनि अथवा केवल व्यंग्य को स्वीकार करना समीचीन नही और यही कारण है कि स्वयं ध्वनिवादी ही काव्य की आत्मा को स्वीकार करने मे एकमत नही है । अतः काव्य की आत्मा 'सहृदयाह्लाद' अथवा आनन्द है। उसकी अभिव्यक्ति तीन रूपो मे होती है,रस वस्तु या स्वभाव और अलंकार रूप मे क्यो कि सहृदय का आह्लाद रस,स्वभाव तथा अलंकार सभी के उत्कर्ष के सम्यक् परिपोष मे निहित है केवल रस परिपोष मे ही नही। कुन्तक का अत्यन्त स्पष्ट कथन है कि —

'भावस्वभावसौकुमार्यवर्णने, शृंगारादिरसस्वरूपसमुन्मीलने वा विविध विभूषण विन्यास-विच्छित्तिविरचने च परः परिपोषातिशयः तद्विदाह्लादकारितायाः कारणम्।'[2] निश्चित ही इस सत्य को कोई भी सहृदय अस्वीकार नही कर सकता । इनमे रस सदैव व्यंग्य होता है,वस्तुस्वभाव या अलंकार कभी व्यंग्य होते है कभी वाच्य। ये तीनो अपने इन्ही रूपो से सौन्दर्य अथवा वक्रता की अभिव्यक्ति करते है या कि सहृदयाह्लाद को उत्पन्न करते है।अतः आनन्द की रस,स्वभाव और अलंकार तीन रूपो मे अभिव्यक्ति होने के कारण ये तीनो ही काव्य की आत्मा कहे जा सकते है ।इस लिए जो 'वक्रोक्तिविवृत्यन्त' और 'रस विवृत्यन्त' का विवेचन करते समय कुन्तक की दृष्टि मे भी रस की काव्यात्मकता का निरूपण किया गया है उसका इस कथन से पूर्ण पर विरोध सोचना समीचीन नही।और चूंकि सौन्दर्याभिव्यक्ति या वक्रता अथवा तद्विदाह्लादकारित्व को प्रस्तुत करने वाली एकमात्र 'वक्रोक्ति'

1 – ध्वन्या०, पृ०११६
2- व.जी., पृ०१४५

है अतः उसके असाधारण कमनत्व को सूचित करने के लिए यदि कुन्तक ने उसे ही काव्य का जीवित कह दिया तो वह असमीचीन नहीं।क्यो कि उक्ति की वक्रता,उक्ति का सौन्दर्य,या वाणी का तद्विदाह्लादकारित्व बिना वक्रोक्ति के सम्भव नहीं, अतः प्राणभूता है,फिर तत्त्वतः तो उसका अलंकार्य से अलग अस्तित्व ही नहीं है अतः उसकी भिन्नता तो केवल अपोद्धार बुद्धि से कल्पित है।यही नहीं वक्रता और तद्विदाह्लाद-कारित्व दोनो एक ही तत्त्व है।कुन्तक ने अनेको स्थलो पर इस बात की स्पष्ट स्वीकृति दी ~~स्वीकृति~~ दी है —

(1) यत्र विशेषणमाहात्म्यादेव तद्विदाह्लादकारित्वलक्षणं वक्रत्वमभिव्यज्यते[1]

(2) अत्र च तद्विदाह्लादकारित्वमेव वक्रत्वम्।[2]

बिना तद्विदाह्लादकारिता के वक्रता हो ही नहीं सकती। बिना तद्विदाह्लादकारित्व के किसी की काव्यता सम्भव नहीं ।अतः निश्चित ही 'तद्विदाह्लाद' को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया जाना चाहिए।और इसे स्वीकार कर लेने पर वे सारी कठिनाइयाँ दूर हो जाती है जो कि काव्य की आत्मा केवल रस या ध्वनि अथवा औचित्य आदि को मानने मे उपस्थित होती है।काव्य-व्यवहार वहीं होगा जहाँ कि सहृदय को आनन्दानुभूति होगी।

उक्त विवेचन से इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कुन्तक का वक्रोक्तिसिद्धान्त निश्चित ही काव्य के अन्य सिद्धान्तो की अपेक्षा अधिक व्यापक और काव्यस्वरूप का समुचित विश्लेषण करने मे समर्थ है।वह कवि तथा सहृदय दोनो के साथ पूर्ण न्याय करता है।किसी भी ओर वह अत्युक्तिवादी नहीं है। काव्य रचना मे निश्चित ही कवि का प्राधान्य है।कवि व्यापार ही प्रधान है। लेकिन साधारण कवि व्यापार काव्य नहीं प्रस्तुत कर सकता उसे असाधारण अथवा वक्र होना चाहिए।उस कवि व्यापार की वक्रता का निर्णायक है सहृदय।यदि काव्यरचना मे सहृदयाह्लाद की क्षमता नहीं तो वहाँ कुन्तक कविव्यापारवक्रता मानने को ही तैयार नहीं ।अतः सहृदय का प्राधान्य अपने स्थान पर और कवि का प्राधान्य अपने स्थान पर सुरक्षित है।एक आचार्य का कर्तव्य है कि वह ऐसा मानदण्ड प्रस्तुत करे जिससे किसी भी पक्ष पर आघात न हो।इसी लिए कुन्तक ने कविव्यापार की वक्रताओं का काव्य के सूक्ष्मतम अवयव वर्ण से लेकर महत्तम स्थूल प्रबन्ध तक अपनी तत्त्वग्राहिणी बुद्धि से सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है। काव्यतत्त्वविवेचन मे कुन्तक निश्चित ही आनन्दवर्धन से बहुत आगे है।इस बात के पक्ष

1- वक्रो० पृ० 53
2- वही, पृ० 62

प्रमाण है उनके संवृत्तिवक्रताविश्लेषण और प्रकरण तथा प्रबन्धवक्रता के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन। प्रबन्ध का विवेचन करते समय आनन्द की दृष्टि केवल रसादिध्वनि तक ही सीमित रही, वह कवि के अन्य प्रबन्धकौशलो को देखने मे असमर्थ रही। कुन्तक ने उनका सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन किया । सर्वनाम की व्यंजकता का जितना सूक्ष्म और वैज्ञानिक विश्लेषण कुन्तक ने प्रस्तुत किया है उसकी कल्पना आनन्द के सर्वनाम -ध्वनि-विवेचन से शायद ही की जा सके। यही नही वक्रता के प्रत्येक भेद-प्रभेद के विवेचन मे जिस सूक्ष्मता के साथ कुन्तक ने प्रवेश किया है वह आनन्दकृत ध्वनि के विवेचन मे दुर्लभ प्राय ही है। अतः डा० कृष्णमूर्ति के इस कथन को निश्चित ही अर्थवाद नही कहा जा सकताहै कि — 'कुन्तक जैसे स्वतंत्र लेखकों ने ध्वनि की नवीन व्याख्याये प्रस्तुत करने मे आनन्दवर्धन की अपेक्षा कही अधिक मौलिकता दिखाई है।'

कुन्तक के वक्रोक्तिसिद्धान्त के तिरस्कार के कारण एवं निष्कर्ष :

अब प्रश्न यह उठता है कि जब कुन्तक का 'वक्रोक्तिसिद्धान्त' ऐसा था तो इसकी प्रतिष्ठा क्यो नही हो पाई ? इसका एकमात्र कारण 'सम्प्रदायवाद' ही प्रतीत होता है। ध्वनिसिद्धान्तवादियो का एक समुदाय ही बन पड़ा था कि वे उसके आगे किसी अन्य सिद्धान्त को प्रतिष्ठित ही नही होने देना चाहते थे। इसी लिए अभिनव गुप्त तथा मम्मट आदि ध्वनिप्रस्थापक परमाचार्यों ने कुन्तक की वक्रोक्ति का कोई उल्लेख ही नही किया । बल्कि उससे प्रभावित होकर ध्वनिसिद्धान्त के स्वरूप मे ही संशोधन किया । साथ ही अभिनव गुप्त तथा मम्मट जैसे ध्वनिवादी आचार्यों द्वारा कुन्तक की वक्रोक्ति का खण्डन न किया जाना ही इस बात का परम प्रमाण है कि कुन्तक ध्वनिविरोधी नही थे। यह कहना कि इन दोनों आचार्यों को कुन्तक का ज्ञान ही नही रहा होगा, उचित नही। अभिनव गुप्त , कुन्तक एवं सिद्धान्त से भलीभाँति परिचित थे, यह प्रतिपादित किया जा चुका है । मम्मट भी निश्चित ही कुन्तक के 'वक्रोक्तिजीवित 'ग्रन्थ से परिचित थे। इसके कुछ प्रमाण तो मम्मट द्वारा दिए गए उदाहरण है—

(1) मम्मट ने 'कपोलफलकावस्य कष्टं भवति ' आदि श्लोक के तृतीय चरण '... ' के स्थान पर कुन्तक द्वारा दिए गए 'पर्याय ...

---

1. Independent writers like Kuntaka sought to exhibit greater originality than Anandavardhana by offering new explanations — Indian Culture, Vol. XV, P. 163.

न विहितो भवतः स नाम' पाठान्तर को यथावत रूप में उद्धृत किया है।[1]

(2) इसी तरह '(तत्रा)यत्रानुल्लिखिताख्यमेव निखिलम्' आदि श्लोक के चतुर्थ चरण में कुन्तक द्वारा निर्दिष्ट 'छायामात्रमणीकृतारत्नमुमणेस्तस्याश्मतेयोविना' पाठान्तर को यथावत रूप में उद्धृत किया है।[2]

(3) इसके अतिरिक्त 'यदामध्ये यानामियममृत निष्यन्दसुरसा

सरस्वत्युद्दामा वहति बहुमार्गा परिमलम्।।'

आदि श्लोक में प्रयुक्त 'बहुमार्गा' पद की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—

'अत्र यासां कविस्त्रीनां मध्ये सुकुमारविचित्रमध्यमात्मकत्रिमार्गा भारती चमत्कारं वहति इत्यादि'[3] स्पष्ट ही सुकुमार विचित्र और मध्यम मार्गों का उल्लेख उनके कुन्तक के ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' के ज्ञान का सूचक है।

अतः इन आचार्यों ने जो वक्रोक्तिसिद्धान्त का उल्लेख ही नहीं किया सम्भवतः उसका प्रधान कारण 'ध्वनिसम्प्रदाय' के प्रति इनकी अत्यधिक निष्ठा ही थी। 'वक्रोक्तिसिद्धान्त' में इनके व्यंग्य और व्यंजना को समुचित स्थान दिया ही था, अतः इनके मुख्य 'व्यंजना सिद्धान्त' का विरोधी था ही नहीं कि उसका विरोध या खण्डन ये लोग करते। साथ ही वक्रोक्ति सिद्धान्त' ध्वनिकार एवं आनन्दवर्धन के ध्वनिसिद्धान्त से निश्चित ही व्यापक एवं युक्तियुक्त था, अतः उसका साधारण ढंग से निराकरण भी करना आसान नहीं था। फलतः उसके विषय में मौन रहना ही इन आचार्यों ने उचित समझा होगा। कदाचित् विश्वनाथ और विद्याधर आदि की भांति कुछ उटपटांग कह गए होते तो लोग इनके आचार्यत्व पर भी उँगली उठाने लगते। कुन्तक के 'वक्रोक्तिसिद्धान्त' की अथवा उनके ग्रन्थ वक्रोक्तिजीवित' की उपेक्षा का प्रधान कारण यही आचार्यों का 'सम्प्रदायवाद ही रहा होगा जिसे आधुनिक भाषा में 'दलबन्दी' कहा जाता है। 'वक्रोक्तिसिद्धान्त' को अभिनवगुप्त और मम्मट जैसा समर्थक न मिला यही उसका दुर्भाग्य था। अन्यथा काव्यस्वरूप एवं काव्य के तत्त्वों का जितनी सूक्ष्मता, सहृदयता एवं पाण्डित्य के साथ विवेचन कुन्तक ने प्रस्तुत किया है क्या वह किसी अन्य आचार्य के ग्रन्थ में मिलता है।' साहित्य का जो स्वरूप कुन्तक ने निरूपित किया क्या कोई भी आचार्य वैसा कर सका है? स्वयं साहित्यदर्पण' प्रस्तुत करने वाले साहित्यार्णवकर्णधार, ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य, महापात्र कविराज श्री विश्वनाथ ने भी कहीं अपने ग्रन्थ में 'साहित्य' के स्वरूपनिरूपण का कष्ट उठाया है? यही नहीं कुन्तक का काव्यलक्षण भी क्या अन्य आचार्यों के काव्यलक्षणों की अपेक्षा अव्याप्ति या अतिव्याप्ति •

1- एकावली, का०प्र० पृ० 340 तथा वक्रोक्ति० पृ० 16
2- ,, ,, पृ०338 ,, ,, पृ० 18
3- ,, ,, पृ०337-338

के संसर्ग से मुक्त नहीं है ? मम्मट के काव्यलक्षण में अदोषौ सगुणौ' आदि पदों के उपादान से जो अव्याप्ति आदि का निर्देश विश्वनाथ तथा पण्डितराज आदि आचार्यों ने किया है क्या वैसा निर्देश कुन्तक के काव्यलक्षण में किया जा सकता है। उनके शब्द और अर्थ का स्वरूप ही ऐसा विशिष्ट है कि उसमें दोषादि की स्थिति ही सम्भव नहीं इसलिए उनके लिए अदोषौ, सालंकारौ तथा सगुणौ आदि विशेषणों की आवश्यकता ही नहीं। इसी तरह परमतार्किक पण्डितराज जगन्नाथ के काव्यलक्षण 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' में जो अतिव्याप्ति है क्या उसकी भी सम्भावना कुन्तक के काव्यलक्षण में की जा सकती है ? पण्डितराज के लक्षण के अनुसार रमणीय अर्थ का प्रतिपादक एक शब्द भी काव्य हो सकता है, क्या यह काव्यलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है ? जब कि कुन्तक के अनुसार साहित्य रूप से बन्ध अथवा वाक्यविन्यास में व्यवस्थित शब्द और अर्थ ही काव्य होते हैं। और वह बन्ध भी साधारण नहीं बल्कि उसे कवि के वक्रव्यापार से सुशोभित एवं सहृदयों को आह्लादित करने की क्षमता से युक्त होना परम अनिवार्य है । अतः निश्चित ही कुन्तक का काव्यलक्षण अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोनों ही प्रकार के दोषों से निर्मुक्त है और सहृदयाह्लादकारी सत्काव्य के स्वरूप का निरूपण करने में पूर्णतया समर्थ है।

अस्तु, उक्त समग्रविवेचन का निष्कर्ष यही है कि आचार्य कुन्तक न तो ध्वनिविरोधी अभिधावादी थे और न भक्तिवादी। उन्हें न व्यंग्य की सत्ता अमान्य थी और न व्यंजना की। उन्होंने केवल प्रधानव्यंग्य रूप ध्वनि की ही काव्यात्मता का विरोध किया जो कि समीचीन भी था। ध्वनिसिद्धान्त एकांगी था। उसे केवल आत्मवादी सिद्धान्त कहा जा सकता है किन्तु कुन्तक का सिद्धान्त भामह आदि के सिद्धान्तों की भाँति निरा देहवादी नहीं था। उसे केवल देहवादी स्वीकार करना उसके साथ अन्याय करना है। उसमें देह और आत्मा दोनों का पूर्ण सामंजस्य है। यदि एक ओर काव्य में कविकौशल प्रधान है तो दूसरी ओर सहृदयाह्लाद भी प्रधान है। और इसीलिए यह कहना भी असमीचीन सिद्ध हो जाता है कि कुन्तक का वक्रोक्तिसिद्धान्त ध्वनिसिद्धान्त की वस्तुगत परिकल्पना मात्र है। उन्होंने व्यंग्यव्यंजक भाव या रसादि के स्वरूप का जो सविस्तर विवेचन नहीं किया उसका प्रधान कारण ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन के साथ उनकी सहमति है, उसके प्रति उपेक्षा भाव नहीं। अतः यहाँ काव्य के अन्य सभी सिद्धान्त

किसी न किसी दृष्टि से अपूर्ण थे कुन्तक ने पूर्ण रूप में सभी सिद्धान्तों का परिष्कार कर समन्वित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। इसी लिए वे किसी भी सिद्धान्त की पूर्ण अवहेलना नहीं करते, जैसा कि परवर्ती आचार्यों ने उनके सिद्धान्त के साथ किया। वे सभी सिद्धान्तों के सार का ग्रहणकर असार का परित्याग कर अनौचित्य का परिहार कर एक पूर्ण वक्रोक्तिसिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। वे किसी भी सिद्धान्त के अन्धानुयायी नहीं है। साथ ही किसी भी सिद्धान्त के दुराग्रही विरोधी भी नहीं हैं। यदि परवर्ती आचार्यों ने उनके सिद्धान्त का तिरस्कार किया तो उसका प्रधान कारण उनका निष्पक्ष न होना, अथवा कुन्तक के महान् व्यक्तित्व से द्वेष ही था। कुन्तक का व्यक्तित्व निश्चित ही अत्यन्त महान् था इसकी सिद्धि महिमभट्ट द्वारा आनन्द-वर्धन के सिद्धान्त के साथ ही साथ कुन्तक के सिद्धान्त के खण्डन से सिद्ध होती है। कुन्तक की महत्ता का ही इतना बोलबाला था कि महिमभट्ट उसी पर आक्षेप करने के लिए उनके द्वारा स्वीकृत एक श्लोक में दोषोद्घोषणा करने के लिए पूरे बीस पृष्ठों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करते हैं जो कि उनके समग्र ग्रन्थ के सातवें हिस्से से कुछ अधिक ही है, और उसमें विधेयाविमर्श-दोष दिखाकर वे बड़े अहंकार के साथ कहते हैं -

'काव्यकाञ्चनकषाश्ममानिना कुन्तकेन निजकाव्यलक्ष्मणि ।
यस्य सर्वनिरवद्यतोदिता श्लोक एष स निदर्शितो मया ॥' 1

मानो समस्त लोकों का आधिपत्य पा गए। क्या इससे कुन्तक के महान् व्यक्तित्व की सिद्धि नहीं होती। अगर कुन्तक की वक्रोक्ति केवल अभिधा ही होती तो स्वयं अभिधा को ही स्वीकार करने वाले आचार्य महिमभट्ट को अनुमिति में उसके अन्तर्भाव करने की क्या आवश्यकता थी? इससे भी यही सिद्ध होता है कि कुन्तक ध्वनिविरोधी अभिधावादी नहीं थे। अतः आधुनिक पण्डित एवं सहृदयसमाज को किसी पूर्वाग्रह से ग्रसित न होकर कुन्तक के वक्रोक्तिसिद्धान्त के परीक्षण की आवश्यकता है।

---

1. व्यक्ति० 2/29

सप्तम अध्याय

कुन्तक के परवर्ती आचार्य और वक्रोक्ति-सिद्धान्त

'गुणानुवादो हीनानामुत्तमैरुपमाकृतः[1]।'

अब यहां गुणानुवाद लक्षण उपमाजन्य है या कि उपमा गुणानुवादजन्य? परन्तु अभिनव जी बताए यहां लक्षणजन्य अलंकारवैचित्र्य मनवाना चाहते हैं--'अनुपमेयमलंकारः, किंतु, उक्तं इयलंकाराणां वैचित्र्यं लक्षणकृतमेव[2]।' इतना ही नहीं अभिनव की व्याख्या और भी देखें। आचार्य भरत ने उपमा का लक्षण दिया--

'यत्किंचित् काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते।
उपमा नाम सा ज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया[3] ॥'

इस कारिका में आये काव्यबन्ध का अर्थ अभिनव काव्यलक्षण करते हैं--

'काव्यबन्धेषु काव्यलक्षणेषु सादृश्येन गौरिव गवय इति नायमलंकार इति दर्शितः। बन्धो गुम्फो भणितिर्वक्रोक्तिः कविव्यापार इति हि पर्यायाः[4]।' अब यदि अभिनव के अनुसार काव्यबन्ध का अर्थ काव्यलक्षण मान लिया जाय तो भरत के 'काव्यबन्धास्तु कर्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः' कथन का क्या अर्थ होगा? इसी प्रकार भरत ने उपमा के पांच भेदों का सोदाहरण निरूपण करने के अनन्तर कहा--

'उपमाया बुधैरेते ज्ञेया भेदाः समासतः।
ये शेषा लक्षणैर्नोक्तास्ते ग्राह्याः लोककाव्यतः[5] ॥'

कहीं कहीं (शेषा ये लक्षणे नोक्ताः) पाठ भी मिलता है। भरत का आशय उपयुक्त स्पष्ट है कि इन पांच भेदों को संक्षेप में हमने बता दिया है शेष जिन्हें लक्षण में अथवा लक्षण के द्वारा नहीं प्रतिपादित किया गया है उन्हें विद्वान लोक और काव्य से समझ लें। परन्तु अभिनव जी ने यहां दूसरा ही पाठ स्वीकार करते हुए 'लक्षणे' और 'नोक्ताः' दोनों पदों को एक मानकर 'लक्षणेन लक्षणद्वारेण उक्ताः' यह अर्थ किया[6]। ऐसा करने से स्पष्ट हो उनकी व्याख्या है। अतः डा०के० पाण्डेय ने यहां अभिनव की व्याख्या पर ही जो अधिक और अनावश्यक बल दिया है वह समीचीन नहीं प्रतीत होता[7]। वस्तुतः अभिनव अथवा उनके उपाध्याय के इस मत को मानने से तो, कि लक्षणों के बल से अलंकारों में वैचित्र्य आता है, कोई आपत्ति है ही नहीं[8]। असमीचीनता तो इसी बात से है कि लक्षण वक्रोक्ति और कविव्यापार पर्याय हैं। जब एक अलंकार के बल से दूसरे अलंकार में वैचित्र्य आता है तो लक्षण के बल से अलंकार-

---

1- ना०शा०16/15
2- अभि०भा०(भाग2)पृ०305
3- ना०शा०16/41
4- अ०भा०(भाग2)पृ०322
5- ना०शा० 16/52
6- अ०भा०(भाग2)पृ०324
7- द्रष्टव्य, भा०का०शा०पृ०59
8- द्रष्टव्य, अ०भा०(भाग2)पृ०321

वैचित्र्य स्वीकार करने में क्या आपत्ति हो सकती है? फिर लक्षण हैं भी अलंकार कोटि के ही। अलंकारों का कार्य काव्यशोभा को बढ़ाना है तो लक्षण भी काव्य के भूषण सम्मित ही हैं। ये भी काव्यशोभा के पोषक हैं। वस्तुतः भरत द्वारा प्रतिपादित लक्षणों और अलंकारों के विभाजन की रेखा अत्यन्त अस्पष्ट और सूक्ष्म है। जैसा कि डा0देशपाण्डे ने प्रतिपादित किया है भरत ने लक्षणादि मीमांसा और निरुक्त से ग्रहण किए होंगे। परन्तु काव्य में चूँकि इनका स्वरूप अलंकारों से बिल्कुल अभिन्न रहा अतः ग्रन्थकारों ने अलंकारों की संख्या बढ़ाकर इन लक्षणों का भी अन्तर्भाव उन्हीं अलंकारों में कर दिया। स्वयं भरत भी अलंकार और लक्षण दोनों के लिए एक स्थान पर केवल लक्षण शब्द का प्रयोग करते हैं। जैसा कि ऊपर बताया गया है भरत 36 लक्षणों की ~~भी अन्तर्भाव उन्हीं अलंकारों में कर दिया~~ परिभाषा देकर सीधे उपमा आदि अलंकारों का लक्षण उदाहरण प्रस्तुत करते हैं और उनका विवेचन समाप्त होने पर कहते हैं-- 'एभिः अर्थक्रियापेक्षैः काव्यं कुर्यात्तु लक्षणैः ।'[1] निश्चित ही यहाँ लक्षणों के द्वारा उपमा आदि अलंकारों का भी ग्रहण किया गया है। यही कारण है कि आगे चल कर लक्षणों का स्थान अलंकारों ने ले लिया। केवल नाट्य का ही विवेचन करने वाले आचार्य धनिक और धनंजय ने भी दशरूपक में लक्षणों का निरूपण नहीं किया। दशरूपक में कहा गया है-- 'षट्त्रिंशद्भूषणादीनि सामादीन्येकविंशतिः ।

लक्ष्मसन्ध्यन्तराख्यानि सालंकारेषु तेषु च ॥

इस पर अवलोक की व्याख्या है-- 'विभूषणञ्चाक्षरसंहतिश्च शोभाभिमानौ गुणकीर्तनं च । इत्येवमादीनि षट्त्रिंशत् काव्यलक्षणानि। 'सामभेदः प्रदानं च' इत्येवमादीनि सन्ध्यन्तराण्येकविंशतिः उपमादिष्वलंकारेषु हर्षोत्साहादिष्वन्तर्भावान्न पृथगुक्तानि।'[2]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि लक्षण भी अलंकारों की भाँति वक्रोक्ति के प्रकार हैं। और अलंकारों की ही भाँति काव्य के शोभाधायक हैं। केवल लक्षण ही वक्रोक्ति नहीं है। अतः अभिनव द्वारा वक्रोक्ति का लक्षणों में अन्तर्भाव करने का प्रयास समीचीन नहीं।

1- ना0शा0 16/87

2- दशरूपक 4/84 तथा अवलोक

'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।' इत्येतदपि सर्वालंकारसाधारणं लक्षणमनुसर्तव्यम्। अस्मिन् सति सर्वालंकारजातयो वक्रोक्त्यभिधानवाच्या भवन्ति। तदुक्तम्— 'वक्रत्वमेव काव्यानां परा भूषेति भामहः।' इस प्रकार भोजराज अपने इस कथन के द्वारा भामह के अभिमत को स्वीकृति देते हैं क्योंकि उनकी वक्रोक्ति में ही रसों, तथा गुणों आदि सभी का अन्तर्भाव है क्योंकि काव्यशोभाकारित्व सभी में निहित होता है। सरस्वतीकण्ठाभरण में भोज ने इसे अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है —

'तत्र 'अलंकारसंसृष्टैः' इतीयत्येव वक्तव्ये नानालंकारग्रहणं गुणरसानामुपसंग्रहार्थम्। तेषामपि हि काव्यशोभाकरत्वेनालंकारत्वात्।' इत्यादि[2]।

लेकिन यह तो भामह के अभिमत की पुष्टि रही। दण्डी ने तो वाङ्मय को ही दो रूपों में विभक्त कर दिया है- एक स्वभावोक्ति, जिस में आद्य अलंकार जाति या स्वभावोक्ति आता है और दूसरा है वक्रोक्ति, जिसमें उपमादिक तथा रसादिक अलंकार रूप में आते हैं। आचार्य भोज को उन्हें भी समर्थन देना था। उन्हों ने वैसा किया भी परन्तु दण्डी के कथन में कुछ परिष्कार किया। जहाँ दण्डी ने वाङ्मय के दो विभाग किए थे वहाँ इन्हों ने उसके तीन विभाग प्रस्तुत किए- (1) स्वभावोक्ति-जिसमें गुणों का प्राधान्य होता है ? (2) वक्रोक्ति- जिसमें उपमा आदि अलंकारों का प्राधान्य होता है। और (3) रसोक्ति-जिसमें विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है—

'त्रिविधः खलु अलंकारवर्गः - वक्रोक्तिः, स्वभावोक्तिः, रसोक्तिरिति। तत्रोपमाद्यलंकारप्राधान्ये वक्रोक्तिः, सोऽपि गुणप्राधान्ये स्वभावोक्तिः, विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात्तु रसनिष्पत्तौ रसोक्तिरिति[3]।'

इन तीनों में उन्हों ने सर्वग्राहिणी 'रसोक्ति' को ही बताया है। यह उन पर आनन्दवर्धन का स्पष्ट प्रभाव है—

'वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्[4]।
सर्वासु ग्राहिणी तासु रसोक्तिं प्रतिजानते ।।'

1- उद्धृत Sr. Pra. Pl. 121-122
2- स०कं०पृ०705
3- उद्धृत, Sr. Pra. P. 122
4- स.कं.5/8

इस प्रकार भामह तथा दण्डी के वक्रोक्तिअलंकार विषयक मन्तव्यों का समर्थन कर देने के अनन्तर शेष बचते है दो मन्तव्य।एक आचार्य रुद्रट का जिन्होंने वक्रोक्ति को एक शब्दालंकार-विशेष के रूप में प्रस्तुत किया है,और दूसरा है आचार्य वामन का जिन्होंने वक्रोक्ति को एक अर्थालंकार-विशेष के रूप में प्रस्तुत किया है।यहाँ अवधेय यह है कि यद्यपि आगे चल कर आचार्य रुय्यक तथा अप्पयदीक्षित आदि ने भी वक्रोक्ति को अर्थालंकारों के मध्य ही परिगणित किया है परन्तु उसका स्वरूप वामनाभिमत न होकर आचार्य रुद्रटाभिमत ही है। जहाँ तक रुद्रट की श्लेषवक्रोक्ति का प्रश्न है,उसका स्वरूप निरूपण भोजराज'वाकोवाक्य'नामक शब्दालंकार के अन्तर्गत कर लेते है।उनके अनुसार जहाँ दो अथवा बहुत से वक्ताओं का उक्तिप्रत्युक्तिमद्वाक्य उपनिबद्ध किया जाता है वहाँ वाकोवाक्य अलंकार होता है।इसके छः प्रकार है-जिनमें से पहला प्रकार ऋजूक्ति और दूसरा प्रकार वक्रोक्ति है।भोज ने वक्रोक्ति के निर्व्यूढा और अनिर्व्यूढा रूप से दो भेद किए है- उनमें से निर्व्यूढा के उदाहरण में उन्होंने रुद्रट के श्लेषवक्रोक्ति के उदाहरण को ही प्रस्तुत किया है और दोनों का विवेचन करने के अनन्तर कहा है कि ये दोनो ही श्लेषवक्रोक्तियाँ है--'ते इमे उभे अपि श्लेषवक्रोक्ती भवतः' ही इन्होंने रुद्रट की काकु-वक्रोक्ति का कोई उल्लेख नहीं किया।सम्भवतः यह इन पर राजशेखर का प्रभाव है क्योंकि राजशेखर ने काकु को पाठधर्म बताकर उसकी अलंकारता भी समाप्त कर दी थी।जिसे आगे चलकर हेमचन्द्र आदि ने भी समर्थन दिया है।जहाँ तक आचार्य वामन की वक्रोक्ति का प्रश्न है उसे यद्यपि भोज ने उसी अलंकार विशेष के रूप में प्रस्तुत नहीं किया फिर भी उसे यथाकथंचित मान्यता अवश्य दे दी है।वामन के अनुसार जहाँ सादृश्य के कारण लक्षणा होती है वहाँ वक्रोक्ति अर्थालंकार होता है।[2] भोज ने भी लक्षणा का स्वरूप-निरूपण करते हुए उसे वक्रोक्ति का प्राण स्वीकार किया है।उनका कथन है--

> 'सम्बन्धात् अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते।
> सैषा विदग्धवक्रोक्तिजीवितं वृत्तिरिष्यते ।।[3]

इस उक्ति के साथ भोज की सहमति उन पर स्पष्ट रूप से वामन के प्रभाव को प्रदर्शित करती है।इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भोजराज का वक्रोक्तिविवेचन अधिक स्पष्ट नहीं है। उसमें उनके पूर्ववर्ती मतों का थोड़े बहुत परिष्कार के साथ समाहार-मात्र है।शास्त्र और लोक की अपेक्षा काव्य में वैशिष्ट्य वक्रता के कारण ही आता है।शास्त्र और लोक में अवक्र वचन या उक्ति का प्रयोग होता है अतः वह केवल वचन या उक्ति ही होती है ।

1- स.कं०, पृ०297
2- सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः- काव्या०सू० 4/3/8
3- शृं०प्र० पृ०323

लेकिन काव्य में वही वचन या उक्ति वक्र होती है, अतः वक्रोक्ति या वक्रवचन की ही काव्यपेक्षा होती है—

'यद्वक्रं वचः शास्त्रे लोके च वच एव तत् ।

वक्रं यदर्थवादादौ तस्य काव्यमिति स्मृतिः ॥'[1]

यही कुन्तक और भोज का अभिमत एक है। कुन्तक के अनुसार भी बिना वक्रोक्ति के काव्य हो नहीं सकता और भोज के अनुसार भी वक्रोक्ति ही काव्य है। भोजराज ने दृष्टान्त तथा प्रतिवस्तूक्ति आदि अलंकारों के ऋजु और वक्र दो दो प्रकार स्वीकार किए हैं। चक्रप्रकारों में सप्तम में वक्रोक्ति का उल्लेख है। अन्त में 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में रसालंकार-संकर का विवेचन करते हुए वे पुनः वक्रोक्ति को उपमादि तक सीमित निरूपित करते हैं। उनके अनुसार रसालंकार-संकर दो प्रकार का होता है एक रस-प्रधान और दूसरा अलंकार-प्रधान। उनमें जिसका वर्णन अनुभविता के द्वारा किया जाता है वह रस-प्रधान, और जिसका वर्णन उदासीन के द्वारा किया जाता है वह अलंकार-प्रधान होता है। उसमें जब वह वक्रोक्ति का अवलंबन करता है तो उपमादि और जब स्वभावोक्ति का अवलम्बन करता है तो जाति का प्राधान्य होता है —

तयोर्योऽनुभवित्रैव वर्ण्यते स रस-प्रधानः। तत्र हि अलंकारवतो वाक्यस्य भावात्म्यानुभावत्वं भवति। xx य उदासीनेन वर्ण्यते सोऽलंकारप्रधानः। सोऽपि स्वभावादेः भेदप्रकारमभिलषन् स्वभावोक्तिं वक्रोक्तिं वावलम्बते। तत्र स्वभावोक्तिपक्षे जातिः। xx वक्रोक्तिपक्षे उपमादयः।[2]

इस प्रकार भोजराज ने वक्रोक्ति का विवेचन प्रायः सभी पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का संकलन करते हुए किया है। कुन्तक के ग्रन्थ का सम्भवतः उन्हें पता नहीं था। अतः कुन्तक से उनका विवेचन प्रभावित नहीं हुआ।

1- [illegible], पृ० [illegible]।

2- [illegible],724,727,728

आचार्य महिमभट्ट एवं वक्रोक्ति सिद्धान्त

आचार्य महिमभट्ट के ग्रन्थ का प्रमुख उद्देश्य था ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव करना —

'अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम् ।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ॥'[1]

किन्तु ध्वनिकार की ध्वनि के साथ ही साथ उस समय कुन्तक की वक्रोक्ति का भी बोलबाला था । अतः महिमभट्ट की धाक का तब तक जमना असम्भव था जब तक कि वे वक्रोक्ति का भी अनुमान में अन्तर्भाव न कर लेते । आखिरकार वक्रोक्ति को भी लगे हाथों उन्होंने अनुमिति में घसीट ही लिया —

'तेन ध्वनिवदेषाऽपि वक्रोक्तिरनुमा न किम् ?'[2]

वस्तुतः महिमभट्ट का उद्देश्य किसी न किसी रूप में नाम कमाना था । और इसी लिए उन्होंने जोरदार शब्दों में कुन्तक और ध्वनिकार का विरोध किया।इसे महिमभट्ट ने स्वयं ही स्वीकार किया है कि-- 'महतां संस्तव एव गौरवाय'[3]
और ग्रन्थ की समाप्ति पर तो उन्होंने स्पष्ट ही कह दिया कि विद्वज्जन मेरा स्मरण अवश्य करेंगे, यह चाहे परिहास के लिए हो अथवा नवीन विषय के तत्त्वज्ञान द्वारा आत्मतोष के लिए।[4] यही कारण है कि अपने अभिमत का अविकल प्रतिपादन करनेके लिए उन्होंने विभिन्न स्थलों पर ध्वनिकार आदि के नाम पर अपने विचारों को थोप कर उनके सिद्धान्तों में न्यूनता दिखाने का असत्प्रयास किया है । रुय्यक ने अपने 'व्याख्यान' में कहीं कहीं इस बात का स्पष्ट उल्लेख भी किया है।उदाहरणार्थ- वे कहते हैं —

1- व्यक्ति० 1/1

2- वही, 1/073 .

3- वही 1/3

4- 'अर्वाक्स्फुलितविलसत्पूर्वीभिर्गुणानी
कुर्वे बुद्धिविदां विद्युद्वेगाय।
हासैकतानमनसामथवा बुधानां
तत्त्वावबोधविधिरपिकृतोऽयवा वा।।' -वही, 3/38

'अतएव 'अपेतदूषणप्रयादितयाऽतिमा'यो पूर्वप्रवेश: कृत: 'स स्वमनीषिकया शंकितपरदूषण-प्रपंचो निरवकाश एव।'[1]

आचार्य कुन्तक की वक्रोक्ति का निराकरण करते हुए आपने दो तर्क प्रस्तुत किए हैं। पहला तर्क तो यह है कि वक्रोक्ति औचित्य के सिवा और कुछ है ही नहीं और दूसरा तर्क यह है कि वह ग्रंथांतर से वर्णित ध्वनि का स्वरूप ही है। इनमें से दूसरे तर्क का निराकरण पिछले अध्याय में भलीभांति किया जा चुका है। यहाँ पहले तर्क पर विचार किया जा रहा है।

आचार्य जी का कहना है कि वक्रोक्ति का पर्यवसान केवल शब्द और अर्थ के औचित्य में होता है और इस औचित्य के अभाव में काव्यता सम्भव ही नहीं, क्यों कि काव्य की आत्मा रस है और रस में अनौचित्य का संस्पर्श सम्भव नहीं। अतः काव्य-स्वरूप के निरूपण से ही इसकी सिद्धि हो जाती है। इसका अलग से प्रतिपादन करना व्यर्थ है।[2] अपने इस कथन से आचार्य जी पता नहीं सहृदयों को किसकी 'अनुमिति' कराना चाहते हैं? चूंकि 'काव्य-स्वरूप-निरूपण' के अतिरिक्त उन्होंने 'अनुमिति' का प्रतिपादन किया है अतः निश्चित ही उनकी अनुमिति में अनौचित्य का संस्पर्श विद्यमान है। इसके अतिरिक्त ध्वनिकार के 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' कथन की संकीर्णता को दिखाते समय तो आचार्य जी को गुणीभूत व्यंग्य काव्य का भी अत्यधिक ध्यान रहा है[3] किन्तु कुन्तक की वक्रोक्ति का खण्डन करते समय ध्वनिकार के कथन से भी अधिक संकीर्ण 'काव्य की आत्मा रस है।' अपने इस कथन को प्रस्तुत करते समय सब कुछ भुला देना पड़ा। उस समय आचार्य जी का ध्यान इस ओर नहीं गया कि रसानुमिति के अतिरिक्त भी काव्य में वस्त्वनुमिति और अलंकारानुमिति होती है। काव्य को केवल रसात्मक कह देने पर वे काव्य हो सकेंगे या नहीं? क्या आत्मा का गुणीभाव भी सम्भव है? और, इस ओर ध्यान जाता तो खण्डन ही कैसे करते। अतः सब कुछ भुला देना ही श्रेयस्कर था। इतना ही नहीं, लगता है कि महिमभट्ट ने कुन्तक एवं ध्वनिकार की ख्याति एवं उनके व्यक्तित्व से चिढ़ कर ही अपने ग्रन्थ की रचना की थी। तभी तो उन

1- व्यक्ति० व्याख्यान' पृ० 81

2- द्रष्टव्य, व्यक्ति० पृ० 125-126

3- द्रष्टव्य, वही, पृ० 141-42
एवं 1/96-98

इस समग्र विवेचन का एकमात्र सारांश यही है कि महिमभट्ट का उद्देश्य कुन्तक एवं उनके वक्रोक्तिसिद्धान्त के महत्त्व अथवा तत्त्व का सही परीक्षण करना नहीं था बल्कि था एकमात्र कीचड़ उछालना। इसमें उन्हें कितनी सफलता मिली, इसका पर्याप्त विवेचन इस अध्याय में तथा इसके पिछले अध्याय में किया जा चुका है।

आचार्य मम्मट एवं वक्रोक्ति सिद्धान्त

पिछले अध्याय में प्रतिपादित किया जा चुका है कि कुन्तक के परवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने जानबूझ कर कुन्तक एवं उनके सिद्धान्त की उपेक्षा की है। उन आचार्यों में ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य काव्यप्रकाशकार मम्मट सर्वप्रमुख हैं। शेष इनके परवर्ती ध्वनिवादी तो इनके पिछलग्गू ही ठहरे, उनकी क्या गणना की जाय। यह सिद्ध किया जा चुका है कि मम्मट कुन्तक के ग्रन्थ से भलीभाँति परिचित थे। कुन्तक का इन पर पर्याप्त प्रभाव भी है परन्तु यह इनकी महानता ही कही जा सकती है जो इन्होंने उनका नामोल्लेख तक नहीं किया और न ही उनके सिद्धान्त से अपना प्रतिवाद व्यक्त किया। मम्मट का 'लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म'[1] रूप काव्य कुन्तक के 'वक्रकविव्यापार' रूप काव्य का अनुवाद मात्र है। मम्मट को काव्यप्रयोजनों में 'व्यवहारविदे' के उद्भावन की प्रेरणा निश्चित रूप से कुन्तक से प्राप्त हुई है।[2] यही नहीं, 'काव्यामृतानन्द' को दृढ़तापूर्वक 'सकलप्रयोजनमौलिभूत' कहने वाले आद्य आचार्य कुन्तक ही हैं जिनका कि स्पष्ट रूप से मम्मट ने अनुसरण किया है।[3] और जैसा कि डा० डे ने 'वक्रोक्तिजीवित' की भूमिका में प्रतिपादित किया है, कुन्तक के परवर्ती आचार्यों ने कुन्तक के वक्रोक्तिसिद्धान्त को तो नहीं स्वीकार किया तथापि उनके अलंकार के स्वरूपनिरूपण को निश्चित रूप से मान्यता प्रदान की है। इसका पर्याप्त विवेचन पहले हो चुका है। कुन्तक के अनुसार अलंकार से वैचित्र्य अथवा विच्छित्ति और कविप्रतिभानिर्वर्तित

1- का० प्र० पृ० 6
2- द्रष्टव्य, का०प्र० 1/2 सवृत्तिक, एवं व.जी. 1/4
3- द्रष्टव्य व.जी. 1/5 तथा वृत्ति एवं का०प्र० पृ० 5-6.
4- द्रष्टव्य, Introduction to V.J. Pp. XlVII-lVIII

का होना परमावश्यक है। इन दोनों के अभाव में कोई भी अलंकार अलंकार नहीं हो सकता। कवि का कौशल रस अथवा वस्तुस्वभाव के वर्णन में उतना नहीं अभिव्यक्त होता जितना कि अलंकारों के सम्यक् निरूपण में। क्योंकि बिना कविकौशल के उसमें वैचित्र्य आ ही नहीं सकता। उनका कथन है--

'यद्यपि रसस्वभावालंकाराणां सर्वेषां कविकौशलमेव जीवितम्, तथाऽप्यलंकारस्य विशेषतस्तदनुग्रहं विना वर्णनाविषयवस्तुनो रूपमात्रेणापि येनाभिमतस्य स्वरूपमात्रेण परिस्फुरतो यथार्थत्वेन निबध्यमानस्य तद्विदाह्लादविधायित्वानुपपत्तेर्वर्णनामात्रमपि नवे-चित्र्यमुत्प्रेक्षामहे, प्रत्युत पाठपठितेतरपदार्थसामान्येन प्रतिभासनात्।'[1]

शब्दकोषकी शब्दालंकारता का निरूपण करते हुए मम्मट अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में किसी अलंकार के अलंकारत्व के लिए वैचित्र्य के सद्भाव और कवि प्रतिभासंरम्भगोचरत्व का प्रतिपादन करते हैं ---

'किं वैचित्र्यमलंकारः' इति य एव कविप्रतिभासंरम्भगोचरस्तत्रैव विचित्रता इति सैवालंकारभूमिः।'[2]

इतना ही नहीं अनेकों स्थलों पर उन्होंने अलंकार के अलंकारत्व के लिए वैचित्र्य का होना परमावश्यक बताया है। 'हेतु' की अलंकारता का खण्डन करते हुए वे कहते हैं ---

'हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदतो हेतुः' इति हेतुरलंकारो न लक्षितः। आयुर्घृतमित्यादि-रूपो ह्येष न भूषणतां कदाचिदर्हति वैचित्र्याभावात्।[3]

इसके अतिरिक्त रुद्रट के - 'भण तरुणि ?' आदि यमक में अनुप्रास की विफलता का निरूपण करते हुए वे स्पष्ट रूप से कुन्तक का अनुवाद-मात्र प्रस्तुत करते हैं-'अत्र वाचस्य विचित्रय-मात्रे न किंचिदपि चारुत्वं प्रतीयते इत्यनुप्रासस्य वैफल्यम्।'[4]

1- व.जी. पृ0 146

2- का0प्र0 पृ0 429.

3- वही, पृ0 547.

4- द्रष्टव्य, का0प्र0, पृ0 590 तथा व.जी. पृ0 750

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मम्मट पर कुन्तक का पर्याप्त प्रभाव है। और उसके आधार पर इन्हों ने 'ध्वनिसिद्धान्त' में पर्याप्त परिमार्जन भी करने का प्रयास किया है।ऐसी स्थिति में कुन्तक का अथवा उनकी वक्रताओं का नाम भी न लेना मम्मट जैसे आचार्य के लिए अशोभनीय ही कहा जायगा।अभिनव गुप्त ने तो कुन्तक का नाम न सही, 'अन्यैरपि सुचारुवक्रता' कह कर कम से कम कुन्तक के सिद्धान्त से अपना परिचय तो व्यक्त ही कर दिया था, पर मम्मट ऐसा भी नहीं कर सके।अस्तु, मम्मट ने कुन्तक द्वारा प्रतिपादित वक्रोक्ति सिद्धान्त या वक्रताओं को तो नहीं स्वीकार किया, परन्तु भामह के 'वक्रोक्तिसिद्धान्त' के आगे घुटना अवश्य टेक दिया है क्यों कि यह कार्य इनके आद्याचार्य आनन्दवर्धन भी कर चुके थे, हालांकि जहाँ भामह ने वक्रोक्ति को सम्पूर्ण काव्य के लिए आवश्यक बताया था, वहीं इन आचार्यों ने उसे केवल 'उपमा आदि अलंकारों तक ही सीमित रखा। भामह का अलंकार जिसकी अलंकारता का वक्रोक्ति के अभाव में उन्हों ने निषेध किया था, वह इन आनन्दवर्धन मम्मट आदि आचार्यों की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक था, यह स्पष्ट किया जा चुका है । 'विशेष' अलंकार का निरूपण करने के अनन्तर मम्मट कहते हैं —

'सर्वत्र एवं विधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते, तां विना प्रायेणालंकारत्वायोगात्। अत एवोक्तम् -'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः' इत्यादि।'[1]

इस प्रकार यहाँ इन्हों ने यदि वक्रोक्ति का नामोच्चारण किया भी तो उसे अतिशयोक्ति के पर्याय रूप में। 'वक्रोक्ति अलंकार' के स्वरूपनिरूपण में इन्हों ने पूर्णतया रुद्रट का अनुसरण किया है। और उसको एक 'शब्दालंकारविशेष' के रूप में निरूपित कर कृतकृत्य हो गए हैं।

आचार्य रुय्यक एवं वक्रोक्ति सिद्धान्त

आचार्य रुय्यक ने ध्वनिसिद्धान्त को मान्यता देते हुए भी आचार्य कुन्तक एवं उनके सिद्धान्त से अपना परिचय स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है।उन्हों ने वक्रोक्तिजीवितकार का मत

1- काव्य प्र०, पृ० 572.

प्रस्तुत करते हुए बताया है कि 'वक्रोक्तिजीवितकार ने तो वैदग्ध्यभंगीभणितिरूपनानाविध वक्रोक्ति को ही प्रधानतावश काव्य का जीवित कहा है।और काव्य में व्यापार की प्रधानता प्रतिपादित की गई है।अलंकार कथन-प्रकार के भेदभूत ही है।तीन प्रकार के प्रतीयमान (रस,अलंकार और वस्तु)के विद्यमान रहने पर भी व्यापार रूप उक्ति ही कविसंरम्भ का विषय होती है।[1] यहाँ तक तो रुय्यक द्वारा प्रस्तुत की गई वक्रोक्ति जीवितकार के सिद्धान्त की व्याख्या मान्य एवं समीचीन है।किन्तु इसी के आगे जो उन्होंने यह कहा कि-'वक्रोक्ति जीवितकार ने सम्पूर्ण ध्वनिप्रपंच को उपचार वक्रता आदि के द्वारा स्वीकृत कर लिया है, और उनका दर्शन है कि काव्य का जीवित केवल उक्ति वैचित्र्य होता है व्यंग्यार्थ नहीं।'[2] इसकी भ्रामकता एवं असमीचीनता का पिछले अध्याय में विस्तार के साथ प्रतिपादन किया जा चुका है।अलंकार के लिए विच्छित्ति अथवा वैचित्र्य का होना एवं उसका कविप्रतिभा से उत्थापित होना परमावश्यक है,इस बात का तो उन्होंने अनेकशः प्रतिपादन किया है जो कि स्पष्ट रूप से कुन्तक की मान्यता है। भ्रान्तिमान् अलंकार के विषय में उनका कथन है कि- 'सादृश्यहेतुकाऽपि भ्रान्तिर्विच्छित्यर्थं कविप्रतिभोत्थापितैव गृह्यते' यथोदाहृतम्,न स्वरसोत्थापिता शुक्तिकारजतवत्।'[3] इसी प्रकार आगे भी वे कहते हैं कि कविसमर्पित धर्म ही अलंकार होते हैं अन्य नहीं--'कविसमर्पितानां धर्माणां ह्यलंकारत्वात्।'[4] इसके अतिरिक्त बहुत से उद्धरण [illegible] है ।अतः विश्लेषण की आवश्यकता नहीं।रुय्यक ने अलंकार का यही स्वरूप अपने 'व्यक्तिविवेकव्याख्यान'में भी प्रतिपादित किया है । उनका कहना है-- 'वाक्ये हि वैचित्र्यापरपर्यायं प्रकाशमानमलंकारः।'[5] आगे चल कर महिमभट्ट के अभिमत का प्रतिवाद करते हुए वे कहते हैं--

---

1- 'वक्रोक्तिजीवितकारः पुनर्वैदग्ध्यभंगीभणितिस्वभावां बहुविधां वक्रोक्तिमेव प्राधान्यात् काव्यजीवितमुक्तवान्।व्यापारस्य प्राधान्यं च काव्यस्य प्रतिपेदे।अभिधानप्रकारविशेषा एव चालंकाराः सत्यपि त्रिभेदे प्रतीयमाने व्यापाररूपा भणितिरेव कविसंरम्भगोचरः।' अलं० स० पृ०९-१०

2- 'उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपंचः स्वीकृतः।केवलमुक्तिवैचित्र्यजीवितं काव्यं,न व्यंग्यार्थजीवितमिति तदीयं दर्शनं व्यवस्थितम्।'--अलं०स० पृ०१०

3- वही पृ० ५८

4. वही, पृ० 229

5- व्यक्ति० व्याख्यान,पृ०

'इह वस्तुस्वभाववर्णनमात्रं नालंकारः। तत्त्वे सति सर्वं काव्यमलंकारि स्यात्। नहि तत्काव्यमस्ति यत्र न वस्तु स्वभाववर्णनम्। तदर्थं सूक्ष्मग्रहणम्। सूक्ष्मः कविमात्रवेद्यः अतएव तन्निर्मितोऽयो वस्तुस्वभावस्य यथावदन्यूनानतिरिक्तत्वेन वर्णनं स्वभावोक्तिरलंकारः[1]।'

कहना न होगा कि रुय्यक का यह स्वभावोक्ति अलंकार सिद्ध करने का प्रयास दुराग्रह-मात्र है।

*

साहित्यमीमांसा और वक्रोक्तिसिद्धान्त

आचार्य रुय्यक ने 'अलंकारसर्वस्व' तथा 'व्यक्तिविवेकव्याख्यान' दोनो ही ग्रन्थो मे अपनी 'साहित्यमीमांसा' नामक कृति का उल्लेख किया है[2] किन्तु वर्तमान समय मे उपलब्ध त्रिवेन्द्रम से प्रकाशित के. साम्बशिव शास्त्री द्वारा सन् १९३४ मे सम्पादित 'साहित्य-मीमांसा' जिसका कि यहाँ विवेचन किया जा रहा है वह रुय्यक की ही कृति है, यह कह सकना अत्यन्त कठिन है। 'अलंकार सर्वस्व' व्यंजना वृत्ति को स्वीकार करता है जब कि 'साहित्यमीमांसा' तात्पर्य वृत्ति का पूर्णरूप से प्रतिपादन करती है। अस्तु इस अप्रासंगिक झमेले मे यहाँ पड़ना अपना उद्देश्य नहीं है। 'साहित्यमीमांसा' पर 'वक्रोक्तिजीवित' का प्रभूत प्रभाव है। इस ग्रन्थ का सम्पादन, कहना न होगा, इतने रद्दी ढंग से किया गया है कि ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषयो को सम्यक् रूप से समझ सकना अत्यन्त कठिन है। ग्रन्थकार की विशेषता यह है कि कहता वह प्रायः सब दूसरो की ही बात है परन्तु उस पर अपनी

1- अलं० स०, पृ० 223

2- (क) 'इहाऽपि समासोक्त्यादिविषयेऽपि [illegible] साहित्यमीमांसायां तेषु तेषु प्रदेशेषूदाहृता इह तु ग्रन्थविस्तरभयान्न प्रदर्शिता।' अलं०स० पृ० 77

(ख) 'अस्य च विवेचनमस्माभिः [illegible] साहित्यमीमांसायां च तेषु तेषु स्थानेषु प्रपंचः प्रदर्शित इति ग्रन्थविस्तरभयादिह न प्रदर्शितम्।' - व्यक्ति० व्याख्यान, पृ० 243

विविध मान्यताओं की अद्भुत छाप डाल देता है। शब्दार्थ-सम्बन्ध-रूप साहित्य को जहाँ भोजराज ने तृचावस्था माना था वहाँ यह उसे केवल आस्था ही मानता है। शेष चार दोषहान, गुणोपादान, अलंकार-योग और रसावियोग सम्बन्धों को यह साहित्य का परिष्कार-रूप मानता है। --

'दोषत्यागो गुणाधानमलंकारो रसान्वयः।
इत्येषं चतुर्धा बुधा साहित्यस्य परिष्कृतिः।।'[1]

यह अपनी इसी अपूर्व मान्यता के बल पर भोजराज के अभिमत को अनुचित ठहरा देता है। तदनन्तर कुन्तक के शब्दार्थसाहित्यविवेचन (व.जी. का0 1/16-17 तथा श्लोक 1/34-40) को यथावत रूप में उद्धृत कर कहता है कि -

'इत्यन्यतमभिप्रायो मतमस्माकमस्तु ते।
अभेदः व्याप्यते तत्र किन्तु साहित्यशब्दयोः।।'[2]

यद्यपि उद्धरण देते समय (व.जी. श्लोक 1/37-40) को यह गलत ढंग से उद्धृत करता है। क्यों कि ये अन्तरश्लोक साहित्य के स्वरूप का निरूपण नहीं करते, बल्कि वक्रताओं की अवतरणिका के रूप में आये है। इसप्रकार कुन्तक के भी काव्यलक्षण को स्वीकार कर लेता है। और कुन्तक ने काव्य में जिस शब्द-स्वरूप को प्रतिपादित किया है उसे पूर्णतया उसी ढंग से अपने ग्रन्थ में उद्धृत करता है।[3] इसी प्रकार आगे चलकर यह काव्य के केवल दस गुण मानता है, शेष भोजराजादि द्वारा स्वीकार कर प्रौढि आदि गुणों का वक्रोक्ति आदि में अन्तर्भाव कर देता है ----

'प्रौढिप्रेयोविस्तारादृयान् यान् वदन्त्यपरे गुणान्।
वक्रोक्त्यादिषु सर्वेषामन्तर्भावः प्रतीयते।।'[4]

1- सा0 मी0, पृ0 2
2- वही, पृ0 15
3- द्रष्टव्य वही, पृ0 15-16
4- वही, पृ0 31.

वह 'ऋजूति' को भी अलंकार मानने के पक्ष में है। लेकिन जिन्हों ने स्वभावोक्ति-समेत समस्त अर्थालंकारों को वक्रोक्ति कह रखा है उनसे उसका कोई विरोध नहीं है।[1] ग्रन्थकार के अनुसार सूक्तियों के वैचित्र्य से रस अतिशायनशाली हो जाते हैं। और ये सूक्तियाँ ऋजूक्ति तथा वक्रोक्ति भेद से दो प्रकार की होती हैं। इनकी ऋजूक्ति ही भोजराज आदि की जाति है। अर्थव्यक्ति से उसका भेद दिखाते हुए ये भोजराज को उद्धृत भी करते हैं[2]। वक्रोक्ति को वे ऋजूक्ति का विपर्यय मानते हैं। उसके विषय में वे कहते हैं —

'प्रसिद्धा तत्र वक्रोक्तिः स्यादृजुविपर्ययात् (?)।
अनयैव हि काव्यानि भिद्यन्ते काव्यवर्त्मनः (?)॥
स्वभावोक्तिरपि प्रायः स्यात् समाधिमती यदि।
वक्रामाहुरिमां केचिद् रसस्यैवामृतायनम्[3] ।।

इसके बाद ग्रन्थकार कुन्तक की स्वभावोक्ति खण्डन-परक-कारिकाओं (व.जी. 1/11-15) को उद्धृत करता है किन्तु उसके विषय में बिना अपनी कोई राय कायम किए ही वह बीस प्रकार की वक्र उक्तियों का निरूपण करने लगता है। इससे कुन्तक के अभिमत की स्वीकृति ही व्यक्त होती है। उनकी बीस वक्रोक्तियाँ हैं— (1) अतिशयोक्ति (2) मीलितोक्ति (3) अंकावगर्भितोक्ति (4) सूक्ष्मोक्ति (5) समाविकोक्ति (6) समासोक्ति (7) समाधिगर्भोक्ति (8) साक्षेपोक्ति (9) अप्रस्तुतप्रशंसोक्ति (10) सहोक्ति (11) लेशोक्ति (12) अर्थान्तरोक्ति (13) गुर्वी-उक्ति (14) लघ्वी-उक्ति (15) समोक्ति (16) घटितोक्ति (17) शृंखलोक्ति (18) सूच्योक्ति (19) छायोक्ति तथा (20) संवृति-उक्ति।[4]
इनमें से तो अनेक वक्रोक्तियाँ अन्य आचार्यों द्वारा स्वीकृत अलंकारों के 'उक्ति' शब्द जोड़ कर बनाए गए नामान्तरमात्र हैं। जैसे मीलित, सूक्ष्म, भाविक, आक्षेप, अप्रस्तुतप्रशंसा, लेश, अर्थान्तरन्यास, सम आदि में केवल 'उक्ति' जोड़ कर उन्हें 'वक्रोक्ति-प्रकार' बता दिया गया है। किन्तु ग्रन्थकार महोदय ने जो 'सूच्योक्ति' आदि कुछ नई उक्तियों का निर्माण किया, वह निरुद्देश्य नहीं। उसका परम उद्देश्य था अपने उपजीव्य आचार्य कुन्तक के विवेचन में खामी दिखाना। जो

1- द्रष्टव्य, सा0मी0पृ052-53
2- द्रष्टव्य, वही, पृ099
3- वही, पृ099
4- द्रष्टव्य, वही, पृ0 100

उक्त स्थल पर अन्य आचार्यों ने सूक्ष्म अलंकार मानही रखा है। और स्वयं आचार्य जी की पूर्वोक्ति भी यही होगी। अतः वाक्यवक्रता में इसके अन्तर्भाव में कोई कठिनाई नहीं है, यद्यपि कि भामह कुन्तक आदि के अनुसार तो यहां वक्रोक्ति होगी ही नहीं।

आगे चल कर ग्रन्थकार ने कवियों के चार प्रकार निरूपित किए है—(1) सत्कवि (2) विदग्ध (3) अरोचकी (4) सतृणाभ्यवहारक। इनमे विदग्ध कवि 'वक्रोक्तिप्रधान होता है-

'यो वक्रोक्तिप्रधानः स्यात् स विदग्ध इतीष्यते।'[1]

और इस कोटि के कवियों में उसने व्यास तथा बाणभट्ट आदि का नामोल्लेख किया है। यही नहीं, रसवदलंकार का खण्डन करते हुए भी वह रस की सर्वथा अलंकार्यता का ही प्रतिपादन करता है। उसके मत से वह किसी भी तरह अलंकार हो ही नहीं सकता।[2] स्पष्टतया यह कुन्तक का प्रभाव है। उक्त बीस वक्रोक्तियों में आए हुए अलंकारों के अतिरिक्त ग्रन्थकार ने केवल उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, विभावना, अपह्नुति, भ्रम, साम्य, संशय और संकर अलंकार निरूपित किए है। शेष 'स्मृति' आदि अलंकारों की अलंकारता का उसने ने निराकरण इसी आधार पर किया है कि उसमें किसी अतिशय को या वैचित्र्य को प्रस्तुत करने की क्षमता नहीं होती--

'स्मृत्यादेर्नालंकारता, अतिशयाधानहेतुत्वाभावादिति।'[3]

कवियों को नागरिक जनों को किस प्रकार अपने काव्य में प्रस्तुत करना चाहिए, इसके विषय में ग्रन्थकार निर्देश करता है कि उनके वाक्य वक्रोक्ति से रमणीय होने चाहिए—

'वक्रोक्तिसुन्दरं वाक्यं चमत्कारि च चेष्टितम्।
नागरकार्यमिदं सर्वं भवेन्नागरिके जने ।।'[4]

इस प्रकार 'साहित्यमीमांसाकार की दृष्टि से काव्य में वक्रोक्ति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। फिर इसमें से तो काव्य स्वरूप ही यथावत् कुन्तक का काव्यस्वरूप मान रखा है जिसमें शब्द अर्थसाहित्य आधार से पुष्पित होना चाहिए। 'वक्रोक्ति' ही तो कवि की उक्ति को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करती है—

1- सा०मी०, पृ०120
2- प्रकरण, वही, पृ० 53
3- वही, 52
4- वही, पृ०143

'गुणालंकारवर्गस्य तद्वत् काव्यावलम्बिनः ।
वक्रोक्तिविनिवेशेन कविज्ञायेत रम्यता।
उक्तं हि--- उपर्युपरि काव्युक्तिः कवेः स्फुरति यद्वशात्।
भूषाः प्रयान्ति नवतां लताइव मधुश्रिया ।।.'

आचार्य हेमचन्द्र और वक्रोक्तिसिद्धान्त

आचार्य हेमचन्द्र भी ध्वनिवादी आचार्य है ।इनके ग्रन्थ में ध्वनि आदि का विवेचन पूर्णतया आनन्दवर्धन एवं मम्मट पर आधारित है ।[1] ध्वनियों के वर्गीकरण में इनकी मौलिकता अवश्य है।ये आचार्य कुन्तक के ग्रन्थ से पूर्णतया परिचित थे। 'वक्रोक्तिजीवित' की विभिन्न कारिकाओंको इन्हो ने अपनी 'विवेक'व्याख्या में उद्धृत किया है।वैसे कुन्तक के 'वक्रोक्तिसिद्धान्त'का इन्होने,अन्य ध्वनिवादियों की भांति कोई उल्लेख नहीं किया। परन्तु अलंकारों के स्वरूप-निरूपण में ये पूर्णतया कुन्तक से प्रभावित हुए है।कुन्तक के अलंकारों का विवेचन करते समय स्थल स्थल पर इस बात का निर्देश किया जा चुका है। फिर भी कुछ मुख्य मुख्य बातों का निर्देश यहाँ किया जायगा।वैसे मम्मट को ही भांति इन्हो ने भी कुन्तक के वक्रकविव्यापार के पर्यायरूप में ही 'लोकोत्तर कविकर्म'को 'काव्य' कहा है -'लोकोत्तरं कविकर्म काव्यम्'[2] ।इन्हो ने आनन्द को समस्त प्रयोजनों का उपनिषद् भूत स्वीकार किया है।[3] 'वक्रोक्ति'को इन्हो ने रुद्रट आदि की भांति एक शब्दालंकारविशेष के रूप में ही प्रस्तुत किया है।परन्तु जहाँ रुद्रट, मम्मट आदि ने श्लेषवक्रोक्ति के साथ काकु-वक्रोक्ति को भी उसका एक भेद स्वीकार किया था, वहाँ इन्हो ने राजशेखर का अनुसरण करते हुए 'काकुवक्रोक्ति'के अलंकारत्व का निषेध किया है, और ध्वनिकार का उद्धरण प्रस्तुत करते हुए इसे गुणीभूत व्यंग्य काव्य का एक प्रभेद स्वीकार किया है।[4] हाँ, जहाँ मम्मट

1- व्या०जी०, पृ० 142
2- हेम०काव्यानुशासन, पृ०3
3- द्रष्टव्य,वहीं पृ०3
4- द्रष्टव्य, हेम०काव्यानुशासन, पृ०333

(2)अथवा उसका किसी स्वीकृत अलंकार में अन्तर्भाव हो जाता है।

(3)या कि उसमें अलंकार कहलाने की क्षमता ही नहीं होती अर्थात् वह न सहृदया-ह्लादकारी होता है और न उसमें किसी प्रकार का वैचित्र्य ही होता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने विभिन्न अलंकारों की अलंकारता का निरूपण करते हुए कुन्तक के इन्हीं तीन तर्कों को पूर्णरूपेण स्वीकार कर लिया है। भोजराज द्वारा प्रतिपादित जाति, गति आदि शब्दालंकारों एवं सम्भव प्रत्यक्ष आदि अर्थालंकारों की अलंकारता का खण्डन करते हुए वे अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहते हैं —

'×-× ये भोजराजेन प्रतिपादिताः ते केचिदुक्तेष्वन्तर्भवन्ति, केचिच्च मनागपि चमत्कारं नावहन्ति, केचिच्च काव्यशरीरस्वभावा एवेति न सूचिताः।'[1]

इस प्रकार कुन्तक के 'वक्रोक्तिसिद्धान्त' को मान्यता न देते हुए भी अलंकारों के वर्णन में हेमचन्द्र ने कुन्तक के अलंकारसिद्धान्त को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। जहाँ इन दोनों आचार्यों का परस्पर विरोध रहा है, उसका निरूपण एवं उसकी समीचीनता अथवा असमीचीनता का विवेचन पहले किया जा चुका है। वैसे यहाँ एक रोचक बात यह अवधेय है कि कुन्तक द्वारा उद्धृत 'तैस्तैः कपोल०' आदि श्लोक में जहाँ सहृदयधुरीणम्मन्य आचार्य महिमभट्ट ने अपनी 'क्रमेलकप्रवृत्ति' वश केवल दोष ही दोष का निरूपण किया था, वहीं आचार्य हेमचन्द्र ने उनके व्याख्यान को किंचिन्मात्र भी महत्त्व न प्रदान करते हुए आचार्य कुन्तक की व्याख्या को लगभग यथावत् रूप में उद्धृत किया है, जो स्पष्ट रूप से महिमभट्ट की सहृदयता को चुनौती देता हुआ कुन्तक की सहृदयता का समर्थन करता है।[2]

*

आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि और वक्रोक्ति-सिद्धान्त

सूरिजी का अलंकार शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ 'अलंकारमहोदधि' है। इन्होंने अपने ग्रन्थ में प्रायः सभी अलंकारशास्त्रीय सिद्धान्तों का समन्वय प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। वे स्वयं भी कहते हैं—

1- विवेक, पृ0 405

2- द्रष्टव्य, वही, पृ0 173 (काव्यमाला)

3- अलंकारमहोदधि, [illegible]

स्वाभिहितमायत्तम्।[1] ' इस प्रकार जयरथ ने अलंकारों के स्वरूप-निरूपण में आचार्य कुन्तक की मान्यताओं को ही महत्त्व प्रदान किया है। यही कारण है कि अलंकारता की इस कसौटी पर जहाँ रुय्यक के अलंकार अथवा अलंकारप्रकार खरे नहीं उतरे वहाँ उन्हों ने उनके साथ अपनी असहमति व्यक्त करते हुए उनका पूर्वाचार्यमतानुयायित्व प्रतिपादित किया है।

विश्वनाथ एवं वक्रोक्तिसिद्धान्त

आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में एक स्थान पर वक्रोक्ति-जीवितकार का स्मरण किया है—

'एतेन वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' इति वक्रोक्तिजीवितकारोक्तमपि परास्तम्। वक्रोक्ते रलंकाररूपत्वात्[2]

लेकिन उनका यह कथन कुन्तक के 'वक्रोक्तिजीवित' और वक्रोक्तिस्वरूप से उनकी सर्वथा अनभिज्ञता का ही किस प्रकार परिचायक है इसे भली भाँति 'वक्रोक्ति' तथा रस-सिद्धान्त' का विवेचन करते हुए प्रतिपादित किया जा चुका है। अतः विश्वनाथ पर कुन्तक अथवा उनके वक्रोक्ति-सिद्धान्त का साक्षात् प्रभाव तो देखना समीचीन ही नहीं है। परम्परया इन्हों ने भी अलंकारों के स्वरूप के विषय में कुन्तक के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। इनके अनुसार भी अलंकारों में वैचित्र्य, चमत्कार अथवा विच्छित्ति का होना साथ ही उनका कवि-प्रतिभा-प्रसूत होना आवश्यक है। श्लेष की शब्दालंकारता का निरूपण करते हुए ये कहते हैं—

'विसदृशशब्दद्वयस्य बन्धे चैवंविधस्य वैचित्र्यस्याभावात्, वैचित्र्यस्यैव चालंकारत्वात्।'[3]

अनुप्रास में स्वरमात्र का सादृश्य अलंकार नहीं होता क्योंकि उसमें वैचित्र्य नहीं होता—

'स्वरमात्र सादृश्यं तु वैचित्र्याभावान्न गणितम्।'[4]

विनोक्ति अलंकार के प्रसंग में चमत्कार का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—'अत्र परस्पर विनोक्तिभंग्या चमत्कारातिशयः।'[5] सन्देह और भ्रान्तिमान् तभी अलंकार हो सकते हैं जब वे कवि प्रतिभा से उत्थापित होंगे। वे 'अनुकूल' अलंकार को पृथक् अलंकार इसलिए मानते हैं कि उसमें विशेष विच्छित्ति होती है—

1- व०जी० 1/42 विमर्शिनी पृ० 187-88
2- सा०द०, पृ० 16
3- वही, पृ० 286
4- वही, पृ० 275
5- वही, पृ० 336

यह 'भंगीभणिति' स्पष्ट ही कुन्तक की वक्रोक्ति की पर्यायरूपा है।कविप्रतिभा को भी उन्होंने पर्याप्त महत्त्व प्रदान किया है— भ्रान्तिमान् का लक्षण प्रस्तुत करने के बाद उसकी वृत्ति में वे कहते हैं -'विच्छित्तिश्चात्र मनोहरत्वेनारोप्यमाणानुभवस्य स्वारसिकं कविप्रतिभयाकल्पनं विवक्षितम्।'[1] इससे अधिक वक्रोक्तिसिद्धान्त से सम्बन्धित कोई अन्य विवेचन नहीं उपलब्ध होता।

पण्डितराज और वक्रोक्तिसिद्धान्त

पण्डितराज का अलंकारग्रन्थ 'रसगंगाधर' अपूर्ण ही उपलब्ध होता है। उसमें स्पष्ट रूप से पण्डितराज द्वारा वक्रोक्ति का कोई भी उल्लेख नहीं किया गया।वह न अलंकारसामान्य के रूप में ही प्रतिपादित की गई है और न अलंकारविशेष के ही रूप में। पण्डितराज को कुन्तक के ग्रन्थ का ज्ञान था यह भी निश्चित नहीं कहा जा सकता।हाँ परवर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत कुन्तक के अलंकारसिद्धान्त को पण्डितराज ने भी स्पष्ट मान्यता दी है।इन्हों ने काव्य-का चमत्कारिता को काव्य का जीवितभूत स्वीकार किया है—
'काव्यजीवितं चमत्कारित्वं च अविशिष्टमेव।'[2] इन्हों ने 'रसवत्' आदि का विवेचन इसीलिए नहीं किया कि उसमें चमत्कार नहीं होता--'रसस्य तु व्याधिमूलकत्वात् प्रधानत्वे-स्वभावत्वे, अन्यथा वा न चमत्कारः इति च न विचारितः।'[3] अलंकारों के लिए इन्होंने भी कविप्रतिभाप्रसूत होना तथा चमत्कार अथवा विच्छित्ति या वैचित्र्य से युक्त होना आवश्यक स्वीकार किया है।उपमा का सादृश्य सुन्दर होना चाहिए। सौन्दर्य का अर्थ है चमत्कार-जनक होना और चमत्कार कहते हैं सहृदयहृदयसंवेद्य आनन्द विशेष को।—'सौन्दर्यं च चमत्कृत्याधायकत्वम्।'[4] 'चमत्कृतिरानन्दविशेषः सहृदयहृदयप्रमाणकः।' उपमा आदि समस्त अलंकारों की अलंकारता का हेतु चमत्कार ही होता है—'चमत्कारनिबन्धनो ह्यलंकारभाव उपमादीनाम्।'[5] हृद्यता समस्त अलंकारों का सामान्य लक्षण है।[6] अपह्नुति अलंकार के अनेक भेदों को वे अस्वीकार इसलिए कर देते हैं कि उनमें वैचित्र्य विशेषाभावादनतिरमणीयत्वात्। 'अलंकारों के विभाजन का हेतु विच्छित्ति की विलक्षणता ही होती है—'विच्छित्तिविशेषस्यैवालंकारविभाग-

---

1- चित्रमीमांसा, पृ०64
2- रसगंगाधर पृ०
3- वही पृ०
4- वही पृ०
5- वही पृ०
6- हृद्यत्वं चालंकारसामान्यलक्षणमतो सकलालंकारसाधारणमेवैतल्लक्षणम्। वही० पृ०

वाग्भट ने कुन्तक का अनुसरण करते हुए 'सहृदय हृदय में चमत्कार को उत्पन्न करने वाले कवि के कर्म को काव्य कहा है।[1] उपमा में सादृश्य का सहृदयहृदयहारी होना आवश्यक स्वीकार किया है।[2] किन्तु रुद्रटादि का अनुसरण करते हुए उन्होंने भी काकु तथा श्लेष भेद से वक्रोक्ति को एक अलंकार-विशेष के रूप में ही प्रस्तुत किया है।[3] केशव मिश्र ने अलंकार का सामान्य लक्षण चमत्कारविशेष को उत्पन्न करना स्वीकार किया है- 'तत्र चमत्कारविशेष कारित्वमलंकारसामान्यलक्षणम्।'[4] इन्होंने श्लेष आदि का नाम तो नहीं लिया किन्तु 'अन्य अभिप्राय से कहे गए वाक्य की दूसरे के द्वारा अन्यार्थक योजना करने पर ही वक्रोक्ति अलंकार स्वीकार किया है।[5] सर्वेश्वराचार्य ने भी कहे गये वाक्यार्थ की दूसरे प्रकार की स्वीकृति को वक्रोक्ति अलंकार माना है।[6]

इस प्रकार कुन्तक के परवर्ती आचार्यों द्वारा उनके वक्रोक्ति सिद्धान्त को पूर्ण सम्मान नहीं प्राप्त हो सका। केवल अलंकार के विषय में उनकी मूलभूत मान्यताएं स्वीकार की गयीं। कुछ गिने चुने आचार्यों ने ही काव्य के अन्य तत्त्वों के विवेचन में भी उनके सिद्धान्त को स्वीकार किया। उनका प्रतिपादन ऊपर किया जा चुका है।

उक्त आचार्यों के अतिरिक्त कुछ कवि भी ऐसे भी हैं जिन्होंने काव्य में वक्रोक्ति की महत्ता का प्रतिपादन किया है अतः संक्षेप में उनका उल्लेख कर देना भी अनुचित न होगा। कवि राजशेखर और मनोरथ के विषय में तो उल्लेख पहले किया ही जा चुका है। इनके अतिरिक्त कविराज ने अपने को समर्थ वक्रोक्तिमार्गनिपुण कहने का दावा किया है—

'सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः।
वक्रोक्तिमार्गनिपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा॥'[7]

डॉ० डे ने इस बात का निश्चय करने में असमर्थता व्यक्त की है कि कविराज ने यहाँ वक्रोक्ति का किस अर्थ में प्रयोग किया है।[8] इतना तो सुनिश्चित ही है कि

1- [illegible]चमत्कारि कवेः कर्म काव्यम्। —काव्यानुशासन वृत्ति, पृ०2
2- चमत्कारि सादृश्यमुपमा। चमत्कारित्वं सहृदयहृदयहारित्वम्। वही, पृ०33
3- द्रष्टव्य, वही पृ० 48
4- अलंकार शेखर, पृ०29
5- द्रष्टव्य, वही, पृ० 27
6- वक्रोक्तिरुक्तवाक्यार्थस्वीकारो व्याजतः स्मृतः। —साहित्यसार, पृ० 27, का० 131.
7- राघवपाण्डवीय, 1/41
8- द्रष्टव्य, Introduction to V.J., p. XVI, fn. 16.

इन्होंने रुद्रट की काकु अथवा श्लेषवक्रोक्ति में अपने को निपुण नहीं बताया। वस्तुतः कविराज (कुन्तक) के परवर्ती कवि हैं। अतः ये कुन्तक के ग्रन्थ से पूर्णतया परिचित हैं। वक्रोक्ति-मार्ग से इनका आशय विचित्रमार्ग से है। इसमें किसी को भी संशय करने की आवश्यकता नहीं क्यों कि स्वयं कुन्तक ने विचित्रमार्ग के लिए कहा है कि —

'विचित्रो यत्र वक्रोक्तिवैचित्र्यं जीवितायते।'[1]

साथ ही इस मार्ग के कवियों में बाणभट्ट का सुस्पष्ट समुल्लेख भी किया है — 'तथैव च विचित्रवक्रत्वविजृम्भितं हर्षचरिते प्राचुर्येण भट्टबाणस्य विभाव्यते।' हाँ, रुद्रट की वक्रोक्ति को आधार बनाकर कवि रत्नाकर ने अपनी 'वक्रोक्तिपंचाशिका' की सृष्टि अवश्य की है। जहाँ स्पष्ट ही उनके सभी श्लोक रुद्रट की श्लेषवक्रोक्ति को प्रस्तुत करते हैं। 'प्रसन्नराघव' के रचयिता जयदेव ने तो कवियों की वक्रवाणी की प्रशंसा न करने वालों को मन्दमति तक कह डाला है- —

निन्दूयन्ते यदि नाम मन्दमतिभिर्वक्राः कवीनां गिरः
स्तूयन्ते न च मत्सरैर्गुणवतां वक्राः कटाक्षच्छटाः।
तद्वैदग्ध्यवतां सतामपि मनः किं नेहते वक्रतां,
धत्ते किं न हरः किरीट शिखरे वक्रां कलामैन्दवीम्॥[2]

बिल्हण ने ध्वनि और वक्रोक्ति दोनों का समन्वय करते हुए उन्हीं के मर्मज्ञों को अपने प्रबन्धों की अवधारणा का अधिकारी बताया है —

'रसध्वनेरध्वनि ये चरन्ति संक्रान्तवक्रोक्तिरहस्यमुद्राः।
तेऽस्य प्रबन्धानवधारयन्तु, कुर्वन्तु शेषाः शुकवाक्यपाठम्॥'[3]

उपसंहार

इस प्रकार समग्र प्रबन्ध के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वक्रोक्ति-सिद्धान्त की सम्यक् व्यवस्था एवं उसका स्वरूप-निरूपण आचार्य कुन्तक द्वारा

1- व.जी. 1/42
2- प्रसन्नराघव 1/20
3- विक्रमांकदेव चरित 1/22

किया गया है । यह निश्चय ही अलंकारशास्त्र के अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा व्यापक और काव्य के समग्र तत्वों की समुचित व्याख्या प्रस्तुत करने वाला है। जैसा कि प्रतिपादित किया गया है कुन्तक के इस वक्रोक्ति सिद्धान्त का बीजारोपण आचार्य भामह द्वारा किया गया था। उसके बाद वक्रोक्ति के स्वरूप में आचार्य कुन्तक के काल तक पर्याप्त हेर फेर होता रहा। कुन्तक ने उसी प्राचीन सिद्धान्त को अपनाकर एवं अपने समय तक के सभी काव्यसिद्धान्तों का सम्यक् परीक्षण कर उसे एक सम्पूर्ण एवं व्यापक स्वरूप प्रदान करने का प्रयास किया। इस प्रयास में उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली। किन्तु 'ध्वनिसम्प्रदाय' उस समय इतना शक्तिशाली था कि उसके आगे पद — जम न सका। इनके परवर्ती आचार्यों द्वारा इनके वक्रोक्तिसिद्धान्त को समर्थन न प्राप्त हो सका। साथ ही कुछ आचार्यों ने बड़े ही उथलेपन के साथ बिना इनके सिद्धान्त को भलीभांति गम्भीरतापूर्वक समझे हुए, इनके तथा इनके सिद्धान्त के विषय में ऐसी मान्यताएं स्थापित कर दी जो कि इनके सिद्धान्त के लिए सर्वथा घातक सिद्ध हुई। कुन्तक के परवर्ती ग्रन्थकारों ने अधिकतर मान्यता इनके अलंकारस्वरूप-निरूपण से सम्बन्धित सिद्धान्त को दिया। और इसीलिए कुन्तक का वक्रोक्तिसिद्धान्त एक व्यापक काव्य-सिद्धान्त न बन कर संकीर्ण अलंकारसिद्धान्त तक ही सीमित रह गया। वस्तुतः सहृदय समालोचकों के द्वारा निष्पक्ष हो कर और किसी पूर्वाग्रह से ग्रसित न हो कर कुन्तक के वक्रोक्तिसिद्धान्त के परीक्षण की आवश्यकता है । प्रस्तुत शोधप्रबन्ध इसी दिशा में एक स्वल्प प्रयास है ।

परिशिष्ट

प्रस्तुत प्रबन्ध में उद्धृत ग्रन्थों की अनुक्रमणिका

संस्कृत - ग्रन्थ

(1) अभिज्ञानशाकुन्तल, कालिदास (अभि०शा०) हरिदास संस्कृत सीरीज़ वाराणसी 41, 1953

(2) अभिनवभारती, अभिनव गुप्त (ना०शा०व्याख्या) भाग 1 (1926) भाग 2 (1934) गायकवाड ओरियण्टल सीरीज़ (अ०भा०)

(3) अमरकोश, अमर सिंह

(4) अर्थशास्त्र, कौटिल्य, वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1962.

(5) अलंकारकौस्तुभ, विश्वेश्वर पण्डित, काव्यमाला 66, बम्बई 1898 सम्पादक म.म. पं० शिवदत्त

(6) अलंकार महोदधि, नरेन्द्रप्रभसूरि, गायकवाड ओरियण्टल सीरीज़ बरोदा, 1942

(7) अलंकार शेखर, केशव मिश्र, प्रकाशक पाण्डुरंग जावजी, काव्यमाला 50, निर्णयसागर प्रेस, 1926

(8) अलंकारसंग्रह, अमृतानन्दयोगी, दि अडयार लाइब्रेरी सीरीज़ नं० 70, 1949

(9) अलंकारसर्वस्व, रुय्यक, निर्णयसागर प्रेस, 1939 (अलं०स०)

(10) अविमारक, भास, सम्पादक टी. गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़ 20, 1912

(11) अष्टाध्यायी, पाणिनि

(12) उज्ज्वलनीलमणि, श्री रूपगोस्वामी, काव्यमाला 95, 1913

(13) उत्तररामचरित, भवभूति, सम्पादक जी. के. भट्, दि पापुलर बुक स्टोर, टावरोड, सूरत, 1953

(14) एकावली, विद्याधर, सम्पादक कमलाशंकर त्रिवेदी, बाम्बे संस्कृत सीरीज़ नं० 63, 1903

(15) औचित्यविचारचर्चा, क्षेमेन्द्र, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1964 (औ. वि. च.)

(16) कर्पूरमंजरी, राजशेखर, सम्पादक म. म. पं० दुर्गाप्रसाद काव्यमाला 4, निर्णयसागर प्रेस बाम्बे 1900

(17) कामधेनु, गोपेन्द्र त्रिपुरहर (का०सू०वृ०व्याख्या) बनारस संस्कृतसीरीज़, 1908

(18) काव्यप्रकाश, मम्मट, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि, 66, 1929

(19) काव्यप्रकाश प्रदीप, गोविन्द ठक्कुर (का०प्र०व्याख्या) आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि, 66, 1929

(20) काव्यमीमांसा, राजशेखर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, सं० 1991 (का०मी०)

(21) काव्यदर्पण, राजचूडामणि दीक्षित

(22) काव्यादर्श, दण्डी, [illegible], [illegible] 1958

(23) काव्यलक्षण, दण्डी, सम्पादक प्रो० अनन्तलाल ठाकुर, मिथिला विद्यापीठ ग्रन्थमाला, दरभंगा 19[illegible]

(24) काव्यादर्श टीका, [illegible], [illegible] 1958 ([illegible])

(76) विमर्शिनी, जयरथ (अलं०स०व्याख्या) निर्णयसागर प्रेस, 1939

(77) वृत्तिवार्तिक, अप्पयदीक्षित, काव्यमाला 36

(78) वैयाकरणभूषणसार, म. म. कौण्डभट्ट, श्री पं०वासुदेव शर्मा त्रिपाठी द्वारा सम्पादित [illegible] 1942 मार्च मु०।०अमर यंत्रालय, काशी

(79) व्यक्तिविवेक, महिमभट्ट, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, 1936 (व्याक्ति०)

(80) व्यक्तिविवेक व्याख्यान, रुय्यक, काशी संस्कृतसीरीज़, 121, 1936

(81) शब्दकल्पद्रुम, महाराजा राधाकान्तदेव बहादुर, गवर्नमेन्ट आफ इण्डिया मोतीलाल बनारसीदास

(82) शब्दशक्तिप्रकाशिका, म. म. जगदीश तर्कालंकार, प्रकाशक कृष्णदेव शर्मा, बनारस, ताराप्रिंटिंगवर्क्स, 1907

(83) शिशुपालवध, माघ, पं०दुर्गाप्रसाद द्वारा संशोधित, निर्णयसागर प्रेस, बाम्बे, 1888

(84) शृंगारप्रकाश, भोजदेव, सम्पादक जी. आर. जोसीयर, मैसूर 1955-56

(85) श्लोकवार्तिक (डा० काणे द्वारा H.S.P. में उद्धृत)

(86) समुद्रबन्ध, (अलं०स०व्याख्या) त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज 1915 टी गणपति शास्त्री

(87) सम्प्रदायप्रकाशिनी, श्री विद्याचक्रवर्ती (का०प्र०व्याख्या) सम्पादक के साम्बशिव शास्त्री, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज, 94, 1934 (सं०प्र०)

(88) सहृदयलीला, रुय्यक, काव्यमाला-5, 1908 पृ०(157-60)

(89) साहित्यकौमुदी, विद्याभूषण, काव्यमाला, 63, 1897 (सा०को०) सम्पादक म. म. पं०शिवदत्त शर्मा

(90) साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, शालग्रामशास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस 1961

(91) साहित्यमीमांसा, सम्पादक के साम्बशिव शास्त्री, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज नं० 114, 1934

(92) साहित्यसार, श्री अच्युतराय, सम्पादक वासुदेव शर्मा, निर्णयसागर प्रेस 1906

(93) साहित्यसार, सर्वेश्वराचार्य, यूनीवर्सिटी मेनस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी त्रिवेन्द्रम, 1947

(94) हर्षचरित, बाणभट्ट, बाम्बे संस्कृत सीरीज, 1909

हिन्दी - पुस्तकें

(95) ध्वनिसम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, (भाग 1) डा० भोलाशंकर व्यास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सं० 2013

(96) भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, भाग 2, डा० नगेन्द्र, ओरियन्टल बुक डिपाट, दिल्ली, 1955

(97) भारतीय साहित्यशास्त्र, डा० गणेश त्र्यम्बक देशपाण्डे, पापुलर बुक डिपो, बम्बई 1960 (भा०सा०शा०)

(98) भारतीय साहित्यशास्त्र, पं० बलदेव उपाध्याय,

(99) हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, सम्पादक डा० नगेन्द्र, आत्माराम एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली, 1955 (हि०व०जी०)